ग्रन्थावली

॥ प्रसाद वाङ्मय खण्ड-१ ॥

जयशंकर प्रसाद

का

सम्पूर्ण काव्य साहित्य

लोकभारती

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद—१ द्वारा प्रकाशित

●

●

प्रथम संस्करण : १९७१

●

वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर, वाराणसी
द्वारा मुद्रित

मूल्य : ६०,००

॥ श्री ॥

यस्यालोकपदेऽशेषमेयान्मानाञ्च शान्तायते
माता सा जयते प्रमातृ जननी वैश्वी च विश्वोत्तरा
शान्तात्कान्तमुदीयमान लहरी निर्व्याजलीलावती
श्रृङ्गारोज्ज्वलचन्द्रकान्तवपुषी त्रैलोक्यदीपङ्करी
पश्यन्तीमरुणत्परापरजगत्सादाख्यभुक्ता च भू
ज्ञानाभिन्न कलाकलङ्करहिता सा एव हित्योमय:
सम्पृक्तंक्षपितान्तरावसुमती पीयूषपर्जन्यत.
कल्याणी करुणामयी प्रबोधनकरीमाम्नातमार्षोवच.
विच्छित्ति विहरन्ति मर्मपटले उत्क्रान्तभावेक्षिणी
ऋक्थीभूत प्रसादवाङ्मयनिधि संरक्ष्यमाण: सदा

यद्गिरजपदाब्जामृतरसाराधितोऽहम्,
तद्भवति ! कृपामूर्त्तेर्ग्रन्थमुत्सङ्गितोऽयम्

विनयावतेन सम्पादकेन

प्राक्कथन

पूज्य पिताजी की पंक्तियों की अविकल प्रस्तुति का यह प्रयास अपनी अल्प क्षमता से मैने किया है। यद्यपि उपलब्ध पाण्डुलिपीय सामग्री, ग्रन्थों के आदिसस्करण और उनके हाथों हुए मुद्रणादेशो से महती सहायता मिली : फिर भी प्रसाद-वाङ्मय के इस संग्रथित प्रस्तुतीकरण को 'इयमेवपूर्णं इदमित्थं च' कह देने का साहस, कम से कम मेरा तो कभी भी न होगा। मानव-सुलभ प्रमाद के बिन्दु सम्पादन-मुद्रण के कही कारण हो सकते है · और, यदि कही वैसा है तो तदर्थ प्रसाद-भारती के सम्मुख क्षमाकाक्षी हूँ। इस खण्ड मे उनके समस्त ग्रन्थित काव्य का एक संग्रथन है · चम्पू सहित शेष अग्रन्थित काव्य को एक परिशिष्ट-खण्ड मे पृथक रखना पड़ा, अन्यथा इस खण्ड का कलेवर दुराराध्य हो जाता।

अग्रवर्ती पृष्ठो मे सक्षेपत निवेदित प्राक्कथन 'प्रसाद-वाङ्मय' की विराट्-मूर्त्ति के चरणो मे अक्षत-भावेन विकीर्ण रह श्रद्धावन्तों का किंचित् भी प्रीणन कर सका तो वह मेरे पावन-रिक्थ का पुण्य-फल होगा।

प्रसाद-वाङ्मय की विकास-धारा का प्रस्थान बिन्दु एक सकल्पमय बिन्दु है जो अपने विस्तार से दीप्ति की एक रेखा बनाता गया है अथ च, केन्द्रीय-विचार का एक अक्षय ज्योतिष्क भी बना रहा : उसे 'ध्रुवतारा' कहना ही उपयुक्त होगा। ऐसा नही कि इस विस्तारण मे उस स्फुलिग-रूप सकल्प-बिन्दु की प्रकाशमानता क्षीण हुई हो, और अस्तित्व के लिये उसे अन्यत्र से साधन-स्रोत जुटाने पडे हो अथवा तिमिर वात्याचक्र मे पिस कर बुझ गया हो : किंवा एक उद्भ्रान्त आलोक-पिण्ड सा साजन-क्षितिज और निरजन-महाव्योम के बीच किसी आकर्षण हीन कक्षा का धूमकेतु बन गया हो।

मानव-समाज के कल्याण-चिन्तन की एक मौलिक-वृत्ति सहित प्रसाद-वाङ्मय का उन्मेष होता है · ऐसे सहित-भाव का सकेत उस पक्ति मे है जहाँ कहा गया है कि 'दुखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है'। अत आज के और आगामी कल के विश्व-जनीन परिप्रेक्ष्य मे उसके स्वाध्याय का कुछ और ही अर्थ होगा : वैसा

स्वाध्याय वस्तुत श्रेयगर्भित, प्रेयसमन्वित और युग के लिये योगवाही एव प्रयोजनीय रहेगा। इस अनुवेध मे मात्र काव्य का रसास्वाद और केवल उसका दर्शन-चिन्तन अगी न हो अग ही रहेगे · फिर, प्रसाद-वाङ्मय की उपलब्धि का वृहत्तर और यथार्थ आयाम विज्ञात न होगा। इस शती के आरभ से मानव-समाज के उद्बोधन मे हुए वैश्व-सकल्प और आयाम के समस्वर भारतीय जीवनदृष्टि और समाज के जागरण-भैरव मे वाङ्मयी विपची कैसे सवादी स्वर दे रही है यह जिज्ञास्य केवल काव्यास्वाद और दर्शन-चिन्तन द्वारा ही उपचीर्ण न हो सकेगा वैसी जिज्ञासा समाज की उन सभी अन्यान्य प्रवृत्तियो का स्पर्श किये है जिनके समवेत प्रभाव मे युग आख्यात रहता है। और प्रस्तुत सन्दर्भ मे, वह समवेत-प्रभाव एक 'घनीभूत पीड़ा' बन कर प्रसाद-भारती के मस्तक मे छा जाती है और, विश्वयुद्ध (प्रथम), बलशोई क्रान्ति एव सर्वोपरि भारत के अपने घोरतम अवसाद के दुर्दिन मे आँसू बन कर बरसती है . इतिहास और साहित्य के क्षणों का यह कोई आकस्मिक संयोग नही · और फिर, विरह-मिलन के तत्त्व न तो एकदेशीय होते है न एककालिक न एक-सस्थानीय ही। कवि-चेतना साधारणीकरण की दशा और अनुभूति की प्रवणता मे किन आयामो से क्या ग्रहण कर उन्हे कैसे रूपक-रूप दे सकती है यह उस प्रसिद्ध वाल्मीकीय श्लोक से अनुमित हो सकता है जिसमे एक क्रौंच के वध-प्रसग मे स्फुरित करुणा वाल्मीकि को वाल्मीकित्व दे जाती है। इस 'घनीभूत पीड़ा' की बदली किसी क्षितिज-विशेष से नही उठ रही है . इसीलिये तो सबका निचोड ले कर आँसू के 'विश्व-सदन' मे बरसने की की प्रासंगिकता है।

निश्चय ही एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मे आँसू 'मानव-समाज' के कल्याणानुष्ठान का संकल्प-वाचन है जिसे कामायनी के अन्तिम छन्द में सिद्धि मिलती है इस सन्दर्भ में अधुनापि उपलब्ध पदार्थ और भाव-सामग्री का समुचित उपयोग नही हो पाया जिससे वायवीय अनुमानों का निरास हो सके . यहाँ प्रसंग-प्रस्तार से बचने और मूल विषय से ही प्रसक्त रहने से उनकी चर्चा सम्भव नही।

सबका निचोड़ ले कर तुम सुख से सूखे जीवन मे।
बरसो प्रभात हिमकन सा आँसू इस विश्व सदन मे ।।

सामान्यतः विश्व-समाज और विशेषत. विकासोन्मुख देश एवं भारतीय-समाज जिस संक्रान्ति का आज भोग कर रहे है, प्रायः दो शती पुरानी है : उसका कोई व्यवस्थित निष्क्रमण-निष्कर्ष अभी नही निकल

पाया . यद्यपि दृष्टि में आ चुका है। किसी देश-समाज के अर्थ शतियाँ महत्त्व नही रखती और विश्व-समाज की दृष्टि से तो सहस्त्रादिब्या भी नगण्य है। उन्मेष या क्रान्ति, आतिवाहिक-निभृत और निचले स्तरो से सदैव प्रवर्त्तित रहती है जिनका अर्थ होता है विगतार्थ-व्यवस्था का विक्षेप और अनुकूल-मगल की प्रतिष्ठा। वैषम्य की भूमिका पर, सृष्टि के विकास मे क्रान्ति का तत्त्व एकमेव साधनभूत होता है जो अभ्युदय मे आस्था रखता है . मानवसमाज की अगति में नही अपितु प्रगति मे वह उद्युक्त होता है। प्रसाद-वाङ्मय मे ऐसा ही है। वहाँ देव-सस्कारो के प्रति अतिशय विरोध है और उस से उन्नत और परिपूर्ण एक मानव-समाज की प्रस्तावना उस वाङ्मय की अपनी विशेषता है और वे सस्कार किंवा परिवेश चाहे अशात्मकत्वेन ही क्यो न हो अभी क्या विद्यमान नही है ? प्रसाद-भारती को इसमे कथमपि विश्वास नही कि मानव-समाज का उद्धार, उसका दिव्य-रूपान्तर कोई देवदूत या देवचेतना ऊपर से आकर करेगी अपितु, वह मानवी-पुरुषार्थ के सुसमन्वित-सन्तुलित नियोजन, प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और करुणा-सौहार्द और सर्वोपरि सर्वविध 'सबकी समरसता' की छाया मे एक सहज मानवी-महासहति मे आस्था रखती है।

जिस भूमि पर प्रसाद-वाङ्मय उभर कर सम्मुख आया उसे देखने से उसकी आधारशिला कारण-सत्ता = प्रेरणा के उसके मूल उपादान और कार्य-विवर्त्त दोनो ही स्पष्ट होगे · और, निहित वस्तु-तत्त्व की प्रासगिकता को परखने मे भी सुविधा रहेगी। भूमि कहने से मेरा तात्पर्य, उस सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवेश से है जिसके अन्त·—स्पन्द की छाप मानव-चिन्तन के विकास मे अनुस्यूत रहती है और जो इतिहास की पृष्ठभूमि को बनाती है . अर्थान्तरेण विदित वर्त्तमान जिसका परिणाम होता है। उस भूमि की आपुंजित वेदना ने वैसे कवि-कण्ठ की मुखरता के कारण जुटाये और उपादान इकट्ठे किये जिसमे भाव-प्रतिवेदन की समर्थता निसर्गत· विद्यमान रही · किन्तु, अवधार्य होगा कि वेदना स्वयमेव शून्य की एक क्रिया होती है जो अनुकूलता और प्रतिकूलता के अभिमानी सुख और दुख के उपजीव्य ले भावाकार गढती है · परन्तु आकलित दुखोपजीवी भावाकृतियों के ही अनुभव-निवेदन मे आज इस शब्द का प्रयोग रूढ हो गया है वस्तुत·, वेदना एक क्रिया है जिसमे सुख और दुख की संज्ञायें प्रतिफलित होती है। यह बात अन्य है कि क्रिया मे भी संज्ञा

और संज्ञा में भी क्रिया के अंश निहित रहते है अन्यथा चेष्टा का प्रकाश और प्रकाश की चेष्टा सम्भव नही।

विलक्षण प्रतीत होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल भाव-स्फूर्ति के द्योतनार्थ आकाश-पर्यायी, शून्यवाची अक्षर 'ख' से अनुकूलार्थी 'सु' या प्रतिकूलार्थी 'दु' के अक्षरयोग पूर्वक, वेदना के वर्ग-भिन्न कथन होते है। इस विलक्षणता पर विस्मय नही होना चाहिये। शब्द-विज्ञान की विकास-प्रक्रिया के युगीन अन्तरालो मे अनेक एसे स्थल है जहाँ शब्द-मूर्ति की वर्ण-सहति मे मानन समाज के विकास की नाना प्रवृत्तियों की उपलब्धियो का भास्कर्य एक समन्वित शिल्प-सिद्धान्त पर तक्षित-आधारित है यह भारत की अपनी विशेपता है : जहाॅ बहिरंग-भोग और अन्तरग-योग-चिन्तनोके विषुवत् पर सस्कृति की परिनिष्ठाये एकमेव गोमुख से सहस्रधार स्यन्दित है · और, जिनके कूलो पर जड़ एव चैतन्य विज्ञान के सरज-विरज पीठ प्रतिष्ठित है : उभय सगोत्रीय है, चाहे वह जड़-विज्ञान हो अथवा चैतन्य : और, वाङ्मय दर्शन तो एक सविशेष अनुभूति-विमर्श ही है जो प्रतिभा की समस्त विधाओ का प्राण है। वाणी उसी विषुवत् से बहिर्गत होती हं सुतराम् इस अवस्था मे मध्यपदी होने से मध्यमा-पदवाच्य होती है। वाक्पद और उसके अर्थ विविक्ताकगत होकर भी वहाॅ सम्पृक्त और मिलित दशा मे रहते है फिर वे बिखरते है अर्थात बिखर (विश्व-शरीर) धारण करते हैं। वाक् और अर्थ की भिन्नवेद्यता लेकर पदार्थ-जगत का उन्मीलन होता है : वर्णो का उदय क्रियार्थ-विशेषण-युक्त हो पदार्थ-तादात्म्य मे कतिपय प्रतीक बना देता है जिन्हे हम शब्द कहते है। वे शब्द, अपनी सत्ता से अनुप्राणित 'निजशक्ति तरंगायित' होकर अपनी आमूल-चूल अर्थवत्ता में जीवन्त है। अस्तु सुख और दु:ख मे 'ख' की समान—प्रतिष्ठा एक शब्द-महिमा है। वेदना का तात्पर्य मूलत मात्र दुख से ही नही सुख से भी है। शतपथ ब्राह्मण (१४–७–२–१५) के इस कथन से कि प्रतिकूलार्थी दुख नरक एवं वेदना का पुत्र है : सहज इगित यह प्रापणीय है कि स्वर्ग और वेदना से सुख की उत्पत्ति है। सुतराम्, वेदना स्वतः, अपने निस्स्वभाव-वैशिष्ट्येन योगवाहिनी है, जिसकी भित्ति पर सुख और दुख के चित्रो का उदयास्त होता है। सभ्यता के उतरोत्तर विकास के साथ-साथ मानव समाज दुख-बहुल होता गया और दुख की परि-भाषाये भो परिवर्तित हुईं : ओर वेदना, पौराणिक युग में दुख-पर्याय मात्र रह गई (अवलाकनोय-सुश्रुत-महाभारत इत्यादि)। आगम, अनादि

धर्म रूपी स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्व-भाव की विचारणा को, वेदना कहते है—'वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्व बोधना (स्वच्छन्द' तंत्र ४–३९६)। पौराणिक युग मे विकल्प-दृष्टि का प्रभाव भी वेदना के अर्थ-परिसीमन का कारण है। फिर, वेदना यदि- दुख ही है तो इस क्रियापदीया की संज्ञा वेद को क्या कहा जाय जो श्रेय-प्रेय समन्वित ज्ञान की शाब्दी मूर्ति है ? सौगत विचारधारा में वेदना मूल मे अलांछित है : इन्द्रिय-विषय-सम्पर्कोदित प्रभाव द्वारा मानस के रजित होने से सुखावेदना और दुखावेदना का भिन्न अनुभव होता है। वहाँ इसकी अनुपश्यना अनाविल रूप मे स्वीकार की जाती है। किं बहुना वहाॅ वेदना की एक अदु ख और असुख-मयी स्थिति भी व्याख्यात है (नन्दकोवाद सु० मज्झिम निकाय)।

अस्तु, वेदना मे केवल दुख के प्रति ही ग्राहकता नही सुख के लिये भी उसके पास अनुरोध, प्रतीक्षा और जिज्ञासा है · नितराम्, सुखानुसन्धान मे वह व्याकुलतया घूमती है · यह बात अन्य है कि पाती नही, यदि पाती तो वह भी उपजीव्य होता—

> वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहो भुवन मे
> सुख कही न पड़ा दिखाई विश्राम कहाॅ जीवन मे। (आँसू)

वेदना अपने इस अनाविल-अभिजात रूप मे प्रसाद-वाङ्मय के मानवी और मानवतावादी संकल्प-बिन्दु की अन्तर्ज्योति बनी है जिसके आलोक मे मानव-मन की संवेदन-विकलता विपंची बन कर जीवन की मधुरिमा ओर कटुता के स्वर राग और विराग की संध्या में सुनाती है।

प्रसाद-वाङ्मय के विकास मे ऐसी वेदना की उद्दीपक हेतुता बढती और क्रमशः उदात्त स्तरो के खरसान पर चढ पैनी हो विकल्पो की ग्रन्थियाॅ काटती जाती है फिर अपने मौलिक रूपावबोध मे साहित्य को यथार्थतः परिभाषित कर प्रसाद वाङ्मय कहता है—'दुख-दग्ध जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।" सवेदन और अनुभूति से गढे भावशिल्प की मुखरता प्रसाद-भारती का सहेतुक विनियोग है : विकल्प-मयी कृतियो का वाग्विलास नही। वह युग-सापेक्ष और सोद्देश्य है . उसकी चिन्तन-धारा निरपेक्ष है। युग, प्रश्न-पक्ष होता है और कवि उत्तर-पक्ष . युग-प्रश्न ही काव्य का वह निकष है जिस पर कवि के उत्तर की सुवर्ण-रेखा अपना मूल्य बताती है।

सुतराम्, निकट अतीत और समसामयिक वर्तमान की अवधि के, अर्थात् पिछली शती और वर्तमान के प्राय प्रथम तीन दशकों के प्रसग इस सन्दर्भ मे ध्यातव्य होगे जिसकी 'भूमि' पर प्रसाद-वाङ्मय का अकुरण-पल्लवन हुआ है। प्राय १९०५ ई० से स्फुटित यह काव्याकुर १९३५ ई० तक महिमा-मण्डित न्यग्रोध हो गया—कामायनी पूरी हो गई। कवि के लिये कदाचित् अब कोई कथ्य अवशिष्ट नही रहा।[1] जिस विद्वद्व्यापी 'ध्रुवतारा' पर दृष्टि बाँधे प्रसाद-वाङ्मय का मयान अपने भाव-समुद्र का सतरण कर रहा था उसके आलोक मे अब 'प्राणमादन वह मधुरमुख' सम्मुख था जिसके समक्ष जब बैखरी स्वत निवृत्त हो जाती है, तब बिखर (देह) की विद्यमानता का प्रश्न कहाँ? भले ही जगत की तीखी-मीठी वेदनाओ का 'खारा जलनिधि मचले और नियति के खोखले विवर मे 'चचल ग्रह' रूपी उसके इगित अपना परिमित 'सूनापथ' नापा करे।

सम्भवत इस 'मधुरमुख' और 'ध्रुवतारा' का प्रसग स्फीत हो कवि की जीवन-दृष्टि और उपलब्धि को आज और भी सुस्पष्ट करता. किन्तु, चिकित्सक निषेध ने उस अद्धी-पेंसिल[2] को भी 'जब्त' कर लिया जो पश्यन्ती का आलोक-भार वहन करने मे तब समर्थ न रह दवा की शीशियो और थर्मामीटर की नितान्त सहचारिणी बन गई थी। और ये पक्तियाँ स्वय एक विराट् प्रश्न के परात्पर-उत्तर का उस मार्मिक उक्ति के माध्यम से चरम समाधान उपस्थित कर जाती है—'निर्मोह

---

१ देहावसान समीप देख चिकित्सक ने कहा 'प्रसादजी आपको किसी से कुछ कहना हो तो कह ले' तब वे उपधान सहारे शैय्या पर बैठे थे आगामी मुहूर्त्त के अर्थज्ञान से गर्भित मुख के प्रशान्त भाव मे उस अर्थ के प्रति उपेक्षा भरी स्मिति बिखर उठी, कहा—'डाक्टर अब तक जो कहा वह क्या कम है'।

२. यक्ष्मा के असंदिग्ध निदान हो जाने पर चिकित्सक ने कहा कि प्रसादजी आपकी पार्कर डुओफोल्ड कलम बडी वजनी है, अभी कुछ समय इसे विश्राम करने दे उत्तर मिला तो मेरे जेब वाली अद्धी पेंसिल हल्की ह। किसी कागद का एक छोटा टुकडा और आधी कटी पेंसिल उनकी जेब मे होते थे, प्राय। यद्यपि चिकित्सक-परामर्श उन्होंने माना और लिखने पढने से विरत हो गये किन्तु 'शेषगीत' की इन पक्तियो के आधेय का, सच पूछा जाय तो निवृत्ति से कुछ दिनो पूर्व साक्षात्कार हुआ। प्रथम पद मे प्रकल्पन एवं दूसरे मे प्रत्यक्षीकरण परस्पर अनुस्यूत है।

काल के काले पट पर कुछ अस्फुट लेखा, सब लिखी पडी रह जाती सुख दुखमय जीवन रेखा' • किन्तु, शेषगीत[1] की इन पंक्तियो मे निजानुभूति की दशा और काव्यानुभूति की दिशा के सामरस्य में अनुभूति एव अभिव्यक्ति के परस्पर साधारणीकरण की सहज भगिमा है जो सावधानतया विचार्य है।

उन्नीसवी शती जिन दूरगामी क्षेप-विक्षेपो की सम्भावना लिये आई उनसे भारत और भारतीय वाङ्मय-धारा जिसे भारती ही कहते बनेगा अछूती न रह सकी। भारती इस लिये कि भाषा का नाम-कथन देश-परक होता है और हिन्द जिसे देश-नाम मान भाषा का नामकरण हिन्दी किया गया, वह तो अरबी सौदागरो की देन है। अतः अपने समग्र देश की संज्ञा यदि भारत है तो इसकी सार्वदेशिक भाषा को भारती कहना क्या तर्क सगत न होगा ?

देश-विदेश की घटनाये और पदार्थ-विज्ञान-गत नाना विधाओ की विकासात्मक प्रगति बाहर से और मानव-समाज के सामूहिक-चेतना का प्रकृतिगत विकास-क्रम भीतर से कुछ असाधारण और जवीयान हो एक नये युग की भूमिका बना रहे थे। सचरण के साधन प्रत्यह उन्नत

---

१ मेरे जीवन के ध्रुवतारा
तेरी करुणा छायी हो वन नभ का श्याम पसारा
चचल ग्रह नापे सूना पथ मचले जलनिधि खारा
मेरी तरी तिरे पा कर तव मधुर ज्योति की धारा। (फाल्गुन १९९४)
आज जीवन मे तरल सुख
विश्वमदिरा सा भरा है
प्राणमादन वह मधुरमुख। (आश्विन १९९४)

दैनिक 'आज' बनारस वाराणसी के सोमवार सस्करण मिति २९ कार्त्तिक सवत् २००० (१५ नवम्बर १९४३) के 'प्रसादजी एक निकट दर्शन' शीर्षक सस्मरण मे अन्तेवासी डॉ० राजेन्द्रनारायण शर्मा द्वारा उद्धृत एव प्रसाद-वाङ्मय के परिशिष्ट-खण्ड मे अन्य अग्रन्थित-साहित्य के साथ मुद्रित।

होते देशों की परस्पर दूरी घटाते जा रहे थे और मानव-समुदाय की देशवाची जातियाँ एक दूसरे के समीपतर आती जा रही थी। ऐसी दशा मे अन्योन्य-सघट्ट और विनिमय अवश्यभावी थे तब भाषा के स्वरूप-विकास और अभिव्यक्ति की विधाओ मे अनुरूप परिवर्त्तन भी स्वाभाविक हुये।

अग्रत, हिन्दी साहित्य मे आगत घटनाओ को इस वैश्व-परिप्रेक्ष्य में देखना समुचित होगा जिसमे आगामी परिवर्त्तनो की पीठिका प्रस्तुत हो रही थी। हिन्दी सरचना की प्रवृत्तियाँ सजग होने लगी, उसका गद्य-देह गदराने लगा और काव्य-पुरुष व्रज के तमालकुँजो से निकल कर आलोक के नये आयाम ढूँढने लगा। अब राजनीतिक-विज्ञान और वैज्ञानिक-राजनीति यहाँ की रूढ विचार-शृखलाओ के झकझोर कर टूटने ओर नये सिरे से अपनी पुनर्रचना करने को बाध्य कर रहे थे।

यहाँ की सामाजिक-राजनीतिक दशा-दुर्बलता और आर्थिक सम्भावनाओ का आकलन-विश्लेषण कर सोलहवी शती समाप्त होते-होते अंग्रेज एक निष्कर्ष पर आ चुके थे और इस गोलार्द्ध के प्रति वे एक व्यापक नीति को नियोजित और चरितार्थ करने लगे थे। उनके स्पर्द्धी हुये डच, फरासीसी और पुर्तगाली। किन्तु, विपुल नौशक्ति, अपनी कूट-मेघा तथा अन्यान्य राजनीतिक योगायोगो के बल अंग्रेजो ने यांरोप में ही उन्हे यथासम्भव उलझाये रखा और यहाँ भी आगे नही बढने दिया। अंग्रेज तब मनसा और वाचा भी, अपने को यहाँ का नियायक मान चुके थे और कर्मणा उनके पाँव शासन-पीठ पर जमने लगे थे। सत्रहवीं शती को वे अपने पूर्वी साम्राज्य के प्रारम्भिक दिन कहते थे।[1]

---

1 "At present time it may be not altogether uninteresting to recall the terms in which our country-men addressed the king of Ava nearly 200 years ago The letter goes on to say "your majesty having been plaeased to grant your special favours to Honourable English company whose servant I am " at the time this letter was despatched the king of Ava was by no means a powerful monarch. But in those early days of our Eastern Empire the the principale of Omneignotum pro magnificio was a force in very cogent operation."

(Times of India—April 12th 1875)

एलिजाबेथ—शासन के अन्तिम दिनों मे ईस्ट इण्डिया कम्पनीगठित हुई · भारत से व्यवहार करने का रानी ने उसे पन्द्रह वर्षो का इजारा दे दिया, प्रकारान्तर से निर्माणाधीन साम्राज्य की नीव तैयार करने का यह ठीका था। अपने समय की प्रबल नौशक्ति के सरक्षण में कुल ७२००० पौड और पाँच जहाजो की पूँजी से "कम्पनी का भारत-अभियान चालू हुआ समापन के समय "कम्पनी" की पूँजी विपुल जहाजी बेड़े के अतिरिक्त छ लाख पौड थी . क्लाइव और हेस्टिग्स जैसा के अनेक निजी कोषो मे कितनी राशि थी इसके आँकड़े तो सुलभ नही किन्तु उस देश की सहसा समृद्धि से एक अनुमान लग सकता है। ईसवीय १६०१ मे कम्पनी यहाँ आई और १६१२ में उसकी पहली कोठी सूरत मे खुली ऐसी कोठियो को वे फैक्टरी कहते थे, तथ्यत: उनमे साम्राज्य-निर्माण के कील-काँटे प्रस्तुत होते थे। जब वे भारत-परिक्रमा मे मद्रास पहुँचे तब उस अबोध हिन्दू राजा ने नगर उनके हाथो बेच दिया : उस भूमि पर पहला आँग्ल-दुर्ग फोर्ट-सेट-जार्ज १६४० मे बना। "कम्पनी की काउन्सिल वहाँ से व्यवसाय और कूटनीति का ताना-बाना ले साम्राज्य की चादर बुनने लगी।

"पिला साकिया पुर्तगाली शराब हुबाबो पे उड़ता है जिसके शबाब" मे आकण्ठ डूबे, डूबते मुगलो ने एक मामूली से फरमान के लहजे मे मुबई बख्श दिया और पुर्तगाल उसका जिमीदार हो गया : किन्तु अग्रेजो की भाँति उनकी सागरीय-दृष्टि होती तो पुर्तगाल अपने अग्रेज जामाता राजा चार्ल्स को दहेज मे मुम्बई न देता। फिर, अरब-समुद्र के इस पत्तन पर पुर्तगाली प्रभाव का ऐतिहासिक अर्थ कुछ दूसरा ही होता।

अब मुबई बौर मद्रास में बैठे गोरो के सम्मुख पूर्वी जगत का समृद्धि-निचय : भारत का उत्तरापथ था जिसकी अर्गला उन्होने दक्षिण और पूर्व से खोलना प्रारम्भ किया, इस नई ऐतिहासिक करवट का कारण अंग्रेजी नौशक्ति और उनके उन्नत यन्त्र-कौशल ही नही समयानुसारी क्षिप्र-गतिचार भी रहे।

नितराम्, अन्न के बखारों और मणि-हिरण्य की थैलियो से भरे पूरे : गौड़-मगध-अन्तर्वेद-पचनद की साहसिक-यात्रामे अग्रेजो का द्वितीय पग उठा। कटक में दिल्ली के "गुमाश्ते" आगामुहम्मद के पाँव चूम अंग्रेज सल्तनत की छाती पर चढने लगे।

विदेशो में हो रही यान्त्रिकी भौतिक प्रगति और उनके चलते

अनिवार्य सम्भावनाये यहा के 'नशेमन' शासको ने बेमतलब की बात समझी उसे समीप से जा कर देखने समझने मे एक और मुसलमानी आरामतलबी और 'मिजाजेखास' तो दूसरी और हिन्दुओ का तथाकथित धर्म, बाधक बने। बेठन की सात परतो मे बँधा पचतन्त्र पुकार रहा था—

विद्या वित्त शिल्प तावन्नाप्नोति मानव सम्यक्
यावद् व्रजति न भूमो देशाद्देशान्तर हृष्ट.

अब भारत को पूरी तौर से कैद करने के लिये अग्रेजी कारखानो और वहाँ के शासनयन्त्र के समन्वय-सम्मोदन पूर्वक बनी 'लैनडोगी' सागर की लहरो पर चढती चली आ रही थी।

अंग्रेजो की उस साहसिक-यात्रा मे · हुगली-कलकत्ता-कासिमबाजार-मुर्शिदाबाद, सिराजुद्दौला-मीरजाफर-जगतसेठ-अमीचन्द और पलासी की क्लाइव-कथाऐ आती है · पटना-बक्सर पार किये जाते है और शामे-अवध-लखनऊ की शामत आती है और फिर चिरागे दिल्ली की आखिरी लौ मराठा-तूफान और अग्रेजी-आंधी की टक्कर मे वुझ जाती है और तब, वह 'सल्तनत नूरेजहाँ' की खूब हो कर खराब हो जाती है।

पूर्वीय गोलार्द्ध की संचित-समृद्धि और उसके जीवन्त-स्रोतो का दोहन एक विज्ञान-सम्मत और अपने मौलिक ढग से अग्रेज करना चाहते उन्हे न तो किसी गजनवी या नादिरशाह की भाँति यहा से लूट कर भागना था न मुगलो की भाँति यहाँ की सस्कृति मे घुल कर यही बस जाना था. अपितु, यहाँ एक इन्द्रकील गाड़ विश्वजनीन परिस्थितियो के घात-प्रतिघात देखते इच्छानुसार यथाशक्ति कालव्यापी आदोहन करना था ऐसे घटनाक्रम की प्रेरिका, एक एतिहासिक मोड़ लाने वाली अंग्रेजी-औद्योगिक-क्रान्ति थी और जो कि पक्षान्तरत. सामन्तशाही के विकृत शव से पूँजीवाद के महाकीट का उद्‌भव था।

जब, विशाल वाष्पीय अभियन्त्रणों से इंगलैण्ड के कारखाने अभिभूत हो गये, उत्पादन की गति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी तब अग्रेजो के सम्मुख दो प्रश्न थे, कच्चे माल का आयात और उत्पादित सामग्री का निर्यात और, भारत इन समकालीन प्रश्नो का उत्तर बड़ी सरलता से बन गया। यह क्रान्ति प्राय. अठारहवी शती के मध्य से चालू रही यद्यपि अन्य देशों ने अनुगमन की चेष्टाये की किन्तु अग्रेज दौड़ में आगे

जा चुके थे और उनकी प्राय: सभी योजनाये आश्चर्यजनक ढंग से चरितार्थ होती गईं। उस उदीयमान राष्ट्र की दो भुजाये औद्योगिक कर्मान्त (कारखाने) और उनके सरक्षण-पोषण के लिये विपुल नौशक्ति प्रचड होती गई। मैक्सिको की चाँदी, ढाँका का मलमल, मुर्शिदाबादी सिल्क ही नही सर्वाधिक सामरिक महत्व की वस्तु पटना का शोरा, जिसमे कम्पनी की आधी पूँजी लग रही थी, ले जाना और उत्पादनो से उन सार्वदेशिक बाजारो को पाट देना अग्रेजी साहस और धैर्य का परिणाम था जो पृथग्ग्रीव हो कर भी एकोदर होता है। शोरे मे अधिकाधिक पूजी लगने की वृत्ति को आज के शस्त्रीकरण-ससार का प्रजापति कहा जा सकता है। अग्रेज सदैव तोपो की बारूद उष्ण और विषम बनाये रखने मे विश्वास करते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का "तिजारती" उपक्रम अब सैनिक-हस्तक्षेप के माध्यम से राजनीतिक प्रभुत्व बनने वाला था। बडे मस्तूलों वाली महानौकाओ का स्थान भाप से चलने वाले शतघ्नि-मडित भीमकाय जहाज ले चले और टोपीदार बारूदी कडबीनो (कारबाइन) को जगह कारतूसी राइफिले लेने लगी और भारत के पास उन्ही से प्राप्त ये रणोपकरण यदि थे भी तो अल्प और पारस्परिक निर्णयो के लिये ही प्रयुक्त होते रहे। टीपू या सिराजुद्दौला की प्रतिकूल गतिविधियों को पहली उभार मे ही अग्रेजो ने कौशल से दबोच दिया। ऐसे उपकरणों और टेलिग्राफ आदि साधनो से सम्पन्न हो कर अपनी महत्वाकाक्षा और साहस को निर्यायक सीमा तक ले जाने के अर्थ · अग्रेज अब समर्थ और सन्नद्ध थे। उन्होने अपने साहस हमारी क्षमता और विचारधारा का गुणनफल निकाल लिया था।

भारत की दशाओ और अवस्थाओ का ब्रिटिश-पार्लमेट ने जब ईस्ट इडिया कम्पनी के 'टेस्टट्यूब' में रासायनिक परीक्षण पूरा कर लिया तब एक लघुवर्गीय प्रभुता-सम्पन्न कम्पनी निरर्थक हो गई। अंग्रेजी-शासनतन्त्र ने अपने मौलिक कौशल से सामाजिक न्याय और धर्म-सरक्षण की दुहाई देते यहाँ का शासन स्वायत्त कर लिया इम्पीचमेट का नाटक हुआ · बर्क ने लम्बा नान्दीपाठ किया · हेस्टिंग्स द्वारा कृत-कारयित कर्मों का ऐसा चित्र खीचा गया जिसे देख रमणियाँ मूच्छित हो गई। देशे-विदेश में अंग्रेजो के न्याय-निष्ठा का यश फैले, 'कम्पनी' के भागीदारो के प्रति शासन 'पाकदामन' भी रहे साथ ही विशाल साम्राज्य अनायास मिल जाय ऐसे "पवित्र" उद्देश्यो से पार्लमेट ने उपनिवेश-

प्राय भारत का उसके ही "हितों" में राष्ट्रीयकरण कर लिया · यहाँ उठती गदर की लहर को बलपूर्वक, विधिपूर्वक और विधान सम्मत ढग से रोकने·और यहाँ के साधन-स्रोतो के स्वच्छन्द दोहन के अर्थ, ऐसा आवश्यक भी था।

व्यापक परिप्रेक्ष्य मे कूट उपादानो से गठित विक्टोरिया का शासनादेश जारी हुआ जिसमे बहुसख्यक हिन्दुओ के "असली-रग" की अच्छी पकड़ थी। धर्म मे अ-हस्तक्षेप वाली धारा ने हिन्दू-प्रजा को नागपाश मे जकड़ लिया। अग्रेजो ने यहाँ के उस बहुसख्यक समुदाय को विश्वास में लिया जो शताब्दियो से धार्मिक उत्पीड़न सहते अपने प्राणो के बल्ले लगा धर्म की ढहती 'इमारत' रोके रहो। तब हिन्दू प्रजा एक मिथ्या आश्वासन मे भ्रमित हो गई उसने यह नही देखा कि अग्रेज प्रकाण्ड गोभक्षी है : किबहुना वहाँ के सिहासन की निजी रक्षको की टुकडी "बीफ ईटर्स" की है। फिर, गोवश के आहारीकरण के अर्थ सुदूर और निभृत स्थानो म यान्त्रिक वधालय बनने लगे। जहाँ पहले गोह्रास का गणित सम्भव था वहाँ छावनियो और सिविल लाइनो के चलते उसकी गणना असम्भव-प्राय हो गई। वस्तुतः गोधन का जितना ह्रास "ब्रिटिश-रूल" के सौ वर्षो मे हुआ उतना कदाचित मुसलमानी शासन के आठ सौ वर्षो मे भी नही हुआ। नर-वश और गो-वंश के सांख्यिकी असन्तुलन का व्यापक दुष्प्रभाव कृषि और जन-स्वास्थ्य पर पड़ा। किन्तु इससे क्या ? अंग्रेज न कोई प्रतिमा तोड़ते है न तो "जबरन कलमा पढवाते" है : हिन्दू इतने से ही सुखी-सन्तुष्ट था।

उस शासन काल मे यहाँ विक्टोरियायी नैतिक-मूल्यो और मानको का एक नया ज्वार आया . जिसने भारत की सांस्कृतिज प्रतिमा तोडने मे अपने शक्तिभर कोई कसर नही छोड़ी। यह सास्कृतिक सक्रमण अग्रेजो के राजनीतिक आक्रमण का अनुगामी होता रहा उसमे जहाँ एक ओर सती और कुलीन प्रथाओ की समाप्ति और साक्षरता के प्रसार जैसी कल्याणी वृत्ति जगी वही यहाँ की जीवन-दृष्टि नितान्त अभारतीय 'प्युरिटनिज्म" को आदर्श मानने लगी। यथा, नृत्य-गीत की लोक-सामान्यता लुप्त हो कर कलावन्तों के एक वर्ग-विशेष के वे जीवोपाय मात्र बन गये। भारतीय नागरिक अब कला और सौन्दर्य के नैसर्गिक अवबोध-पक्ष मे अपनी चिरन्तन आस्था खो कर सभ्रम की चादर में विकृत-विभ्रम और माँसल-आसक्ति मात्र बटोरने लगा : वह भी प्रच्छन्नतः। नारी जाति पर पड़ा लाचारी का 'बुर्का' आवश्यक न रहने पर भी अनिवार्य बन

गया। शील के घूँघट की ओट से झाँकती सौन्दर्य की विच्छित्ति अन्ध-कार के निचोल मे आवृत हो गई। यह निचोल पुरुष के अहकार और आसक्ति के ताने बाने से बुना और स्त्री की विवशता से रगा था। इन परिस्थितियो मे राजा राममोहन राय स्वामी दयानन्द जैसे सामाजिक-धार्मिक सशोधनो के प्रतीक बने और भाषा का धरा पर भारतेन्दु भावी धारा के भगीरथ बने।

बीसवीं शती लगते-लगते जनमानस में एक नई चेतना जागी। गले मे युगो से पडा जुवा अब उसे असह्य हो गया उसे निकालने के प्रयास अनेक स्तरों पर चालू हो गये। प्राय सभी यूरोपीय देशो की औद्योगिक शक्ति बलवती हो रही थी। उन उद्योगो के यन्त्रों से जूझने पिसने मानव समुदाय का वही अश जाता था जिसके पास रोटी के अन्य साधन नही थे। उच्चवर्ग ने जिसका सब कुछ आहरण कर लिया था . अर्थात् जो सर्वहारा था इनके सजातीय, अल्प और अलाभकर जोत वाले कृषक बने, वे जिन्हे राजस्व जुटाना भी कठिन था। उद्योगो ने उस वर्ग को स्वार्थ-समता की सामान्य-भूमि पर परस्पर विचार और सगठन का अवसर दिया। अर्थाक-मूल्य-समवायी पारिश्रमिक को न्यूनतम आधार पर बना सामाजिक न्याय और सुविधा के लिये संघर्ष करने वाली इकाइयाँ परस्पर मिलती गई . प्रतिक्रिया मे विरोधी तत्वो का मोरचा बँधा किन्तु यन्त्र-युग से सर्वहारा ने शक्ति ग्रहण किया। विदेशो ने अपने औद्यागिकीकरण के आय-स्रोत को शस्त्रीकरण की दिशा मे लगाना जारी किया . कुछ ने रक्षात्मक दृष्टि से और कुछ ने आक्रमण की दिशा मे बढने के लिये। इस अहमहमिका मे जर्मन सैन्यवाद अपनी एकराट् कल्पना ले अन्ततोगत्वा अन्य राष्ट्रो पर चढ दौड़ा। विश्व के इधर के इतिहास मे पहला महायुद्ध छिड़ा जिसमे आँग्ल-अपराजेयता की नीव बुरी तरह हिल उठी 'केले और डोवर के मध्य जर्मन-हाविट्जर अग्नि सेतु बाँधने लगे और 'एमडेन' मद्रास पर गोले दाग लहरो के राजा को चुनौती दे गया तब भारत के एक प्रबुद्ध वर्ग ने देखा कि अग्रेज हटाये जा सकते है, वे अवाछनीय है · दूसरे ने निश्चय किया कि इन्हे हटाना ही है . कभी तो ऐसी कल्पना भी सम्भव न थी ?

साशय और साभिप्राय यहाँ पुंसत्वहीन सामन्तवाद का तामझाम अग्रेजो ने खडा कर रखा था जो उनके उपनिवेशीय पूजीवादी उद्देश्यो के निर्विघ्नतासिद्धयर्थ कल्पित और संकल्पित था। राजा से जिमीदार

पर्यन्त एक अर्द्धशासकीय शृंखला थी जिसकी कड़ियो का निर्माण शासन के प्रति निष्ठा और उसकी सेवाश्रित कृपापात्रता के मानने के आधीन रहा आंग्ल-सिंहासन के प्रति निष्ठा और भक्ति वहाँ एकमेव अर्हता बनी थी। अल्पवित्त या शून्य-वित्त कृषक जिमीदारी त्रास और अतिचार की छाया मे अपने टूटे बैल लेकर भरती-माता की छाती कुरेदता अपने क्षाम-कण्ठ सीचने को बिलखता रहा वणिक् समुदाय विदेशी आयातो के अस्वस्थ बहाव मे सहायक बन अन्धी बिल्ली की भाँति घर मे ही शिकार करता रहा। छोटे से बडे पर्यन्त सभी शोषक-वर्ग मात्स्य-न्याय से परस्पर एक दूसरे को खाने के उपक्रम मे लगे थे ' आर्थिक अराजकता की ऐसी दशा मे भारत अग्रेजो को गाँठ बँधा। कलकत्ता-बम्बई के उपकण्ठो पर विपुल कल-कारखाने चालू हो गये और ग्रामीण-कृषक श्रमिक बनने लगे वणिक् वाणिज्य की वस्तुयें लेकर 'परदेस' कमाने जाता था और ग्रामीण वहाँ अपना श्रम बेचने जाता था समुद्रपारीय देशो मे भी, क्योकि उसे गन्ने की खेती आती थी और श्रम-मूल्य भी नगण्य था। जिमीदार देश मे बेगार लेता था और उसके प्रभु समुद्र-पारीय उपनिवेशो मे। भारत की सात पीढियाँ इस अन्धकार मे चीखती चिल्लाती विलीन हो गई।

शाब्द-व्यवहार मे, मुसलमानी सल्तनत के वारिस ब्रिटिशरूल ने यथास्थिति विद्यमान रखने मे सुविधा देखी। सल्तनत से कम्पनी जिस भाषा मे व्यवहार करती थी उसमे और अँग्रेजी मे प्राय समान गति रखने वाले 'राइटरो' से कलकत्ता की वह राइटर्स-बिल्डिग भरी रहती थी जहाँ शासन के सम्पर्क-सूत्र जुडे थे और निरन्तर शासनादेशो का प्रवाह जारी था। वह भवन, एक प्रकार से बाबू उत्पादन का अग्रेजी कारखाना बना। राजकीय व्यवहार की वह भाषा जनसामान्य के कितनी समीप है, इसकी चिन्ता गोरे क्यो करते और बाबू-पदवाच्य काले साहब तो उनके अनुवर्ती ही थे। ऐसी भाषा-नीति के अनुमोदन में, काशी के राजा शिवप्रसाद को 'स्टार आफ इण्डिया' की पदवी मिली। उनके कृतित्व के शोध मे ज्ञातव्य होगा कि उनमें पटना-मुर्शिदाबाद की जगतसेठ वाली वह आग्ल समर्थक परम्परा थी जिसने हेस्टिंग्स को मौत से बचा कर डूवते अंग्रेजी बेड़े को उबारा था (द्रष्टव्य-भाषा कल्पसूत्र, नवलकिशोर प्रेस १८८७)। वस्तुत यह सितार ए हिन्द का खिताब उस वश की सेवाओं को तुलना में कुछ नही था . यदि उनके स्थान पर कोई अंग्रेज होता तो नेल्सन जैसी प्रतिष्ठा का अधिकारी बनता।

फिर भी नागरी लिपि के लिये उनका दीवानापन श्लाघनीय था बनारस की अदालत मे बैठ कर वे नागरी लिपि मे बिना 'उजरत' मस्विदे लिखते थे। किन्तु भाषा के सगठन-परिष्करण पर दृष्टि श्री हरिश्चन्द्र की थी और वस्तुत साहित्य-साधना मे रक बने उस प्रेमयोगी को जन-सामान्य ने भारतेन्दु पद दे राजतन्त्र द्वारा बाँधे गये भाषायी मोर्चे पर एक जवाबी हमला किया। श्री हरिश्चन्द्र को लोक-पक्ष से मिला सम्मान किसी भी राजकीय उपाधि से कोटिगुण महनीय था। अग्रेजी-सितारे की "बुलन्दी" और "गर्की" उभयावस्थाओ मे भारतेन्दु का आसन अविचाल्य और ऐतिहासिक बन गया।

युग की वाणी ने भारतेन्दु के माध्यम से हिन्दो मे अभिव्यक्ति पायी फिर हिन्दी उसे युग-युग तक क्यो न सजोये ? जिस स्नेह से उन्होने नागरी की माँग भरी, बेजोड है। निश्चय ही अमीचन्द के उस वशधर के गूढ व्यग, उनका उदात्त स्वाभिमान और उससे भी बढ कर 'जीहुजूरी' का अत्यन्ताभाव अग्रेजो की दृष्टि मे ये सभी खटकने वाली वस्तुये थी · उनकी यथास्थिति वाली नीति के राग मे ये विवादी स्वर थे अमीचन्द के वशधर श्री हरिश्चन्द्र से जन्मना "कंजर्वेटिव" अग्रेजो को कुछ दूसरी ही आशाये रही होगो · किन्तु अपने कृतित्व की पूँजी से वे एक सास्कृतिक ऋण का शोध कर गये। सत्तावन के जले सत्तावान अग्रेजो ने उनके व्यक्तित्व मे विद्रोह की गन्ध पायी हो तो कुछ आश्चर्य नही। अभिजात वणिक्-धर्म के अनुरोध से सुखसाज सजे भारतीय मध्यवर्ग को उन्होने जो चेतावनी थी वही तो आगामी स्वदेशी-आन्दोलन का बीजमन्त्र बना जिसके धन-जटा-युक्त सस्वर पाठ से एक दूसरे वणिक्पुत्र गाँधी के हाथो दुर्दान्त अग्रेजी-राज समापन का हुआ। इसी बीजमन्त्र की पूर्ण पद-प्रतिष्ठा १९४२ के 'क्विट इण्डिया' मे हुई एक निरीह नि शस्त्र दास-देश के तेजस्वी आज्ञाचक्र से विदेशो राजतन्त्र को सही और कठोर आदेश मिला, जिसकी उपेक्षा क्या सम्भव थी ?

प्राची-क्षितिज मे उठती अरुणिमा को अनदेखा रखने वाले वे 'मानवता के समतल पर चलता फिरता हो दम्भस्तूप'—कल्प अपने अहं-कार के प्रहरी, किंवा, अंग्रेजो द्वारा नवारोपित राजन्य, अपनी निरीह प्रजा के सम्मुख दुर्दान्त सिह-रूप थे वे ही अपने स्रष्टा के समक्ष स्वर्ण-शृंखल अवनतशिर दासानुदास बनते जा रहे थे। सम्राट् का 'पेज' बन जाना उनके लिये एक स्पृहणीय त्रिभुवन-सम्पदा थी। वास्तविकता पर विडम्बना का आवरण, जैसे उनकी शोभा बन गई थी। कृत्रिम दम्भ के

उन्नयन मे जहाँ उन्हे तोपो की नियत सलामी जेसे आडम्बरो का प्रमुख भाग था वही उन्हे कर्ण, भीम और बृहस्पति बताने वाली प्रशस्तियां 'लुकमानी-कुश्ते' का काम करती थी। प्राय, दरबारो के हाथी-घोडो, गायक-वादको और छत्र-चामर के विपुल तामझाम मे नाराशसी बाचने वाले नियत और वृत्ति-शोध मे आगत छन्द-कर्मियों का भी एक स्थान था कभी कभी उनकी 'बानी' और छन्दो पर राजा अपनी 'मर्जी मुताबिक' स्वीय छाप लगवा कर अनायास काव्य-धुरीण भी बन जाता था। गद्य का साहित्यिक व्यवहार शून्य प्राय था दरबारो में 'किस्सागो' होते थे जो 'दास्ताने अमीर हम्जा' या 'किस्सा अलिफलैला' जैसी रचनाओ के पाठ से कुतूहल की सृष्टि करते थे। ऐसा नही कि सुनने वाले सभी निरक्षर हो किन्तु वहाँ आँखो की सार्थकता लावण्य-भोग मे ही मानी जाती थी। वैसे अपवाद भी रहे जो उस परिवेश मे भी उदात्त विचार और कर्म से सम्पन्न थे किन्तु उनके प्रति गोरे शकालु रहते थे। इस मोह-निशा के प्रमादी अन्धकार को अब अतीत की कथा बनना था। सुतराम्, जनमानस मे सामूहिक-चेतना एक विराट् आलोडन लेने लगी, जिससे जुडा था युग के अभिव्यक्ति की भाषा का विकास। अब, आगामी जागरण की प्रभाती गा कर हिन्दी का भविष्य बनाने वाले भारतेन्दु आ चुके थे · देश और काल के विविधस्रोतों ने हिन्दी की स्वरूप-सरचना के उपादान जुटाये जिसमे वर्ग विशेष नही अपितु समग्र जनमानस की सहज अभिव्यक्ति की समूची संभावनायें विद्यमान थी। इसे सवादी परिवेश-प्रभाव-प्रसग भी मिला : यद्यपि रूढ़ि के विवादी स्वरो की कमी न थी, किन्तु वे भी उसकी प्रगति-पुष्टि मे सहायक ही सिद्ध हुए और टूटे-छूटे दुर्बल अगों को सहेजने-संभालने की हिन्दी को सुधि आती गई। अवरोध का प्रत्येक व्यवधान भाषा-शक्ति की विकास मे वरदान बना। आर्थिक-दोहन, राजनीतिक-भयादोहन एव सामाजिक-धार्मिक विडम्बनो के चलते, हुए ध्वंसो से एक नये निर्माण के लिये वाङ्मय-पुरुष जब चैतन्य-भाव के प्रति उद्यत हुआ, तब, वैसी जागरण की बेला मे उसकी बोली यदि 'खड़ी' हुई तो विस्मय क्या? निरावृत तथ्य, असहाय-व्याकुलता निराशा, आशा-प्रत्याशा, समन्वय-विद्रोह आदि द्वन्द्वो के नाना रूप-प्रकार साहित्य में आने लगे। भाषा 'दरबारो-शिकजे' और महलो के विलास-पर्यंक से छूट सामान्य स्पन्दनों के शाश्वत लय में घुल चली। अब, युग-वेदना की वास्तविक अभिव्यक्ति से लोक-मंगल का यज्ञ प्रथित होने वाला था।

आफ्रिका मे गोरो के काले-कारनामे देख-भुगत कर गाधी जी यहाँ आ चुके थे। विश्व के अन्य देशो (उपनिवेशो) में भी प्रगट अंग्रेजो के वास्तविक रूप से यहाँ भारत को परिचित और सावधान कराने वाले कदाचित् वे पहले व्यक्ति थे। यद्यपि, तिलक और गोखले की गगा-यमुना (गाधीजी के शब्दो में) भारत-भूमिपर विदेशी शासन के कलुष को प्रक्षालित करने के लिये अग्रसर हो चुकी थी तद्यपि उनके समन्वय का सगम शेष रहा, जो गाधीजी के व्यक्तित्व मे भारत को उपलब्ध हुआ। नीलकोठी वाले गोरो के अतिचार, बग-भग, बलशोई-क्राति से प्रेरणा-प्राप्त 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी' की गतिविधियाँ, 'शहादत' की उमड़ती लहरे परस्पर 'घनीभूत' होने लगी। अग्रेजो ने हवा का रुख देख 'डोमीनियनस्टेटस' और थोड़े बहुत शासकीय सुधारो का जाल फेका जिसमे जाने अनजाने कुछ बडी मछलियाँ फँस गई, प्राय वे ही जो छोटी मछलियो को निगल कर जीवित रहना चाहती थी . और जो 'ब्रिटिशरूल' का मगल कुछ निजी कारणो से चाहती थी कदाचित् उन्ही सस्कारो के वशवर्त्ती आज के अग्रेजी समर्थक वर्ग है। उन्होने जनता का नेतृत्व करने के लिये एक सस्था बना रखी थी (काग्रेस)। बोधोन्मुखी भारतीय चेतना को नियन्त्रित रखने के लिये 'ब्रिटिश' कूट-मेधा की यह सामान्य उपज थी यह तो भारत का सौभाग्य है जो इतिहास के उन क्षणो का गरल आज अमृत बन गया। किन्तु, इस सुधारवादी नेतृत्व को, जो तब शास्त्रार्थ से ही स्वराज्य चाहता था आगे चल कर स्वातन्त्र्य-सग्राम से पृथक होना पडा और स्वराज्य की उसकी परिभाषा अर्थहीन हो गई। अब मैदान में शस्त्रार्थी भी आ गये थे। भारतीय प्रजा एक 'आतिशी' मोर्चा बाध रही थी अब भारत पूर्ण स्व-राज्य से रचमात्र कम की बात सोच भी नही सकता था। पहले महायुद्ध के बाद किये गये अग्रेजो की 'वादाखिलाफी' से भारत का वह अहिंसावादी नेतृत्व भी आस्था खो चुका था जो अपनी अहिंसा को 'बालाएताक' रख अग्रेजो की ओर से युद्ध करने का भारतवासियो को निर्देश दे चुका था · आम-सैनिक-भरती के पक्ष मे बोल-डोल चुका था और भारतमाता की जय बोलते उसकी असंख्य सन्तानो की बलि आग्लहितों की वेदी पर दे चुका था।

नितराम्, हिन्दुस्तान मे प्रश्न उठा आत्म-निर्णय का और उसकी भारती (भाषा) हिन्दी में आत्माभिव्यक्ति का। यह कोई आकस्मिक संयोग नही था : उभय प्रश्नों का मूल सामूहिक-चेतना की सुषुप्ति और जागरण से जुडा था।

क्रान्ति के युग मे लोक-चेतना असाधारण रूप मे गतिशील और प्रखर हो उठती है अमामान्य और त्वरित परिवर्त्तनो के प्रतिरूप प्रक्षिप्त हो पदाथ के स्तर पर आते है : वस्तुत. क्रान्ति का मौलिक स्वरूप-सगठन उस जर्वायसी चैतस्-पीठिका से ही चलता है जिसके सन्देश वाङ्मय के माध्यम से लोक धरा पर आते है अन्य शब्दो मे क्रान्ति का द्वितीय चरण वाङ्मय-भूमि पर पडता है फिर तो वह अगति के जीर्णकाण्ड-वन की दावा बन जाती है। यदि चेतना के स्तर और वैचारिक भूमि पर मागलिक परिवर्तन की अभीप्सा का जागरण नही है तो क्रान्ति का अर्थ पाशव-सघर्ष के अतिरिक्त कुछ न होगा . इसी लिये हमारी परम्परा क्रान्ति को चेतना के स्तर पर पहले देखती है : फिर बाद मे परिणामत उसकी अन्विति पदार्थ के स्तर पर करती है। नेहरूजी ने सही कहा है—

"During a revolutionary period history seems to search with seven leaque boots There are rapid changes outwordly but an even greater change takes place in the consciousness of the masses" (Glimpses of world history)

अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता और साहित्यिक रूढियों के उच्छेद का कोई भी विकल्प अब हिन्दी को स्वीकार न था एक प्राजल गरिमा मे वह अपना परिशुद्ध रूप स्थिर कर लेना चाहती थी। साहित्य में भी विक्टोरियायी मूल्यों वाली सुधार-परक वृत्तियाँ अग्रसर थी जिसे उत्तर—भारतेन्दु और प्राक्-प्रसाद काल का विष्कम्भ कहा जा सकता है : और, जो यथार्थ पर आदर्श का आवरण डाले रखना चाहती थी। यथार्थ का प्रकटीकरण अग्रेजों को कैसे प्रिय होता, वह तो विप्लव-गर्भित था। साहित्य में वैसे विक्टोरियायी दृष्टिसम्पन्न वर्ग की उसी प्रकार समाप्ति हुई जिस प्रकार उनके सुधारवादी राजनीतिक प्रतिरूप निरस्त हुये।

अब एक साहित्यिक क्रान्ति आसन्न थी जिसमे आयातित विक्टो-रियायी मूल्यों का विरोध स्वाभाविक था। रीतिकलीन विगतार्थ वृत्तियो के प्रतिक्रिया-रूप यह वैसे ही सम्पन्न हुआ जैसे कभी वैदिक यज्ञवाद बौद्ध अहिसावाद द्वारा प्रतिकृत हुआ था। विकल्पत: सुधारवादी पक्ष की भी अपनी कुछ ऐतिहासिक सार्थकता रही : उसका भावयोग सास्कृतिक लोकयात्रा में अपना एक आवसथ रखता है : जहाँ से सामूहिक चेतना एक विराम लगाती संकल्पात्मक नवकर्म की ओर पग बढ़ाती है और विकल्प का स्थान सकल्प लेने लगता है—

मेरे विकल्प संकल्प बनें जीवन हो कर्मों की पुकार (इड़ा-कामायनी)

सुतराम्, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक बन्धनो से मुक्ति की बलवती अभीप्सा मे, भारत की दासभूत प्रजा ने अपनी इयत्ता की सहज अभिव्यक्ति मे, रावी के तट पर जैसी सकल्पमयी घोषणा की—'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हमे पूर्ण-स्वराज्य ही लेना है' वैसी ही घोषणा, विकल्प के पाश बँधे और रूढि के अकुश से बिंधे मनोमय भाव-जगत द्वारा अपनी शब्दमयी अभिव्यक्ति के अर्थ हुई। उस सामान्य-भूत भाव-जगत में काव्य के मौलिक प्रयोजनीयता का प्रश्न सर्वथा नये परिवेश मे उठा जिसके उत्तर मे काव्य के उद्भव और सहजरूप को परिभाषित करते जाह्नवी के कूल पर प्रसाद-भारती 'ने एक सूत्र दिया '**काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है**'।

समाज और साहित्य उभय स्तरो के ऐसे उन्मेष, बोधोन्मुखी-समष्टि चेतना के क्रमिक विकास के परिणाम थे, जिनका घटित होना कोई अ-क्रम-आकस्मिकता नही अपितु तारतम्य-गठित ऐतिहासिक तथ्यो की स-क्रम-निष्पत्ति के अवश्यम्भावी फल थे, जिनका मूल्य-महत्व परस्पर समान है और प्रभाव दूरव्यापी।

समष्टि-चेतना मे ज्ञान की उस अनन्य सत्ता, उसकी अभंग-धारा, उसके अद्वयमूर्त्ति की सुधि जागी . जिसे तद्यावधि एक व्यक्तिगत अवाप्ति और निजी सम्पदा के रूप से देखने की भूल की जाती थी, और वैयक्तिक अनुभूतियो के स्तर पर यदा-कदा उदित होने वाले जिस ज्ञान के अशो को मात्र दर्शन की निधि कह प्रकाण्ड पिटको मे बन्द कर दिया था। अद्यावधि-कथित दर्शन अस्ति-नास्ति-विवेक-परक-व्यायाम शेष हो रसभिन्न बना है। फिर भी 'रसो वै स' कहा जाता है · किमाश्चर्यमत परम्।

वैसे दर्शन संज्ञावाप्त स्फुरण का साहित्य से कोई तात्पर्य अथवा सम्बन्ध नही है, ऐसा कह कर तो श्रेयमय-चिन्तन की प्रेयमयी-अभिव्यक्ति-वीथी को सर्वथा वर्जित कर देना होगा। ऐसा करने से दर्शन, साहित्य और संस्कृति किसी के प्रति न्याय न होगा · ऐसी विचारधारा साहित्य की मूल-प्रयोजनीयता को अनुदात्त बनाये रखने के अर्थ उत्तर-दायी है : जिस पर दर्शन के मनीषी और साहित्य के कृती एक समन्वित चिन्तन का अभी अवकाश न पा सके यदि किसी न ध्यान दिलाया अथवा सकेत किया तो उस पर आध्यात्मिकता का चन्दन-लेप चढा देवायतन की अर्गला में डाल उसे सामान्य-स्पर्श की वस्तु बनने से रोक

दिया गया सुतराम् संस्कृति के उभय बाहु, दर्शन और साहित्य भिन्न देहसंस्थानीय बन अपने दायित्व से विमुख हो गये एक ने मणिदीप खोया दूसरे ने मधुधारा का तिरस्कार किया। वे उभय बाहु, सस्कृति को स्थिति-निष्ठ वस्तु मान इस गतिशील जगत को सूखे वृक्षो के आरक्षित वन से कटकित रखने मे ही अपना कर्त्तव्य मान बैठे· किन्तु सस्कृति चाहे जैसे परिभाषित की जाय, सस्करणो की अनवरत क्रिया मे होने वाले मार्जन में ही उसका प्राण मिलेगा : हाँ, उसकी अन्तरग-भूमि मे उस शाश्वती सत्ता को भी स्वीकार करना होगा जो सज्ञाभावेन उस क्रियापदीया सस्कृति मे मौलिक वस्तु-रूप रह सस्करणो के आरोप स्वीकार करती है : वह मानव-समाज के अन्तर्जात श्रेय और प्रेय का समन्वित-समरस और अभिशान्त संकल्प है, जिसका उदित शृंगार ही संस्कृति के रूप लेता है चाहे उसे जानपद सीमा मे घेर रखा जाय अथवा आब्रह्मस्तम्ब स्फीत कर दिया जाय। ऐसे सकल्प की सस्करण-पदा गति के रुकने का अर्थ होगा असंस्कृति की भाव-प्रतिष्ठा और किसी लघु परिसीमन का परिणाम होगा आत्मसकोच, न कि आत्म-विस्तार। फिर, अनागत से प्रत्यह वर्त्तमान मे आते रहने वाल गतिगुणो के निषेध द्वारा अतीत के विगतार्थ-प्राय को वर्त्तमान मे एकमेव सार्थकता देने का प्रसगोपात्त उपक्रम, कान्तार-कृषि तुल्य ही होगा। परिसीमनो से बहुगुणित इकाइयाँ परस्पर क्षुब्ध हो संघर्ष की भूमिका प्रस्तुत करती है तब समान क्षुत्पिपासा वाला पाणिपादमय मानव अपनी महासहति को शतधा-सहस्त्रधा विखण्डित कर कराहता है· क्वचित् भौगोलिक अव-स्थितियो से ऐतिह्य दशाओ की धरा बनती है, जिस पर ऐसे खण्डन-मेघ की वेदियाँ प्रज्वलित होती है। समाज और उसके धर्मों के नियामक अध्वर्यु-उद्गाता बनते है किन्तु, समिधा बनती है मानव की वही नैसर्गिक महासंहति : जिसके छन्द आज बिखरते जा रहे है।

ऐसे चातुरन्त अन्धकार से घिरी समष्टि-चेतना को जागरण और आलोक की महती आवश्यकता थी : वह दिशा चाहे साहित्य की हो, दर्शन की हो, राजनीति की हो अथवा समाज की अन्यान्य किसी भी प्रवृत्ति की।

ऐसे आलोक-जागरण का सन्देश प्रसाद-भारती देती है उसने बताया कि व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के न रहने पर भी सत्य या श्रेय-ज्ञान कही चला नहीं जाता वह सामान्य-स्पन्दतया सदैव विद्यमान रहता है मनन की असाधारण अवस्था किंवा विशेष-स्पन्द में सत्य की मौलिक चारु-मूर्त्ति

आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति बनती है जो काव्य का प्रयोजनीय मूल है। इसी सत्य या श्रेय-ज्ञान की किरणें नाना संस्कृतियों के दर्पण में उस मूल आलोक की ऊर्जस्वल अभिव्यक्ति करती है · यह अभिव्यक्ति सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण करती प्रेममयी होती है। ऐसी प्रतीति मे भाषा, देश और संस्कृति के भेद-भिन्न प्रत्यवाय कुछ अर्थ नही रखते। ज्ञानानुभूति के निरपेक्ष शब्दानुवेध का सज्ञान-बोध ऐसी विशिष्ट दशा मे सम्पन्न होता है जिसमें अनुभूति-केन्द्र चेतना, सर्वप्राणि-ष्वात्मतया स्थित और अभिन्न-प्रेमास्पदीभूता चित्कला से भाव-संयोजन की दशा में विहार करती है और, ऐसा सभी भेद-भिन्न सस्कारो के सम्यक्-विलयन के अनन्तर ही सम्भव है।

प्रसाद-वाङ्मय का प्रस्थान-बिन्दु, उसका क्रम-विकास और उसकी चरम-उपलब्धि का पुजीभूत कलेवर ऐसे उपादानो से गठित है जो, निष्ठा-पुष्ट, समसूत्रीय और प्राग्विविक्त है कोई पश्चाद्विचारगत-परिवर्त्तन-परावर्त्तन वहाँ अनुमेय भी नही। काव्य की मूल प्रयोजनीयता के अन्वयन मे उसके उत्स आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति तत उसकी अभिव्यक्ति के सम्प्रेषण मे भावसाक्षात्कारानुसारी वर्ण-विकल्पचय की विधायिका सृष्टि होनी अनिवार्य थी · चाहे उसे शैली या विधा अथवा कुछ भी कहा जाय। अपनी गरिमा में वैसी ओजवती सृष्टि अनन्यपेक्षिणी होने से यदि पूर्ण कही जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा। काव्य-शैली, चिन्तन के आयाम एक अभिनव आलोक में यथावत् दीपित हुए। परिणामत·, उनके ग्रहण-प्रेषण की शैली-मौलिकता स्वाभाविक थी उसी के सज्ञायन में, वस्तुत निर्विवाद को वादभुक्त बना, जाने अनजाने एक नाम दे दिया गया—**छायावाद**।

हिन्दी साहित्य में इस आगत परिवेश से अपना तादात्म्य न कर पाने से पुरातन केतुवाहकों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता से इसका विरोध किया · तब के अतिजिष्णु महारथी स्यात् अपने दुर्बलतावश छायावाद के प्रति निर्मम और असहिष्णु हो गये : यद्यपि उनके तर्क स्वोच्छेदी रहे और वह विरोध प्रायः विरोधमात्र के लिये ही सिद्ध हुआ, किसी सस्थापना के अर्थ नही। छायावाद को निकृष्ट और आयातित ठहराया गया। जब कि समीक्षा के उनके अपने सिद्धान्त विदेशीय अनुकृति रहे अथवा विगतार्थ और अमान्यीकृत कुछ रूढ मान्ताये उनके तर्क की आधार शिलाये बनी थी। वस्तुतः उन्ही लोगो ने इस नई धारा को छायावाद कहा . कदाचित् कूटत और शब्द कौशल से इसे हेय बताया गया .

कदर्थना की उनकी यह अपनी साहित्यिक 'रीति' थी। क्षेमेन्द्र ने जिन कवि-कोटियो का उल्लेख किया है उनमे छायोपजीवी पहले आते है—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी
भवेदथप्राप्तकवित्वजीवी स्वान्मेषतो वा भुवनोपजीव्य·
(कविकंठाभरण)

किसी के दुर्व्यवहार को भूल जाना अथवा उसकी उपेक्षा करना यदि सबल की क्षमाशक्ति का परिचायक हो सकता है तो दुर्बल का पलायन भी कहा जा सकता है किन्तु वैसी दशा मे, किंवा प्राप्त कदर्थना से भी एक अनुकूल सवाद-मूर्ति गढ लेना उस पर विजय की परिभाषा होगी। कामायनी दृष्टि सदैव इसी दिशा मे देखती है 'कौन उपाय गरल को कैसे अमृत बना पावेगा'। 'विषमप्यमृतायते' की साधना मे 'निखिल विश्व का विष' पीने वाले की करुणा से ही 'सृष्टि जियेगी फिर से' और 'विजयिनी मानवता हो जाय' : चरितार्थ होगा सुतराम छायावाद के कदर्थनाकारी सज्ञायन को प्रसाद-भारती से एक अभिजात अर्थवत्ता मिली जिसे इस संज्ञायन अथवा नाम निरूपण का समर्थन नही अपितु विष का अमृतीकरण कहना अधिक समीचीन रहेगा। निश्चय ही, प्रसाद-वाङ्मय में प्राप्त छायावाद नाम की व्याख्या उसकी स्वीकृति के अर्थ मे ले लेना, भूल है। उसे तो प्राप्त विष में अमृतत्व देखने की चिन्ता है किसी समर्थन-प्रत्याख्यान की नही। वहाँ जीवन-दृष्टि यज्ञ-पुरुषी है · रचनात्मक कर्मरत है जो 'क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल' की ओर हो लगी है। एवविध हिन्दी साहित्य मे प्रवहमान इस भागीरथी के छायावाद-संज्ञायन-रूप गरल को अमृत रूप मे ग्रहण करने का उपक्रम है न कि प्रसाद-भारती द्वारा उसका अनुमोदन। चेतना के वैसे धरातल पर जिससे प्रसाद-भारती का आविर्भाव सम्भव है चार और उच्चार किंवा सिद्धान्त एव व्यवहार अनन्य ही रहेगे। निबन्धो मे जो सिद्धान्त-पक्ष उदित है वही काव्य मे प्रतिफलित है . व्यवहृत है।

भारतीय साहित्य मे विशेषत·, और अन्य मे भी सामान्यत· स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति विजातीय नही · हाँ, कही वह लुप्त-विस्मृत और कही उन्मिष्ट हो प्रत्यभिज्ञात होती है। हिन्दी साहित्य का यह मोड़ कुछ वैसे ही प्रत्यभिज्ञान का है।

यथार्थवाद और छायावाद शीर्षक निबन्ध मे स्पष्ट किया गया है कि अभिव्यक्ति की यह विधा पूर्णत. अपनी और भारतीय ही है।

नादात्मक-वागात्मक तत· विश्व-छन्द मे परिणत ज्ञान और उसकी बोधात्मकता किसी पुरुष-विशेष अथवा देश-विशेष की निजी सम्पदा नही . उसका स्वरूप पूर्ण, अभग और अद्वय है। उसके चिदाकाशमय स्वाग पर यह विश्व, आलेख्य और आलिखित होता है। वह ध्रुव भी है धारा भी और प्रसाद-भारती की आँखो का अपने प्रेयमय कलेवर में श्रेयात्मक सत्ता-चैतन्य वियद्व्यापी 'ध्रुवतारा' भी।

किन्तु आश्चर्य है, 'एकमेवाद्वितीयम्' के आलोक मे 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' ही नही 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' भी कहने वालो की सन्तति अहकृति-पाश से निजस्व की महाव्याप्ति को लघु-परिसीमनो के खूँटे बाँध, आज विश्व-कल्याण की बाते करती यज्ञ रचती है फलत , देश-विग्रह-जाति-विग्रह की कृत्रिम सीमाओ ने समष्टि-चेतना की गाड़ी के आगे काठ रख दिया है। और, आज नरस्थ नारायण सर्वथा उपेक्षित है और, प्रस्तरीभूत-पाषाण-कल्प वैकुण्ठवासी आराध्य बन बैठे है। यह देख प्रसाद-भारतो को कहना पड़ गया, 'ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहै, जो नहि करत, सुनत नहि जो कछु, जो जन पीर न हरिहै' (मकरन्द-बिन्दु, चित्राधार)। उसकी एकमेव दृष्टि 'जनपीर' किंवा विश्व की दुखावेदना पर आदित रही है, और उसी के उपचार-सहिता रूप, 'दुख-दग्ध जगत और आनन्द पूर्ण स्वर्ग' को एकीकृत करने मे तत्पर समूचा प्रसाद-वाग्मय प्रस्तुत है।

अस्तु, वैश्वदेव की वैश्वानरी अर्चियो के सवाद ग्रहण करने की क्षमता का जब सम्पूर्ण निर्यात हो गया तब किसी भी लुप्त-विस्मृत भाव परम्परा अथवा अभिव्यक्ति-शैली को आयातित ठहराना वैसी कुण्ठा में कितना सरल होगा, यह बताने की आवश्यकता नही। ऐसी दशा मे, इस नई काव्य-धारा के मूल स्रोत के प्रति इगित मे कहा गया — 'कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब **वेदना** के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया'—'बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कविकर्म प्रेरित हुआ' (यथार्थवाद और छायावाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)। वेदना का पूर्वचर्चित प्रसग इस उद्धरण के आलोक मे भी ध्यातव्य है।

पुनरपि, यहाँ कहना होगा कि इस उल्लेख का तात्पर्य छायावाद नाम से अभिहित इस नई धारा के वस्तु-तत्व, स्रोत-तत्व और प्रेरक-

तत्व को परिभाषित करता है उसमें आधेय की निरपेक्ष मीमांसा का यहाँ प्रकरण है · नाम के समर्थन का प्रसग नही। फिर जहाँ बाह्य उपाधि से हट कर कविकर्म के आन्तर हेतु की ओर उन्मुख होने की बात है वहाँ उपाधि या नाम कुछ भी हो, उससे 'कवि' को क्या लेना देना, जिसका केवल शाब्दव्यवहारी मूल्य है · विकल्पमम बाह्योपादान से उपरत हो सकल्पमय आन्तर-निमित्त के अनुशीलन मे, नाम और प्रथनपरक वितर्क धरातलीय प्रत्यवाय के अतिरिक्त कुछ नही ठहरते।

कविकर्म और काव्य के विशुद्ध-सत्व की यहाँ प्राप्त व्याकृति किसी भी भाषा के लिये ममनीय है : अनुभूति और अभिव्यक्ति के प्रसग सार्वभौम रहते है। नई कविता-धारा की मीरॉ को ऐसो तिरस्कृति में मिला यह छायावाद नाम उसके लिये 'राणा का विषयप्याला' बना जिसे पीकर वह आमूलचूल मुखर हो उठी . उमके रोम-रोम से नूपुर की ध्वनि आने लगी। नये छन्दों मे आन्तरहेतू से जुडे हृत्कोपीयस्पन्दनो की छाया उतर पडी और, अभिव्यक्ति की इस विधा के 'तरुतले', 'धधकती मरुज्वाला' मे मानवी-सवेदना को छाया मिली · इस अर्थ मे यह छायावाद नाम भी क्या बुरा रहा।

श्रद्धेय पन्त जी इस नाम-सन्दर्भ में लक्ष्मण के आक्रोश से आविष्ट-प्राय हो कहते है—'आगे हम भी इस युग की कविता के लिये इतिहास के पृष्ठो पर बलपूर्वक अंकित इस छायावाद शब्द का ही प्रयोग करेंगे। जिस प्रकार वाल्मीकि उल्टा नाम रटकर ब्रह्म के समान हो गये उसी प्रकार काव्य मे उस युग की ज्योति छाया बन कर हिन्दी साहित्य को सर्वसम्पन्न करने में सफल हुई और छायावाद युग को हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तियुग के बाद दूसरा गौरव-स्थान प्राप्त हो सका'। किन्तु, लक्ष्मण अपने आक्रोश में शर-हस्त रहे जब कि श्रद्धेय पन्त जी शर-त्यक्त हो बेबसी की झुँझलाहट में छायावाद का केवल शाब्दिक परिशीलन कर उसे ज्योति की छाया के रूप में देखते है। ज्योति का प्रतिबिम्ब उसे और ऊर्जस्वल बनायेगा जबकि छाया मे ज्योति का आपेक्षिक निषेध रहेगा। कदाचित् यहाँ आशय काव्य के मुकुर में युग-ज्योति के प्रतिबिम्बित होने का हो सकता है · कुछ पाने, अनुकारणा और अनुरणन का भी अभिप्राय सम्भव है। फिर यह जिज्ञासा उठती है कि कवि को या काव्य को युग से पाना ही है कुछ देना नही ? यह तो काव्य की स्वतन्त्र अवस्था और उसके स्वस्थ विकास का ही नही अपितु उसकी प्रयोजनीयता का भी निषेध होगा। इससे तो यही बोध होता

है कि कभी नरेशों सामन्तों की चकाचौध से जो काव्य प्रग्रहीत था अब उसका सयमन युगाधीन हो गया, आज वस्तुत: कुछ ऐसा ही है, ऐसा होकर युगाश्रित काव्य केवल उसका परिचारक अथवा चारण बना है जो कुछ देने की स्थिति मे न हो केवल हाथ पसारे लेने की और दाता की जयकार मनाने की ही उसकी दशा है। नही काव्य, भावजगत का नियामक है सूर्य की भाँति ही उसे युग और लोक से रसग्रहण कर उसके कल्याण के लिये उसमे अपना प्रातिभ ओज ढाल, अपना सब कुछ निचोड कर बरसा देना चाहिये उसे दुखदग्ध जगत पर आनन्द पूर्ण स्वर्ग की अवतारणा करनी है। सस्कृति का निर्माण छन्दो के अधीन है, शासनादेशो के नही।

'इस युग की कविता' को 'इस युग' के किसी कृती ने तो कोई नाम दिया नही फिर धरती पर पैर रखते अच्छा-बुरा जो भी नाम मिला उसे स्वीकार कर लोकयात्रा करनी थी अथवा अपनी रुचि के किसी नाम की घोषणा कर देनी थी। वैसे किसी जातक ने अपना नामकरण किया हो इसका उदाहरण नही मिलता। अस्तु, इसी प्रकार 'इस युग की कविता' के प्रवर्त्तन का एक 'सतही सवाल' उठाया जाता है। जब 'आर्द्रज्वलति ज्योतिरहमस्मि' की परम्परा में यह कविता आती है तब प्रवर्त्तन का प्रश्न कहाँ, हाँ अनुवर्त्तन की बात तो कही जा सकती है अथवा पुर्नजागरण की। तो, इस निसर्गोज्वल काव्य भागीरथी की अवधारणा और उसके लोकोन्मुखी प्रवाह की सामर्थ्य कहाँ थी : यह चिन्त्य बन सकता है।

हिन्दी के अध्येता के समक्ष महत्व का प्रश्न यह नही कि 'इस युग की कविता' का, जिसने छायावाद नाम पाया, प्रवर्त्तक कौन था। ज्ञानाभूति को निजी सम्पदा मानकर चलने पर भी यह प्रसग केवल तिथिक्रमो के अधिष्ठान वाले इतिहास की शोभा बढा सकता है। सस्कृति और साहित्य की दृष्टि से तो महत्व का प्रश्न यह है कि अभिव्यंजना की इस शैली के उदात्त-मानक की स्थापना कहाँ हुई, 'काव्य को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' की अर्थवत्ता कहाँ मिली, किससे मिली, यह भी एक आनुषगिक विचार का ही स्थल, अथवा गौण प्रश्न होगा · आराध्य प्रसग नही। मानव का प्रथम कलेवर 'कौन गठित हुआ और कहाँ है उसकी प्रस्तरी-भूत अस्थिपजर यह ढूँढ़ने मे सन्-सवत् की बखिया उधेडने से तात्पर्य वस्तुत प्रत्न-गवेषो का ही अधिक होगा साहित्य का प्रयोजन तो उस भाव-देह, रस-देह और शिवमय-तनु के

शोध से है जो युगव्यापी विष-वेदना पचा कर एक ऐसा सुधामय सन्देश दे गया जिसमे युग-समस्या का समाधान प्रस्तुत हुआ हो और 'भव के भविष्य का द्वार' एक मगलमयी दिशा म खुलता हो : ओर जो, समष्टि चेतना के समग्र प्रवाह के उस मोड को अकस्थ कर सका हो जिसके परिणामस्वरूपसंसृति के नये आयाम देखने की शक्ति मिलती है। खण्डानुभूतियो के अभ्यासपूर्वक और सायास शब्द-चमत्कार का मूल्य अतिक्रान्ति और उत्क्रान्ति की इस प्रखर-गति मे शून्यांक से आगे बढता ही नही, फिर प्रवर्तन-प्रसगी पूर्वापर-विवेक उसे कौन-सा जयकिरीट पहना देगा ? परम्पराक्रम मे शीर्षभागी होने की अग्रपिण्ड पाने की अहमअहमिका या तो वस्तुस्थिति की उपेक्षा कराती है अथवा उसका गोपन। प्रसाद-वाङ्मय का वर्चस्व श्रद्धयानुभूत के छवि की। वह अभग-धारा है जिसे न तो कूल बदलने पड़े न अन्त सलिला ही होना पड़ा। वह कामायनी का मनु ही तो है जो प्रेमपथिक बन कर चला और प्राय तीस वर्षों तक सुनिश्चित पथ पर चल अपने 'ध्रुवतारा' की ओर असम्प्रमुष्ट-चार से बढ़ता गया।

इस पथ का उद्देश्य नही है श्रान्तभवन मे टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्दभूमि में जिसकी सीमा कही नही

(प्रेम पथिक)

और पथिक वस्तुतः वही पहुँचा जहाँ—'चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था'।

कवि को भाषा का वेतन-भोगी लिपिक मान बैठना उचित नही। उसका काम तो अनुभूति के अनुकार देना है। इसमें जहाँ भी सुविधा मिले कलम उठाने के लिये वह स्वतन्त्र है। जहाँ ब्रजभाषा शब्द प्रयुक्त होता है वहाँ अभिप्राय ब्रजभूमि की हिन्दी से ही है, किसी अन्य भाषा से नही। एक समय था जब हिन्दी को भाषा कहा जाता था। 'भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति कह गुसाईं जी ने रामायण को भाषा हिन्दी के एक स्वरूप-विशेष की ओर ही इंगित किया है फिर ब्रजभषा का स्थान जब खड़ी बोली ने लिया तब उसे खड़ी भाषा क्यो नहीं कहा गया। इसका कारण यह था कि संस्कृतभाषी समाज जो हिन्दी को भाषा कहता था, हिन्दी में घुल गया था · अत. हिन्दी का पर्याय भाषा नही रह गया। किन्तु ब्रजभाषा ब्रज की बोली के लिये एक रूढ़ शब्द बन गया,

वह हिन्दी ही है, हिन्दी का एक स्पृहणीय रूप ही है जिसकी अन्योक्तियाँ अन्यत्र विरल है। उसे अस्पृश्य क्यो माना जाय और आभिज्यात्य के व्यासपीठ से यह कहा जाय कि 'चूँकि छायावादी पीढ़ी में प्रसाद जी ने सर्वप्रथम ब्रजभाषा की निब उतार कर उत्तरद्विवेदी कालीन काव्य लिखना प्रारम्भ किया इसलिये उन्ही को छायावाद का प्रवर्तक मानना सुविधाजनक हो तो दूसरी बात है' · कहते बनता है कि 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है'। सुतराम, प्रवर्तन-प्रसंगी ऊहापोह अतात्विक है रह गई बात निब उतारने-चढाने की वह तो घिसने-पिटने पर बदलनी ही पडती है, हाँ कलम 'मजबूत' होनी चाहिये जिसमें उसे कलेवर न बदलना पडे। वैसे वह 'निब' साभिप्राय 'मकरन्दबिन्दु' के रूप मे अधुनापि रक्षित है · और उसके विसर्जन की हेतु-कथा चित्राधार की विसर्जन कविता में ही प्राप्त है।

जाहु विस्मृति अस्तशैल निवास को चित चाहि।
शान्ति की नव अरुणक्रान्ति प्रकशिहै हिय माहि॥

कार्त्तिक सवत् १९६७ के इन्दु में प्रकाशित ये पक्तियाँ जहाँ उस 'निब' के उतारे जाने की पूर्व घोषणा सी है वही विस्मृति में डूबे भारतीय लोकायतन में शान्तिपूर्ण क्रान्ति के अवश्यम्भावी अरुण-प्रकाश की बात भी कह देती है। सन् १९१०-११ के भारत के परिप्रेक्ष्य मे यह उक्ति द्रष्टव्य है। और जहाँ तक 'दर्शन' का संश्लेष है उस सन्दर्भ मे भी विस्मृति के विक्षेप-आवरण निरस्त हो स्वरूप-विश्रान्ति की प्रत्यभिज्ञा होने का यहाँ क्या एक सहज सकेत नहीं ?

आवश्यक नही कि साहित्य का इतिहास लिखते समय तात्विक मीमांसा की दृष्टि भी प्रस्तुत और अनाविल रहे, अभ्रान्त रहे : जिससे मान्यता की आधारशिला को विच्युत और परिवर्त्तित न होना पड़े। वैसे इतिहास का काम वस्तुत विकास क्रम की एक तालिका बना देना है · सन्तुलित और निरपेक्ष-समीक्षा भी वहाँ प्रस्तुत हो ऐसी अपेक्षा न होनी चाहिये। किन्तु कठिनाई तब होती है जब साग्रह-सापेक्ष और अ-व्यापक दृष्टि और समीक्षा के अ-व्यवहरणीय-विजातीय सिद्धान्त परस्पर संगठित हो ऐसी साहित्य-सत्ता की मीमासा का आग्रह करते है जिसकी मौलिक-दृष्टि से ही उनका विरोध है अथवा उसे ग्रहण करने मे वे अक्षम है। अन्य

देशीय समीक्षा के मानक तत्तद्देशीय साहित्य और जीवन-दृष्टि की भित्ति पर, एक विशेष सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे स्थिर और आचरित हुये। साहित्य-परक शाब्द-व्यवहार तथा तद्गत-भावसयोजन के पीछे तद्देशीय आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक ऐतिहासिक परम्परायें सक्रिय रहती है : उन्हे अन्य परिभूमिका मे आरोपित कर ईप्सित फलावाप्ति की आशा निश्चय ही अनाराध्य होगी। एक के सिद्धान्त से अन्य का व्यवहार और अन्य के व्यवहार से किसी अन्य का सिद्धान्त स्थिर करना असगति की सगति बैठाने जैसा निष्फल प्रयास होगा। पश्चिम की साहित्य चेतना का हिम-दग्ध कमल दुखान्त मे सफलता से अभिरमण करता है जब कि पूर्व का भाव-सहस्रार हिमह्रास के अनन्तर 'वसन्त के दूत' को पुकार मे, उसके आनन्द-कूजन मे आस्थावान है, अतएव मुखान्त ही वहाँ आराध्य है। बौद्ध दुखवादी विचार से अनुरजित उत्तररामचरितम् करुणा से आप्लावित रह कर भो सुख-पर्यवसित होने को इसी लिये बाध्य है · यह जीवन-दृष्टि की अनन्यता का परिणाम है। एक पश्चिम की विरागमयी सन्ध्या है तो दूसरा प्राची का रागारुण अरुणोदय कर्म के दिनान्त पर एक निराशा का नैश-हिमपात देखता है तो दूसरा उषा के सुनहले आलोक मे अरणि-मन्थन कर लोकाग्नि को प्रदीप्त रखने मे विश्वास रखता है। क्षणगत विनष्टि और अवसाद को, परवशता मे एक चिरत्व दे बैठता है तो दूसरा उसके अन्तराल मे स्थिर मगल देखता है!

साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक-न्याय और विश्वमागल्य के अर्थ जो वाङ्मय दुखदग्ध-जगत और आनन्दपूर्ण-स्वर्ग के एकोकरण का संकल्प लेता है उसे जगत की ज्वाला और स्वर्ग के सोम का समन्वयन-संयोजन करना ही पड़ता है. जिसमें सोम का तरल शीत और ज्वाला का 'घनीभूत' दाह परस्परानुप्रविष्ट हो सघन ज्योति का एक पुंजीभूत महाकलेवर गढ़ देते है : जो नमनीय ओर कमनीय होता है। तभी तो शाकुन्तल मे इन्हे एकत्र देख सहसा साहित्य की इस शाश्वत प्रयोज-नीयता को पा, उल्लास मे गेटे ने कहा—

Would'st thou see sparing's blossoms & the fruits of decline
would'st thou see by what the souls enraptured feasted fed
would'st thou have this earth & heaven in one sole name combine
I name thee O' Soukoontala · and all atonee is said.

काव्यशास्त्रीय नियम और मर्यादायें अपेक्षाकृत संस्कृत-विकसित

समाज के सन्दर्भ में प्रस्तुत क्वचित् रूढि और संस्कारों की सन्तति हैं। ससृति की लम्बी विकास-प्रक्रिया की परिणति मे, मनुज की प्रागावस्था से ही उसके अगभूत रहे भावशरीरों का उतार चढाव, जिस पट पर उरेहा गया हो और जो मानवी सस्कृति के आदिम और मूलभूत प्रसग-प्रस्तार ले कर चला हो, वैसे साहित्य की मीमांसा, बहुत बाद बने नियमों के मानक से करने मे साहित्यिक न्याय कहाँ तक सम्भव होगा ?

किन्तु प्रसाद-वाङ्मय और विशेषत कामायनी के साथ ऐसा ही हुआ है। किंबहुना, यह मान कर कि कोई तीव्रविष दे कर कामायनी की हत्या की गई है, लोकायतिक विश्लेषण-दक्ष शल्यधरों द्वारा समाज-शास्त्रीय कारखाने में बने 'पैने औजारो' से उसका 'पोस्टमार्टम' हुआ और 'जाँच रिपोर्ट मे बुर्जुआ-विष' का पाया जाना लिख दिया गया : उसके आधार पर कवि को 'मुलजिम करार दे' लोक-न्यालय के साहित्यिक-खण्डपीठ में मुकदमा 'दायर' हो गया : किन्तु, डाक्टरों की बराबर एक दूसरे के 'खिलाफ रिपोर्टों की आमद मे फैसला मुल्तवी' होता आ रहा है · और उधर उस 'आपरेशन-थियेटर' में भी कामायनी अपने पिता के वाक्य गुनगुनाती जा रही है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड देह मात्र
सौन्दर्य्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र

रीतिकालिक और अलकरणमूलक साहित्य का पश्चात्भाव खड़ी बोली के प्रारम्भिक दिनो में यद्यपि क्षीण हो चला था फिर भी साहित्य के प्रति दृष्टि और उसे ग्रहण करने, समझने-परखने की पद्धति मे अपेक्षित और विक्रान्त परिवर्तन तब नही हो पाया था। अवसान की ओर झुकी सामन्त-युगीन नाराशसियो, इतिवृत्त-परक, विकल्पात्मक वस्तु-निष्ठ (किन्तु पदार्थ के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि से रहित) उन्नीसवी और बीसवी शती के सक्रमण-कालीन साहित्य की पिघलती धातु को समीक्षा के पश्चिमीय साँचे मे ढाल कर भारतीयता का ठप्पा लगाने का उपक्रम समीक्षा के अर्थ श्लाध्य माना जा रहा था · अन्य देशीय समीक्षाचार्यों के उद्धरणो से अनुकूलित स्थापनाओं का वह युग था और उसमें प्रच्छन्न थी अपनी सस्कृति और दृष्टि-परम्परा के प्रति अल्पज्ञता या अनभिज्ञता अथवा उपेक्षा। परिणाम यह हुआ कि पश्चिम को प्राप्त किसी भारतीय विचारधारा का यदि भारत में पुनर्जागरण हुआ तो विक्टोरियायी मूल्यों से प्रभावित देशीय इतराचार्यों ने आयातित होने

की व्यवस्था दे दी। और फिर खण्डन के अर्थ खण्डन और मण्डन के अर्थ मण्डन चलने लगा।

सुतराम्, सहृदयता की रसास्वाद-भूमि पर पूर्वाग्रहों के शल्यधारी समीक्षण प्रभुता पा गये। जब सहृदयता का स्थान असन्तुलित और एकांगी, साग्रह ओर सापेक्ष समीक्षा ले लेती है · तब प्रख्या और उपाख्या के समन्वय की साहित्यिक न्याय-तुला निरर्थक हो जाती है और वस्तु-ग्रहण की अन-अनुकूल प्रक्रिया काव्य-बोध को भी ले डूबती है। हार्द-सकल्प की मीड बौद्धिक-हुँकार मे विलीन हो जाती है . तब कवि और सहृदय के मध्य समीक्षा की ऐसी प्रक्रिया हठागत अतिथि बन जाती है काव्य-बोध को उसकी सात्विकी दृष्टि से ग्रहण करने कराने के स्थान पर, समीक्षा छन्द-पिंगल के वर्म-सन्नाह पूर्वक अन्य देशीय सिद्धान्त-शल्य ले अग्रसर हो जाती है : और तब, साहित्य की अरण्यानी मे बौद्धिक हंकवा होने लगता है, रस का विनिमय नही · जो साहित्य का सकल्पित प्राप्य है।

बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है।
बुद्धि उसी ऋण को सब से ले सदा भरा करती है॥
मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
बुद्धि-दैव-बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना॥
(कर्म-कामायनी)

काव्य निर्विवाद वस्तु है। अपनी बोध-भूमि और प्राप्य अपना स्वारस्य और तथता न्यून कर, मौलिक इयत्ता और सहज प्रयोजनीयता से रहित होकर ही काव्य किसी वाद के अधीन होगा : और ऐसी दशा उसके मूल-प्रयोजन की उपपादिका नही अपितु प्रत्यवायिनी है। ग्रसमान या ग्रस्त काव्य रसमान या रस्य न होगा . काव्य-करेणु बिना अंकुश चलता है। वाद का भारवाही बन कर काव्य मूल-प्रयोजन से परे और संकल्प-च्युत हो जाता है। फिर उसे सर्व-सामान्य—अभग-लोकात्मा के संवेदनों की वह भाषा भूल जाती है जो उसका अनन्य और शाश्वत-नीड़-निकेत है · परिणामतः आरूढ-वाद का अधिवक्ता बन जाता है और लोक-मानस की अविकल छवि फिर काव्य के वैसे धूमिल मुकुर में नहीं उतर पाती।

अनुभूति को भी किसी वाद के बैसाखी की आवश्यकता नही : उसके उदयास्त निर्विवाद होते रहते है : किंबहुना उसके आधार पर वादों की मूर्तियाँ बना - बिगड़ा करती हैं। वाद की तो बात दूर भाषा

और शैली भी काव्य के साधन-मात्र है, साध्य नही। साध्य, कथ्य-वस्तु और उसका भाव-सन्देश ही रहेगा। गौतम बुद्ध ने धर्म की परिभाषा मे जो उक्ति दी है भाषा और शैली पर भी घटित है वे पार उतरने-गन्तव्य पर पहुँचने तक नौका समान है, न कि सिर पर लाद कर ढोने के लिये। गन्तव्य पर पहुँचते-पहुँचते सारस्वत रानी इड़ा भी बोल देती है—'वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि उत्सर्ग करेंगे जाकर'।

अथच, समग्र छन्दोबद्ध वाङ्मय को विशुद्ध काव्य-कोटि मे नही लिया जा सकेगा। इति-वृत्त-परक, समस्या-पूरक एवं तत्तलीय शब्द-शिल्पो की काव्यवत्ता : कला-कोटि मे ही रक्षणीय है। कला अशात्मिका है · उस अकलित महिमावान अकाल की सीमा से वह पर्याप्त दूर है जिससे अधिवासित विशुद्ध-काव्य जरा-मरण के अतीत रहता है। कला-कोटि वाले काव्य विद्याधीन है—विकल्प-गुणित है · और वह, सकल्प-गुणित एवं स्वाधीन है।

संकुचित असीम अमोघ शक्ति[1]
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी-सी महासक्ति।
व्यापकता नियति-प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द,
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।
कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया-सी ललित-कला,
नित्यता विभाजित हो पल-पल मे काल निरन्तर चले ढला।
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति।
हो विफल तर्क से भरी युक्ति। (इडा-कामायनी)

कला-कोटि वाली प्रस्तुतियाँ, ललित-मूर्त कलाओं की भाँति अल्पायुषी मृच्छिल्प की आकृतियाँ कही जा सकती है संकल्पात्मिका अनुभूति के सुवर्ण से ढली प्रतिभामयी काव्य-प्रतिमा नही। उन्हे, अनुभूति की उद्रिक्तावस्था में हृद्गुहागत सत्य के प्रकटीकरण किंवा उन्मीलन के अर्थ कथमपि नही लिया जा सकेगा। अनुभूति-प्रधान एक असाधारण मननात्मक अवस्था में श्रेय-सत्य जो प्रेय-कल्प ग्रहण करता है वही

---

१ सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्व पूर्णत्व नित्यत्व व्यापकत्व शक्तय सकोच गृह्णाना यथा क्रम कला-विद्या राग काल नियति रूपतया भान्ति।

(प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र ९ की टीका)

काव्य-कोटि की सम्पत्ति है वह सम्पूर्ण-कल्प होता है, खण्ड-
। विकल्प-अथवा विकृत-कल्प नहीं। सकल्पमयता मे ओत-प्रोत
कल्पन कवि के अधिकार मे रहता है जो अपने मनोमय, भावमय
किवा सकल्पमय जगत का स्वामी होता है। मनन की असाधारण ऊर्जा
मे सत्य का आलोक होता है मिथ्या का अन्धकार नहीं। आज, कल्पना
कहते ही सत्य से पृथक किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है यह
विवेक-प्रधान-धारा का प्रभाव है जो सशय की तुला पर तर्कों के बाट से
सत्य को तोलना चाहती है। एक दुराराध्य परोक्ष-वस्तु मानने के आग्रह
मे सत्य को गुहागत, अगम-अगोचर कह उसकी व्यावहारिकता समाप्त कर
दी जाती है। सुतराम्, सत्य एक बौद्धिक-व्यायाम का स्थल हो जाता है।

और सत्य यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है
मेधा के क्रीडा पजर का पाला हुआ सुआ है (कर्म-कामायनी)

वस्तुत, इयमेव-सत् सत्यम् है जो मगलमय-श्रेय (शिवम्) और
आनन्दमय-प्रेय (सुन्दरम्) से अपने समन्वित रूप मे श्रत्—धा द्वारा
प्रापणीय है—'श्रद्धयासत्यमाप्यते' (वाजसनेयी)। ध्यातव्य होगा कि
यूनानी परम्परा मे श्रद्धा का एक भावाश, ग्रीक शब्द क्रेडो और लेटिन
तद्भावार्थी क्रेडिटम मे भी, श्रत्–धा मे अवधारित और 'सामूहिक
चेतना' में घुला-मिला वह भावचैतन्य, धातुरूपेण प्रतिष्ठित है. जो,
शब्द-व्यवहारपूर्वक नाना भूखण्डों मे अधुनापि विद्यमान और वेद्यमान
है। एवविध यह श्रद्धा मानव-समाज की सस्कृति और सभ्यता के लिये
पीयूष-स्रोत है। कदाचित् उसके मूर्त्त और साकार करने मे 'दृढ सकल
सुकुमारता में रम्य नारी मूर्ति' ही सक्षम है और पुरुष के लिये तो वह
भाव आराध्य है प्रापणीय है (श्रद्धा पुण्य-प्राप्य है मेरी) इस सत्याप्यायन
के निर्वचन में कहा गया—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजतनग पगतल में
पीयूषस्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल मे
(लज्जा-कामायनी)

इस सार्वायुष और सार्वभौम मर्म को देश, काल, वर्ग और जाति की
सीमाओं में बाँध कर देखने में उसकी स्वतन्त्रता, उपादेयता और
नियामकता उपहत होगी। सुधीजन इस पर ध्यान दे।

कल्पना भाव शरीरिणी होती है : जो मनन के आवेग तरंगो के
तारतम्य से क्षीण या पीन तो हो सकती है किन्तु सर्वथा सारहीन नही।

'कल्पना यदि मृषेतिभाषिता धारणा फलति केन हेतुना'। सुतराम्, काव्य से तात्पर्य यहाँ ऐसे वाङ्मय-विशेष से है जो अनुभूति को सहज अभिव्यक्ति देकर मौलिक समस्याओ की युगाकृतियों के अनायास हल प्रस्तुत करता हो। यह कवि गत संवेदनशीलता एव भाव-प्रवणता पर निर्भर है कि समस्या के स्वानुभूतिमय ग्रहण-प्रेषण की दिशा में उसकी करुणामयी दृष्टि का युगबोध से कहाँ तक साधारणीकरण हो पाया . और, रस-सत्ता का उसके दहराकाश में समुदय किस कोटि का है। किबहुना, उसकी अनुभूति सहज-स्वोदित है अथवा आरोपित और कृत्रिम। साथ ही उसमें रस-सत्ता की चक्रनेमि को उसकी नाभि से सयुक्त रखने वाली अराये (नवरस) धन-विरल तो नही ?

> भावचक्र यह चला रही है इच्छा की रथनाभि घूमती
> नवरस भरी अरायें अविरल चक्रवाल को चकित चूमती

तब, ज्ञान और क्रिया के ऐश्वर्य से सम्पन्न इच्छामय-चैतन्य कवि के भाव-शरीर मे निविष्ट होता है जिसकी विमर्श-भूमि पश्यन्ती से मध्यमा मे अधिष्ठान ग्रहण करती है और वहाँ 'जीवन की मध्यभूमि' 'रस धारा से सिंचित होती है, जहाँ'—

> चिरवसन्त का यह उद्गम है पतझर होता एक ओर है
> अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं सुख दुख बँधते एक डोर है

वेदना के केवलीकृत रहने से वहाँ भिन्नार्थी और वर्गीकृत सुखदुखादि के भाव नही। वाक् और अर्थ का स्फुरित होकर भी परस्पर मिलित रहना मध्यमा की अपनी विशेषता है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' 'वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये' के उपक्रम मे कल्पना वहाँ अनुभूति के पर्यायरूप सकल्पात्मक स्तर पर विहार करती है · जिसे प्रत्यक्ष होता है—

> घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चलचित्रों सी ससृति छाया
> जिस आलोक बिन्दु को घेरे वह बैठी मुसक्याती माया

यहाँ एक निकष है जिस पर काव्य-निष्ठा और उसे ग्रहण करने की समर्थता के सुवर्ण-रजत कसे जा सकते है : तथा च, एवविध उन्मीलित वाङ्मय स्वभावतया मन्त्रगरिमा से मण्डित होता है अर्थात् उसमें मन्त्र के उभय चरण मनन और त्राण किवा लोक-चिन्तन और लोक-मंगल, अनायास भावेन प्रतिष्ठित रहते है।

किसी वादसीमा मे काव्य के प्रग्रहीत होने से क्या ऐसा सम्भव है ?

अभिव्यक्ति की प्राचीनतम वाङ्मयी विधा काव्य है, जो देश-काल से अवच्छिन्न और वाधित नही। जीवन और भूगोल-परक विभिन्नताओं के चलते काव्य के उच्चार और लिपि की भाषाये तो अनेक है किन्तु अनुभूति की भाषा समग्र विश्व की एक ही है। कौन जाने समष्टि-चेतना के विकास म कोई ऐसा क्षण भी आ जाय जब मानव अनुभूति की भाषा बोलने और समझने लगे और आज की नाना वर्ण-विकल्प-मयी लिपियों का स्थान समग्र-भावचय-गर्भित सकल्प की एक अवर्णलिपि ले ले जिसके अक्षर वस्तुत अ-क्षर हों। अध्यात्म और अधिभूत किंवा जड और चैतन्य के अर्थ-मूल्य तब भिन्न न होंगे उनका एक अद्वय-भाव-गत महामिलन होगा। आज विज्ञान के क्षेत्र मे उठती तत्व-जिज्ञासा की लहरी किसी दिन उत्ताल तरग बन ऐसी कल्पना को साकार कर सकती है। फिर क्या नानाविध कृत्रिम और मानव-दृष्टि के कुंचनों से खिची सीमा-रेखाएँ और उनके आग्रह-विग्रह विद्यमान रह सकेगे ? चेतना के भौतिक विभाजन की महानिशा का अवसान उस एकस्वरा अनुभूति की भाषा के जागरण से असम्भव नही, सयोज्य है—

चेतनता का भौतिक विभाग
कर जग को बाँट दिया विराग
चिति का स्वरूप यह नित्यजगत
वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह-मिलनमय नृत्य निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत
तल्लीन पूर्ण है एक राग
झंकृत है केवल 'जाग जाग'

आन्तर-स्पर्श के ग्रहण-प्रसारण की प्रक्रिया भी अनेक नही। सुतराम् वैसे वाङ्मय का प्रयोजन सार्वभौम और सार्वायुष होगा जिसमें अनुभूति की भाषा जागृत रह कर बैखरी मे मुखर होती है। भावों की प्रवणता को प्रखर बनाने में जहाँ शब्द साधन होते हैं वहाँ शब्दों का गुम्फन साध्य नहीं होगा। छन्द-व्याकरण के व्यास और अर्द्धव्यास-यन्त्रों को ले भाव-प्रवणता और अनुभूति-निष्ठा का परिमापन भी सम्भव नही, किन्तु, उस समीक्षा क्रम के ये अपरिहार्य आग्रह है जो अपरिमेय को मापने की चिन्ता को ही अध्यवसाय बना कर चलती है।

समस्या को मौलिक स्तर पर ग्रहण करने के अर्थ उसे वर्त्तमान में देखना होगा और उसके अति-हेतु के अन्वेषण मे अतीत की ओर भी जाना पड सकता है, कारण, अनागत को आशा के उज्जवल आलोक मै और अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति ही मानवी-समष्टि-चेतना के विकास की जीवन-शक्ति है। कवि की युगानुभूति और आत्मानुभूति को पृथकश· देखना और मानना परस्पर-दृष्टि से उभय की उपेक्षा और कवि की निष्ठा का विखण्डन करना है। यह भी साहित्य मे सकोचमयी धारा का ही प्रभाव है जो इयत्ताओ के पार्थक्य में वह चक्रवर्त्तित्व के किंवा व्यक्तिनिष्ठ केन्द्रीकरण के गीत गाती है, पूरक-प्रसग मे अहकार के तोषार्थ दान-महादान की महिमा बखानती है · युगानुभूति और युगावबोध, आत्मानुभूति एव आत्मबोध का साधरणीकरण नही होने देती। दान की महिमा से दाता मे स्वर्गकामिता भर उसे एक और जहाँ ऐहिक-दुष्कृतो से निश्चिन्त (प्रकारन्तरेण प्रोत्साहित भी) करती है वही दूसरी ओर समाज मे दीनता का अनुमोदन भी करती है। ज्ञेयपार्थक्यमयी विकल्पानुभूति के इन परिणामो को ले कर गठित साहित्य से युगसेवा कहाँ तक हो सकेगी, विचारणीय है। किन्तु, संकल्पमयी विकासोन्मुखी धारा आते ही कह देती है—

अपने मे सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा
औरो को हंसते देखो मनु हसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ (कर्म)

शक्ति-साधनो के केन्द्रीकरण से मानव समाज की प्रत्यह बढती विषमता एव वर्गोत्पीडन अनदेखे नही रह सकते · फिर सभी स्तरो पर उनका सर्वथा निरास एकायुष और एक देशीय एव सांस्थानिक उपचारों से संभव नही। यत· 'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित' · अत: चेतना को अथत· उपचीर्ण होना चाहिये · वही से क्रान्ति की गोमुखी भी है जहाँ से निसृत भागीरथी मानवता का आप्यायन करती है · और, विश्वकलुषी विषमता का तभी प्रक्षालन संभव है। पदार्थ स्तर पर्यन्त पुष्टत· एक परिशुद्ध दशा की अवतारणा चेतना के उपेक्षित, विभक्त और अज्ञात रहने से अवधार्य नही। सुतराम्, विश्ववपुषी चेतना के जागरण में, अनुभूति की चरमावस्था में, मनन की तीव्रतम दशा में यह सत्य सम्भावित है (अभ्रान्तत)।

मै की मेरी नेतनता सबको ही स्पर्श किये सी
सब भिन्न परिस्थितियों की है मादक घूँट पिये सी (आनन्द)

यही नही अपितु—

हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमी है[1]
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमे कुछ नही कमी है (आनन्द)

समष्टि-चेतना, युगानुभूति और आत्मानुभूति मे समानश· जीवन्त रहती है प्रश्न केवल अभिसुप्ति और जागरण का है। कदाचित इसीलिये कहा है "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है" "असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अन्तर्निहित रहती है क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है—" (काव्य और कला)। नितराम् ऐसी निष्कर्ष-दृष्टि-सम्पन्न अनुभूति के अभिव्यक्ति की एक सहज लोलधारा को किसी वादसीमा मे रखना स्वयमेव विवादग्रस्त होगा।

प्रत्येक समस्या के मूल मे क्या होता है ? विषमता ! हाँ वह विषमता ही तो जो सभी स्तरों पर चाहे वे भावो को हो, विचारों की हो, व्यवहार की हों, सर्ग परक हो अथवा नैसर्गिक : अपने अनेक रूपों में साकार हो समस्या के कलेवर गढती है। इसकी व्याप्ति कुछ ऐसी गम्भीर हो गई कि यह विश्व के अनुप्राणन की सत्ता जैसी लगने लगती है। इसकी प्रभाव-परिणति कही व्यथा के रूप में तो कहीं सुख के रूप मे होती है · उभय में वस्तु-तत्व-भूत वेदना-रूपेण सुखदुख को अंकस्थ किये विषमता ही रहती है।

विषमता की पीडा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान
नित्यसमरसता का अधिकार उमड़ता कारण-जलधि समान
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान (श्रद्धा)

पदार्थ के मौलिक धर्म और गुणों मे एक सहज सुसगठित विषमता से विश्व की उत्पत्ति बताई गई है और उसके एक सुनियोजित साम्य से

१. "हमी" से तात्पर्य "हम ही" का नही अपितु आदि-हान्त समस्त वर्ण-विकल्प-कवलीकृत पूर्णाहन्ताभिमानी अवयवी से समीचीनतर है।

प्रलय। किन्तु विश्व की विवृति हो जाने पर उसकी ससृति में इस विषमता की परिणति का स्रोत कहाँ से अग्रसर होता है और ससृति का एक पृष्ठ खुलता है ? और, आदिम मानव-समाज के धरातल पर उसका प्रथम स्फुरण कौन है ? विषमता के इस आदिम प्रसंग की कड़ी पूर्ववर्त्ती युग सन्दर्भो से जुडी चली आ रही है . रूप और प्रकार में आगत परिवर्तन उसकी विवृत्ति-प्रक्रिया के कार्य-कारण योग बनाते चले आ रहे है—

युगो की चट्टानो पर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गम्भीर,
देव, गंधर्व असुर की पक्ति अनुसरण करती उसे अधीर। (श्रद्धा)

मानव समाज की गठनोन्मुख और विकासोन्मुख दशा के ठीक पहले पुरुष के प्रति नारी का अनुष्ठानात्मक आत्मसमर्पण हो चुकता है। इससे पूर्व उभय के सबध की अवस्था केवल आत्मनिवेदन की रहती है : जिसके भीतर आंगिक अभावो की पूर्ति इच्छा-भूत और कारण-भूत होती है। विशृंखल, अस्थिर और अरक्षित जीवन क्रम को व्यवस्थित और सुरक्षित रूप देने की दिशा मे, उत्पादन की अपनी असामान्य समर्थता, वेगवती अभीप्सा और आवयवीय विलक्षणता से पुरुष और उसके पुरुषार्थ का नारी सक्रम-नियोजन चाहती है . और फिर इस नियोजन मे वह नारी स्वयं ही प्रथम-नियुक्त-तत्व बन जाती है, जो नारी का अनुष्ठानात्मक आत्मसमर्पण होता है। फिर तो सस्कृति के विकास के प्रतिपग उसकी शेष स्वतन्त्रता को निगलते जाते है।

नारी-पुरुषाधीनता के साथ-साथ सामाजिक-वैषभ्य के महानाटक का पहला दृश्य खुलता है और समर्पिता नारी नर के समक्ष पड़ी होती है—

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बध नारी हृदय हेतु सदैव !
आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने मे विकल हो प्रान !" (वासना)

पुरुष मौन रहता है। उसका यह मौन आगामी प्रवंचना का और कदाचित्त अवसरवादिता का भी मूल है—

छल वाणी की वह प्रवचना हृदयो की शिशुता को,
खेल खिलाती, भुलवाती जो उस निर्मल विभुता को। (कर्म)

आगे चल कर पुरुष कहता है "तब तुम प्रजा बनो मत रानी, नर पशु कर

हुंकार उठा" किन्तु वस्तुत 'वह अतिचारी' उसे निकृष्टतम प्रजा बनाना चाहता है जबकि-'दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठा।'

मार्गन के 'प्राचीन समाज' की टिप्पणी मे मार्क्स मनुष्य के अन्तर्जात वात्छल की बात कहते है एंगिल्स नर और नारी के सम्बन्ध को प्रथम वर्ग-उत्पीडन की सज्ञा देते हैं किन्तु पदार्थ-सीमित दृष्टि के कारण पदार्थ-स्तर के आगे समाधान का बढना सम्भव न हो सका। कामायनी इस छल और उत्पीडन का समाधान समन्वय और सामरस्य मे देती है। सघर्ष-सर्ग तक समस्या-पर्व है उसके अनन्तर समाधान-पर्व आता है, भ्रमवश जिसे कभी-कभी पलायन के अर्थ मे ग्रहण करने की अबोध चेष्टा की जाती है फिर तो उन स्थलो और स्थितियो की असमर्थ मोमासा मे विपय और भी दुरारूढ बन जाता है। यह मत कि कामायनी का समापन सघर्ष-सर्ग से ही हो जाना उचित था, परवर्त्ती सर्ग तो क्षेपकवत है, काव्य की मूल प्रयोजनीयता से सवादित नही वैसे मत का मन्तव्य यही हो सकता है कि मुमूर्ष मनु या मोह-मुग्ध मन वैसी अगति की ही दशा मे पडा रहे मानवता के सम्मुख 'शस्त्र और अग्नि' की वर्षा का यथार्थ, आदर्श और भरत वाक्य बने फिर समाधान क्या और कैसे? सघर्ष की पदार्थ-भूमि उत्तीर्ण होने पर ही मन का सहज गति चार सम्भव है फिर वैसी भूमिका अनावश्यक क्षेपक क्यो मानी जाय जिसमे मन के आतिवाहिक तरंगों की उठान और अभियान है, ऐसा न होना ही वस्तुत: पलायन होता।

नर और नारी को आवयवीय विपमताओ के परिणाम मानवी संस्कृति के आगामी परिच्छेदो मे और स्पष्ट होते है। अपने 'अवयव की दृढ मास पेशियाँ' ले आखेट करने को नर स्वतन्त्र रहता है और 'अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मै सबसे हारी हूँ' कहने वाली नारी, नर के मृगया से विरत हो लौटने की प्रत्याशा मे लौ लगाये और अपने स्वतत्रता के सूखे काठो को फूँक-फूँक कर उसी लौ जैसी ही एक अनवरत ज्वाला जलाये देहली के भीतर से निर्निमेप 'पथ' देखने की दशा मे आ जाती है। और, आहार-पराक्रमी, आखेट-विक्रम नर का शासन सभ्यता के विकास के साथ-साथ दृढतर होता जाता है, फिर तो उसके मिथ्या को भी सत्य मानने का अभ्यास नारी का एक नैसर्गिक गुण मान लिया जाता है। सभ्यता के उपादानो की प्रेरणा, समाज की निर्वसनता और क्षुधा के विरुद्ध पहली घोषणा नारी की ओर से होती है: उसकी जीवनदृष्टि की अनिवार्यताये उसे इस हेतु विवश भी करती है। आदिम

अवस्था में पशुओं से रक्षा के लिये आवास चाहिये, (गुहा अब अपर्याप्त है) भावी शिशु के लिये वस्त्र-उपस्करण चाहिये—यह नारी का चिन्त्य बनता है। प्राणो की चिरनग्नता और उसकी शाश्वती-क्षुधा के प्रति भी नारी सजग हुई। प्रगति के इन तत्वों की ख्याति से अपनी अहंकार भरी अगति के चलते पुरुष सहमत नही होता उसे प्रतिरूपी-प्रतिस्पर्धी की आशंका होती है वर्त्तमान के भावो का भविष्य में अभाव दीखता है, सुतराम् परिवर्तनों के भावी आयाम से वितृष्ण और विषण्ण होकर, उसे अपने निर्बन्ध वर्तमान का प्रतियोगी मान कर, वह अनन्य का त्याग और अन्य की कामना करता हे। (द्रष्टव्य—ईर्ष्या सर्ग)

स्वभावत , आवयवीय-सस्थानगत अपनी विलक्षणताओ से नारी गतिमयी, प्रवाहमयी तथा च प्रकृति की लघु प्रतिरूपाकृति है और नर स्थाणु-पुरुष है जो, 'गुणात्मक परिवर्तनो' की प्राकृतिक क्षमताओं में दुर्बल होकर उनका कारयिता नही अपितु साक्षी मात्र है। इस साक्ष्य मे नर को रंच मात्र परिवर्तन ग्राह्य नही सुतराम् उसके समक्ष प्रथम-प्रस्तुत नारी के चित्र मे किसी विकास की गुणात्मक स्थिति उसे रुचि कर नही और यदि वैसा होता है तो वह अपने इसी स्वभाववश पूर्वगत नारी के भावचित्र देखने को विकल हो जाता है। सुतराम् इस दशा मे मनु कहते है—

> लो आज चला मै छोड़ यही संचित सवेदन-भार-पुज
> मुझको काँटे ही मिले धन्य हो सफल तुम्हे ही कुसुमकुज (ईर्ष्या)

कामायनी मे नारी की एक ऐसी प्रगतिमयी विश्वात्म-मूर्ति की कल्पना है जो साथ ही विश्वमयी भी है। आदि में वह सृष्टिमगल की प्रेरिका बनी मधु-गुंजार करती आती है (सुना यह मनु ने मधु गुंजार-श्रद्धा सर्ग) ततः इस उपक्रम मे निजका समर्पण करती है और अन्त मे उसकी कल्याणमयी मातृमूर्त्ति प्रकाशित होती है जिसके समक्ष असमर्थ-अगतिवान नर अपने को समर्पित करता है। ये परस्पर उभय समर्पण समन्वय और सामरस्य की अन्-अन्य मूर्ति मे ढल जाते है। विश्वभर सौरभ से भर जाता है और वह 'मधुगुजार' अब बिखेरे गये सुमनो से बहुगणित हो 'शत शत मधुपो का गुजन' बन जाता है अर्थात् मातृमगल का परम-सकल्प सिद्ध होता है (श्रद्धा ने सुमन बिखेरा शत शत मधुपो का गुजन-आनन्द सर्ग)

नारी, प्रकृति अथवा शक्ति का गोचर यथार्थ नर, पुरुष अथवा अणुभाव-गत शिव को प्रथमत· पाशबद्ध करने मे देखा जाता है। वेदान्त के ब्रह्म की माया-शबलित अवस्था कुछ इसी प्रकार की है जिसे अकाम-निष्क्रिय और स्वत मूल मे स्थिति मात्र कह शक्ति-रहित एक निश्चेष्ट सत्ता के रूप मे परिभाषित किया जाता है। यह माया के पुरुषार्थ का एक चरणमात्र है। किन्तु नारी का, जो स्वाधीन-सत्ता की शक्ति का भौतिक विग्रह है · परमपुरुषार्थ किंवा प्रयोजनीयता का यथार्थ वस्तुत पशु (नर) की पाशमुक्ति मे ही सफल होती है—

सेय क्रियात्मिकाशक्ति· शिवस्यपशुवर्त्तिनी
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका

इस वस्तुत. प्रयोजनीय यथार्थ का परिज्ञान ही नारी, प्रकृति अथवा शक्ति को सिद्ध्युपपादिका के रूप मे ला देता है। पुरुष-समवाय मे यह वीरभाव गत आरोही वीर्य है, पुरुष का परम पुरुपार्थ है जिसके पूर्णावस्था की प्रान्त-रेखा पर विगलित भेद सस्कार 'आनन्द अम्बुनिधिशोभन' लहराता है : और जो, अपने सर्वमागत्य के शुभत्व की पराकाष्ठा के कारण ही सिद्ध्युपपादिका पदवाच्य है किसी विकल्प खचित भिन्नमणि गुम्फ परिणामी सौन्दर्य के मासल विग्रह के हेतु नही। जो, पाशित होने के भय से ही घबरा उठे उन्होंने अभया-अमला के मौलिक यथार्थ को अनदेखा कर घोषणा कर दी—'नारी नरकस्य द्वार'। किन्तु यह नही बताया कि 'त्रिविध नरकस्येदं' में इसे किस कोटि मे रखा जाय ? निषेध का अवसाय शक्ति का रूप है—'निषेधव्यापाररूपा शक्ति' 'उस निषेधमयी को निषिद्ध मानने में पाशभुक्ति समर्थित होती है पाशमुक्ति नही। किसी भी अन्य भाव का निषेध ही तो स्वभाव-प्रतिष्ठा किंवा स्वरूप-प्रतिष्ठा है ? जीवन की विडम्बना अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रिया की परस्पर असहमति का विलोप, शक्ति के प्रसाद पर निर्भर है न कि सुप्त-स्पन्द के प्रमाद पर।

महाज्योति-रेखा-सी बनकर श्रद्धा की स्मिति दोडी उनमें,
वे सम्बद्ध हुये, फिर सहसा जाग उठी थी ज्वाला उनमे।
नीचे ऊपर लचकीली वह विषम वायु में धधक रही सी,
महाशून्य में ज्वाला सुनहली, सबको कहती 'नही-नही'-सी।

कामायनी की कथा मन्वन्तर की सन्ध्या से चलती है। भारतीय कालगणना एक अन्यत्र-दुर्लभ परिकल्पना है · यहाँ उसके विस्तार पर

विचार अभीष्ट नही : किन्तु यह उल्लेख्य है कि ससरण की प्रक्रिया में एक विगत संसृति अथवा सृष्टि की भौतिक समाप्ति और उसके ध्वंस पर नई ससृति का उद्भव मन्वन्तर-पदवाच्य होता है · जिसमे जैव-उन्मेष, सस्कृति की सम्भावना, समाज-सगठन, सभ्यता का विकास, वैचारिक-धरातल की सम्भूति आदि नये आयाम लेते है। इस मन्वन्तर-सन्ध्या का नामान्तर ही प्रलय है जिसकी परिभाषा होगी निमित्त मे उपादान का लय। स्थूल उपादान सूक्ष्म निमित्त मे, सूक्ष्म उपादान कारण निमित्त मे, कारण उपादान महाकारण निमित्त मे एव महाकारण उपादान भी स्वरूप में लीन होते है · किन्तु मन्वन्तरण में स्थूल उपादानो का सूक्ष्म निमित्त मे विलय होता है : यह भौतिक और खण्डात्मक होता है इसी लिये मन्वन्तरण क्रम मे हुआ प्रलय खण्ड-प्रलय होता है चाहे उसका विस्तार-क्षेत्र छोटा हो अथवा बडा। इसी लिये मनु तो अपनी नाव पर त्राण पाते है किन्तु श्रद्धा के 'गन्धर्वों के देश' पर उसका प्रभाव प्राय नही पड़ता : वहाँ का उद्गीथ अप्रतिहत रहता है। किलाता-कुलि का वरुण-राज्य भी प्रलय-परिधि के कदाचित् बाहर पडता है, किन्तु यह सशयास्पद है। आकुलि का यह कहना कि 'क्यों किलात खाते खाते तृण और कहाँ तक जीऊँ' से ध्वनि निकली है कि वे भी प्रलय के मारे हुए है और अशरीरी रति-काम की भाँति भटक रहे है। प्रलय अनेक-विध है जिसमे काल-प्रलय और ज्ञान-प्रलय प्रमुख है · कामायनी के आदि मे काल-प्रलय है और अन्त मे ज्ञान-प्रलय।

सुतराम्, इसके पूर्व अनेक मन्वन्तर बीत चुके है। अर्थात् न जाने कितनी सस्कृतियाँ और सभ्यताये शिखर पर जा ऐसे प्रलय-पयोधियो मे डूब चुकी है जिनकी लोकात्मा के अभिसुप्त मनस् के सारभूत-संस्कारभूत एव स्मृति-विस्मृति से बुने पट की ओट से धुँधली झलक आती रहती है। किन्तु हम प्रत्न-गवेषणा के भौतिक-स्तर के ही निकष पर तथ्यों की परख के अभ्यासी हो गये है अतएव भौतिक उदादानों, स्रोतों और साधनो से विश्लेषित मीमासाफल में ही विश्वास रखते है। ध्रुवीय हिमानी अपने भीतर ससृति के कैसे रहस्य छिपाये हमारी आग्रह-बुद्धि पर हँस रही है अथवा अतलान्त कितनी संस्कृतियो को अपनी लहरों के गोत सुना रहा है : कौन जाने ? कामायनी के आमुख मे संकेतित है—

'आदिम युग के मनुष्यो के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे उन्हे आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है,—आज के मनुष्य के

समीप तो उसकी वर्तमान सस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहा से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना के दृढ ओर गहरे रगो की रेखाओ से बीती हुई ओर भी पहले की बातो का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरजित सा—आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से सन्तुष्ट न हो कर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते है। उसके मूल मे क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है।'

परन्तु, वैसी गाथाओ और भावपूर्ण इतिवृत्तो का महत्त्व कम नही उन्ही के सहारे वैसी गवेपणा चलती और फल प्रमाणीकृत होते है। जातिवाची, विश्व के प्राय सभी मानव-समूहो की अनुश्रुतियाँ प्रलय की गाथा अपने-अपने ढग से सँजोये है : अवेस्ता की गाथाये हिम-प्रलय (उसके पिघल कर प्लावित होने मे) तो शतपथ समुद्रीय जलप्लावन की बात कहते है। ग्रीक, अक्कादी, बैबिलोन आदि की अनुश्रुतियों मे मिलती जुलती गाथाये है · दूरवर्ती टापुओ की पुरानी—आदिम जातियों मे भी ऐसी घटना का उल्लेख विभिन्न प्रकार से मिलता है · जो विस्तार-भय से यहाँ चर्चित नही किन्तु ईजिप्ट की परम्परा मे प्रलय की गाथा नही मिलती (अभी तक)। स्कैण्डिनेविया के नोर्स-वाङ्मय का वूलुस्पा गीत जिसकी रचना एड्डा द्वारा हुई एक प्रलय-सन्ध्या का उल्लेख करती है, जिसमे उच्छृङ्खल देवयुग समाप्त होता है · एवविध, ऐसी घटना के उल्लेख केवल आर्य-वाङ्मय तक ही सीमित नही।

कामायनी मे देव-सृष्टि के लयोत्तर उसकी दुर्बलताओं—दोषों से सर्वथा रहित एक नवीन मानव-समाज की परिकल्पना है जिसके आदि-प्रजापति उसी सस्कृति के अवशेष मनु है · जिनके सम्मुख "देव असफलताओं का ध्वंस प्रचु उपकरण जुटा कर" पड़ा है। उसी मानवी संस्कृति के योग-क्षेम में उठते गिरते 'श्रद्धायुत बस मनु तन्मय थे'। देव-सृष्टि-गत कतिपय संस्कार-मूर्तियों और अवशिष्ट बीजों के तन्तु से कामायनी अपना पट बुनती है।

तरुण-तपस्वी से प्रतीत होते मनु हैं, जो स्वीकार करते है "मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ" . फिर उन्ही जैसे लम्बे दो-चार 'देवदारु' खडे हैं। यहाँ देवदारु 'हिमधवल वृक्षो' के रूप में कथित हो उन अवशिष्ट बीजों की ओर भी इंगित करता है। वहाँ,

देवो के अशरीरी सहचर रति-काम है : एक अपनी प्रतिकृति लज्जा के रूप मे तो दूसरा अपनी भाव-मूर्त्ति मे। श्रत् की अवधारिका श्रद्धा है, विवेक के उच्चतम धरातल की प्रभामूर्त्ति इड़ा है एवं 'आमिष लोलुप रसना' वाले वे किलात-आकुलि है जो अपनी असुरोपासना अर्थात् प्राणों की पूजा का प्रचार प्राणी की बलि देकर करने मे दक्षत· उपस्थित है। कुमार अर्थात् मानव-समाज का आदि-छन्द तो अन्तत· आने वाला है। उपस्करण रूप शस्य-अन्न-पशु के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण वह 'पहला सचित अग्नि' है जो देव-सृष्टि के इन बचे-खुचे अवशेषो से अति-जागल जागल और बर्बर युग के बहुत पीछे छूट जाने का सकेत दे रहा है। इन चारित्रो मे देव-युग की समृद्धि, अनुभूति और गाढ़त. सश्लिष्ट उस युग के आन्तरात्मिक सस्कार सवलित है।

कामायनी विश्व-व्यक्तित्व का विकास चेतना से कहती है . इडा के मुखसे ऐसी सस्तुति कुछ विशेषता रखती है—'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित' (सघर्ष) फिर वस्तु से चेतना की उत्पत्ति की आग्रहित-मान्यता ले अपने गुणन-फल न पाये जा सके तो विस्मय क्या ? ऐसी निराशा का कारण कामायनी के स्वारस्य मे नही अपितु कामायनी-दृष्टि से असहमति या फिर विषय-वस्तु के ग्रहण मे असमर्थता ही हो सकती है। पदार्थ-सत्य और वस्तु-तथता कामायनी मे उचितावस्थित है, उपेक्षित नही। पदार्थ-जीवन चिति और उसकी उन्मीलन-प्रक्रिया मे परिणत-प्रस्तुत पदार्थ की वहाँ नित्य-सक्रियता है—'चिति का स्वरूप यह नित्यजगत, वह रूप बदलता है शत शत'। कामायनी मे विश्व का उन्मीलन प्रसगोपात्त है। किसी निमीलित दशा से ही उन्मीलन सम्भव है और फिर नित्य-वर्त्तमानता के अभाव मे, निमीलन-उन्मीलन किसका और कैसे ? ''अवस्थितस्यैव प्रकटीकरण उन्मीलनम्''। प्रलय-गत विकर्षणो से असमागम की दशा मे आकार पृथक्, पदार्थ के सूक्ष्मतम भावो अर्थात् विद्युत्कणो किंवा शक्ति के अणुभूत और खण्डावस्थित अंशों के समन्वय और परस्पर समागम-आपुजन से मानवता का उत्कर्ष और सस्कृति के कल्याणमय विकास का सन्देश कामायनी मे प्राप्त है।

'सृष्टि के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे है हो निरूपाय, समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय', इन कणों की व्यस्तता कैसी जबकि निरुपाय-निष्क्रिय रह वे बिखरे पड़े है। सुतराम् कार्यलीनता से यहाँ व्यस्तता का अभिप्राय नही होगा। चेतना का स्वरूप-सत्ता से छिन्न और क्षिप्त हो अपने स्वभाव को सक्षिप्त कर इदमात्मक

आवरण में विन्यस्त हो इदताभिमानिनी होना ही व्यस्त होना है : वैशिष्टयेन यत् अस्त: । यत:, पदार्थजगत इंदभूत है और उसमे चेतना कारणत' और कार्यत. भी सलीन होती है अत व्यवहारत व्यस्त को कार्यलीनता की रूढ संज्ञा मिलती चली आ रही है। मूल स्वरूप से मूल स्वभाव का छिन्नत्वेन अस्तप्राय होना व्यस्त पदवाच्य है। वृत्र के वध-प्रसंग में प्राप्त ऋचा 'अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधिसानो जघान वृष्णोवध्रि प्रतिमानबुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्त' (ऋक् १-२-७) के सायणभाष्य मे व्यस्त शब्द का अभिप्राय 'व्यस्त विविध क्षिप्त ' से लिया गया है।

यहाँ सृष्टि के वैसे विद्युत्कणो के समन्वयन से एक भुवनात्मक समाधान का इगित है स्पन्द-विशिष्ट श्रद्धामय मानव को विकल्पमयी-तर्कमयी बुद्धि के समीप समन्वय पूर्वक रहकर, हृदय और बुद्धि मे 'विनिमय कर दे कर कर्मकान्त' हो राष्ट्र नीति देखना है। श्रद्धा (हृदय) और मनु (मन) परस्पर पूरक है इसीलिये 'मै अपने मनु को खोज चली—सरिता नग उपवन कुंजगलो ·· ·' । मन को हृदय में स्थिति मिलती है—'यतो निर्यातिविषया. यस्मिश्चैवप्रलीयते हृदय तद्विजानियात् मनसस्थिति-कारक' । श्रद्धा मनु को स्थिति देती है, ऐसा नहीं कि श्रद्धा का क्षेत्र चैतस मात्र हो · उससे विषयो के उद्गम है, उसमें विकल्पो के स्वप्न भी है जो चेतन से पदार्थ के विकास के सत्य से संवादित है। 'श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था' । किन्तु, उसके हाथो विकल्प-रथ की जो वल्गा है वह कल्याणमय सकल्प के आलोकित तन्तुओं से ग्रथित है। उपादान के तात्विक के सयमन मे कहती है—

देव असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटा कर आज
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज

ध्वसरूप वे देव असफलतायें अब ऋक्थ रूप में मानव की वास्तविक सम्पदा है : जिनसे एक नई मानवी संस्कृति के उद्भव और विकास की प्रतिज्ञा कामायनी देती है—'पूर्ण हो मन का चेतन राज ।' सृष्टि-मूल-परक आधार-दृष्टि में भेद के कारण ही कामायनी में मानव समाज की परिकल्पना प्राक्तन और अनैतिहासिक मानी जाती है . जो दृष्टि भेद के अतिरिक्त इस व्यापक परिवेश के सम्पूर्ण उपक्रम-चित्र के आकलन में असमर्थ रहने से असम्भव नहीं। कामायनी में इतिहासतत्व के प्रति भी चेतनानिष्ठ दृष्टि है जिसका परिणाम बनता है वस्तुपरक इतिहास।

यह प्राक्तन भाव नही नवीन विकसित दृष्टि है जिसकी उपेक्षा उसे अवास्तविक नही सिद्ध करेगी। मानवी सामूहिक चेतना के स्तर को स्पर्श करती इतिहास की परिधि का उल्लेख सम्भावित सशय के निवारणार्थ आमुख मे प्रस्तुत है। सदैव से वस्तुनिष्ठ इतिहास घोखने की रूढ परम्परा के प्रति यह अश्रुतपूर्व विद्रोही स्वर है न कि कोई अनैतिहासिक अथवा प्राक्तन भाव। कामायनी अपनी सार्थकता इस सन्दर्भ मे स्पष्ट करती है—'चेतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानवभावो का सत्य'।

वस्तु को प्रतीयमान जगत का हेतु मानने पर उस वस्तु का वस्तुत्व भी जान लेना होगा जो अभी विज्ञान (भौतिक) की शोधशाला से प्रमाणित और स्थिर नही हो पाया है और कदाचित् शक्ति की प्रारम्भिक कक्षाओ मे ही अभी वह घूम रहा है। भौतिक विज्ञान के समक्ष अन्ततोगत्वा एक दुरूह ग्रन्थि चेतना की पडी है जिसे वह कैसे सुलझाये-सकारे, शतियो से यह एक मौलिक प्रश्न बना है। चेतना को सरकाने मे वस्तु-हेतुत्व समाप्त होता है और पदार्थ-सक्रियता के प्रसग मे चेतना की उपेक्षा नही हो सकती। सुतराम् उसे, अन्तर्जगत-वाह्यजगत के मध्य और उन्ही का आश्रित एक स्फुरण मान लिया गया . ससकोच और अनिवार्यतावश। और फिर यह कहने की सुविधा हो गई कि वस्तु एव वस्तु संहति का परिणाम चेतना है। किन्तु वस्तु को सात्म-सक्रिय मानने से विरक्ति है। संशय उठता है कि यदि वस्तु हेतु है, तो उसे स्वाधीन होना चाहिये फिर चेतना से चालित और पुरुषाधीन क्यों ? किन्तु, विज्ञान की प्रगति जैसे-जैसे सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रही है : उसमें तत्व-जिज्ञासा निष्ठावती हो रही है : यह मानव समाज के लिये शुभ है। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते-होते स्थूल स्तर का भोतिक विज्ञान (जिसके अर्थ अन्नमय कोष एक पारिभाषिक शब्द होगा) अगले सूक्ष्म स्तरो के अनुशीलन मे निष्ठावान हो गया, और प्राणिक इयत्ताओ की प्रतीति उसे प्रत्यक्ष होने लगी। सोवियत वैज्ञानिक ग्रैशिको ने पहली बार पदार्थ की पाँचवी स्थिति—बायोप्लाज्मा को पाया। यही नही भारी शक्ति वाले वैद्युतिक उपकरणों की सहायता से अदृश्य और आकाश-देह वाले फोटोग्राफ वहाँ 'किरीलियन औरा' के तकनीक से लिये गये है · यद्यपि ये स्तर अपेक्षाकृत सूक्ष्म रहने पर भी चेतना के पदार्थीकृत स्तर ही हैं और मनोनय-विज्ञानमय-आनन्दमय स्तर तो अभी बहुत दूर है : किन्तु भौतिक विज्ञान उनके द्वार खटखटा रहा है, यह कम नही।

जड़ और चेतन की परिभाषा में, चेतन की विलक्षणता स्वाधीनता

में और जड की परवशता में निष्ठित है। प्रकारान्तरेण मे चेतन के ही क्षिप्त-अवगुण्ठित भाव का निर्वचन जड द्वारा होता है। उभय मे तत्व-प्राधान्य विलक्षण नही है · एक ही है। जल के तरलत्व और प्रवाह-स्वाधीनता को जल और उस जल की ही अवगुण्ठित-भावगत सघनता को हिम कहा जाता है। इस मूलभूत प्रश्न और उसका समाधान लेकर कामायनी प्रथित है · जहाँ वह एक ही तत्व अपने गतिमय बहिरुल्लास मे जल कहा जाता है और अन्तर्विलासित स्थितिमयता में हिम होता है। उसकी प्राविधिकआख्या कही प्रकृति-पुरुप तो कही शक्ति और शिव द्वारा दी जाती है। 'एक तत्व की थी प्रधानता कहो उसे जड या चेतन'। और फिर अन्त मे उभय भाव-चैतन्य समरस हो समाधान करते है—उस प्रश्न का जिसे मात्र खण्डश मनुज की स्थूल अनुषग-प्राय विषमता के निरसन मे ही समाहित मान लिया गया है—'समरस थे जड़ या चेतन' 'तब' 'सुन्दर साकार' बनता है जिसमें समान-चेतना का विलास होता है . अर्थात् जड और चेतन भिन्न मूल्य वाले नहीं रहते ऐसे चेतन-विलास के अन्तर्भुक्त आनन्द का अखण्ड भाव चमत्कृत होता है। किंवा आनन्द के भी विगलित भेद सस्कारोपरि 'चेतनता एक विलसती' है। ध्यान रहे कि आनन्द में लेशत· उसी प्रकार द्वैत रहता है जिस प्रकार ईश्वरतत्व में अधिकार मल और सदा शिवतत्व में भोगमल रहता है : और शिव स्वशक्ति की पृथगानुभूति मे मूल अज्ञान अथवा महाशून्य पदवाच्य होता है। सुतराम् कामायनी के इस अन्तिम छन्द : चेतनता एक विलसतो आनन्द अखण्ड घना था म वर्त्तमानता अद्वय-चैतन्य के विलास या स्फुरण की है जहाँ आनन्द उपरत है। अस्तु, जड और चेतन प्रसंग मे संयोजक बिन्दु का भी कामायनी में चिन्तन है : जड़ और चेतन की परस्पर समन्वयभूमि का भी चिन्तन है · और, वह सयोजक-बिन्दु या समन्वय-भूमि स्वयमेव कामायनी है। जो, अपने पिता का काम के शब्दों में—

यह लीला जिसकी विकस चली वह मूलशक्ति थी प्रेमकला
उसका सन्देश सुनाने को संसृति में आई वह अमला
हम दानो की सन्तान वही कितनी सुन्दर भोली भाली
रंगों ने जिनसे खेला हो ऐसे फूलों की वह डाली
जड़ चेतनता की गांठ वही सुलझन है भूल सुधारों की
वह शीतलता है शांतिमयी जीवन के उष्ण विचारों की

और वस्तुत: कामायनी मनु के ऐहिक-आमुष्यिक, जड़-चेतन उभय स्तरों

की समन्वयभूमि या संयोजक बिन्दु है। अमला-चिच्छक्ति, प्रेमकला किंवा पर-प्रेमास्पदीभूता कामकला के सन्देश अपने 'जगमगल सगीत' के माध्यम से देती है। ऐसे सयोजक बिन्दु का कथन भिन्न प्रस्थानो मे भिन्न नामो से हुआ है। चित् अचित के सयोजक बिन्दु को द्वैत-वादी शैव-प्रस्थान महामाया कहते है वैष्णव-परम्परा मे यह अप्राकृत-विशुद्ध-सत्व है : योग (पातजल) मे प्रकृष्ट सत्व यही है : और महायान का बोधिसत्व भी यही है · आगम की अभेद-परम्परा इसी को कामबिन्दु कहती है, और कामायनी काम की बैन्दवी संतति है · 'कामगोत्रजा कामायनी श्रद्धाना-मर्षिका' के रूप में सायण द्वारा इसका उल्लेख इसके ऐतिह्य-कथन में पर्याप्त है।

क्रान्ति की वृत्ति बडी व्यापक है, वह मानव-समाज के ऊपरी घरातल पर ही नही, चैतस-पीठिका पर ही नही · अपितु, प्रकृति के अन्य स्तरो पर भी सक्रिय रह परिवर्त्तन और विकास की गति अग्रसर करती है वस्तुत विकासात्मक परिवर्त्तन इसके पीछे सकल्प-भूत रहता है। सुतराम्, प्रकृति का यह अन्तर्जात-क्रान्ति-तत्त्व अपनी सहज-सक्रियता मे अतिचारी देवो को अनायास ही समाप्त कर देता है। प्रतिकरण और अतिचरण की तीव्रता के तारतम्य पर क्रान्ति की प्रखरता निर्भर करती है और वही उसकी उपलब्धियो को भी स्थिर करती है। "बढने लगा विलास वेग सा वह अति भैरव जलसंघात" और फिर "देव-दम्भ के महामेध मे सब कुछ ही बन गया हविष्य" क्योंकि "प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे भूले मद मे"। आगे चलकर भी मनु के अतिचरण के प्रतिकार मे "अन्तरिक्ष मे महाशक्ति हुकार कर उठी" और प्रतिकार के लिये रुद्र को 'धनु' दिया (अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ—देवीसूक्त ऋग्वेद)। देवयुग का अवशिष्ट प्राणी मनु बाहर से सब कुछ खोकर भी संस्कार-सम्पदा सँजोये रहा "मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ" : किन्तु सारस्वत प्रदेश की प्राणिक-क्रान्ति के अनन्तर उन अतिचारी देव-संस्कारों की भी सर्वथा पराजय हो जाती है और तब मनु आदिम सर्वहारा रूप मे बोल उठते है—"मै इस निर्जन तट में अधीर, सह भूख व्यथा तीखा समीर" · · "मै शून्य बना सत्ता खोकर"। यह सर्वहारा रूप ही उसे आगे चल कर मिलने वाली अनुग्रह-सम्पदा की प्रतिज्ञा है— "यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वंहराम्यहम्"।

शून्य असत् और अन्धकार की जैसी तीखी दशा रहती है वैसा ही

उसमें प्रकाश का प्रखर आलोक होता है · आवरण पटल की ग्रन्थि खुल जाती है एक यवनिका उठती है और मनु के कर्माभिनय का पूर्वाक समाप्त हो उत्तराक प्रस्तावित होता है। ऐसे पट-परिवर्त्तन को पलायन की सज्ञा नही दी जा सकती अपितु उस विराट् अभियान का इसे प्रारम्भ कहना होगा जो पदार्थ सक्रान्ति से उत्क्रान्ति के अनन्तर चेतना के अनन्त पथ पर चलती ही रहती है।

पूर्ववर्त्ती ध्वस्त देवजगत के अतिचारों से सर्वथा मुक्त एक जीवन्त और सन्तुतिल समाज की पुनर्रचना—एक मंगलमयी सृष्टि के प्रवर्त्तन हेतु, श्रद्धा अपने अनुनायक मुनु को उद्बोधित करती है, सुख-दुख को विकास के सत्य के अर्थ मे ग्रहण का आह्वान-गीत देती है। वस्तुत: पलायन तो उस स्थल पर है, वह भी अपकर्षित देव संस्कारो का ही जिनकी अवशेष-मूर्त्ति के रूप मे 'तप में निरत हुए मनु' प्रस्तुत थे। इस निस्सार पलायन को देख 'कहा आगन्तुक ने सस्नेह'—'अरे तुम इतने हुए अधीर, हार बैठे जीवन का दांव जीतते जिसको मर कर वीर' और, प्राप्य वह "तप नही केवल जीवन सत्य" है जो नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान प्रस्तुत है : अनागत में आगत होने वाले संघर्षो की आतंक-शृंखला जो तुम्हे बाँधती है, पराजय का वह कल्पित दुख है : उसे तोड़ कर जहाँ तुम आगे बढ़ते हो वही विजय का सुख है, पुरुषार्थ है। और, कामायनी में यह पुरुषार्थ केवल पदार्थजगत में ही सीमित न हो कर भावजगत पर भी उभरता है तत: चैतन्य जगत पर आकर परम पुरुषार्थ बनता है। यह मनु की दिग्विजय है कि पलायन ? चेतना की उच्चतर भूमिका में संचरण पलायन नहीं 'वे युगल वही अब बैठे संसृति की सेवा करते सतोष और सुख देकर सबकी दुख ज्वाला रहते'। यहाँ उनके सम्मुख गम्भीरत्तर कार्य संसृति की सेवा है : ध्यान रहे कि उनकी सेवा का क्षेत्र अब संस्कृति नही संसृति है। पिछले स्तर पर किंवा जागतिक-संस्कृति के स्तर अपनी श्रद्धामयी सन्तति को तर्कमयी इड़ा के अनुशासन में दे (इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासमीम्) कर कहा है "तुम दोनों देखा राष्ट्रनीति शासक बन फैलाओ न भीति" क्यो कि मात्र इड़ा के चलते श्रम-विभक्त वर्ग बने जो अस्वस्थ सिद्ध हुए—सुतराम् संकल्पित्त है एक वर्गहीन मानव समाज : ऐसा, जो विषमताओ से रहित एव पदार्थ से चेतना पर्यन्त "नित्यसमरसता" में मग्न हो : और जहाँ मनुज ही नही प्राणी मात्र के मंगल मूर्त्त हो सकें।

सामूहिक चेतना के सर्वहाराप्राय प्रतीक मनु की विजय का वहाँ

उत्क्रान्त सोपान है जिसे पदार्थ दृष्टि अपनी सकुचित-शक्ति के आग्रह से पलायन मानती है। पदाथ में हेतुत्व-समर्थता के आरोपण की यह असमर्थता मात्र है।

इतिहास की आदिमावस्था मे जहाँ आगामी समाज की सभावनाओ का परिवेश है उसकी वास्तविकता को अनेदखा कर श्रद्धा के लोकाग्नि मे तपने पर भी प्रश्न-चिह्न लगता है। आज के पूँजीवादी लोकाग्नि मे सतप्त नारी को उस आदिम धरातल पर देखने की कल्पना असंगत है · किन्तु सन्ताप की वे आदिम-बीजगत अर्चियाँ वहाँ थी जो आज ज्वालामुखी उगल रही है · उन्हो के विषम ताप झेलकर श्रद्धा ने कहा 'मे लोकअग्नि मे तप नितान्त-आहुति देती कर कर्म कान्त'।

पदार्थ के स्तर पर, श्रद्धा का लोक, मनु और पशु तक सीमित है : पशु मे एक प्रतीक-विलक्षणता है, जो यहाँ विवेच्य नही। बीज और शालियाँ बीन, कुटीर बना, तकली से ऊन कात आहार और आवास की कठिनाइयो से अनवरत सघर्ष करते हुए उसे अपने "प्राण" से निष्ठुर दशन मिलते है और अन्तत कहना पड़ता है 'कितना दु.ख जिसे मै चाहूँ वह कुछ और बना हो' और उसके चतुर्दिक 'विश्व विपुल आतंक त्रस्त है अपने ताप विषम से' और भीतर भी 'फैल रही है घनी नीलिमा अन्तर्दाह परम से'। उसका सहयोगी मनु किलात आकुल जैसे आमिप लोलुपो (पदार्थनिष्ठ) के वशीभूत हो गृह-पशु के मेघ कर 'हिंसा सुख लाली से ललाम' हो गया और पशु मनुष्य के मध्य अनुपात बिगड़ने की आशंका है · इससे भी कठिन अवस्था तब होती है जब उसे प्रसव पीड़ा झेलने के अर्थ अकेले छोड़ मनु चल देते है : ये सब अन्तर्दाह-बहिर्दाह क्या श्रद्धा को तपाने के लिये कम थे अथवा किसी काल्पनिक (उस समय की दृष्टि से किन्तु आज की दृष्टि से वास्तविक) लोकाग्नि में ही तपने पर आजका समीक्षक उसके सताप को प्रमाणित करेगा ? नही जीवन के उन निष्ठुर दंशनो मे, लोकाग्नि मे तपती श्रद्धा कान्त कर्मों की आहुति देती ही जा रही थी।

जिन विश्वव्यापी विषमताओं की पीडा सकल्प के स्तर पर उसे अनुभूत हो चुकी थी (विषमताओं की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान) वे पीडायें अपने विरस विकल्पों में अर्चिष्मती हो उसे तपा रही थी—और श्रद्धा लोकाग्नि मे वस्तुत: तप रही थी : क्यों ? 'नित्य समरसता का अधिकार' ले लेने और दे देने के लिये।

काव्य-वस्तु सामन्ती काल में व्यक्तिनिष्ठ रहा, इसके समष्टिपरक

होने की सभावना के दिन अभी युगों बाद लौटने वाले थे तब सामूहिक चेतना विकीर्ण, अभिसुप्त और अगठित थी, व्यस्त थी · किन्तु भावी भविष्य के उत्तरदायित्व सभालने के लिये स्पन्दित होती अभी एक चैतस-पीठिका प्रस्तुत हो रही थी। सुतराम्, सामान्य काव्य-चिन्तन को तब उसकी वाणी बोलनी थी जिनके अन्न पर वह पलता था। सम्पर्क और विचार के विनिमय-साधन सीमित थे। तीन वर्षों मे हुएनत्साग चीन से भारत आ सकते थे और अतिशा को वहाँ तक पहुँचने में सकारण और भी अधिक समय लगता था। वर्षो की दूरी माँसों में सिमटी माँस दिवस बने जिनके काम मुहूर्त्त करने लगे और अब मानव चन्द्रधरा की रज का स्वामी हो चुका। उस समय तो वैसी बात थी नही : तब तो सूर के कृष्ण का मचलना कि 'मैया मै तो चन्द्र खिलौना लैहो' एक अपूरणीय माग के साथ ही कदाचित भव के सुदूर-भविष्य की परिभाषा भी थी जो आज वर्त्तमान बन गई। अतएव, काव्य-केन्द्र महानो, शक्ति-साधन-सम्पन्नों के क्रान्तिवृत और नाड़ी जाल के सम्पात-बिन्दु-स्वरूप राहु से ग्रस्त रहा। उनकी इच्छा-आवश्यकता की पूर्त्ति का साधन होकर, उनकी नाराशसियों से लोकमानस को प्रभावित रखने का यन्त्र बना रहा। जब इससे अवकाश मिल तब आत्मा-परमात्मा, ब्रह्म-माया, निगुर्ण-सगुण की व्यायामशाला में उसने लोकमानस की प्रतिभाओं का उपयोग किया। समाज के बौद्धिक योगक्षेम का स्वरूप तब कुछ और था जो पिछली कई शतियों में केवल रामचरितमानस का चिंत्य बन सका उसके कवि तुलसी सामान्य जीवन के तिक्त-मधुर फल खाकर जिये, किसी दरबार के अन्न पर नही पले। समाज की चैतस आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये, सामूहिक चेतना के अव्यक्त-शक्तियों की परिणति में अनुरूप प्रतिमा का गठन होता है जो व्यक्ति-निष्ठ नही समष्टि-परक रहता है . इसीलिये वैसे व्यक्तित्व समष्टि की सम्पदा होते है : और उनमें निहित श्रेयज्ञान की सत्ता उन व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है : संस्थित रहती है। वैसी श्रेयज्ञान की सत्ता ने प्रसाद के प्रेय कलेवर में अधिष्ठान ग्रहण किया : मानव चिन्तन के विकास में यह एक ऐसी घटना हुई जिसके पूर्वापर प्रभाव का निरपेक्ष और पूरा पूरा आकलन अभी शेष है। मौलिक अर्थ में काव्य जरा-मरण से अबाधित सामर्थ्य का का पर्याय है : "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यते" (ऋक् १०-५५-५)।

संहिता काल में काव्य वस्तु, जातीय सपद-विपद उद्भव-पराभव और योगक्षेम को अन्तरात्मिक एवं सार्वभौम स्तर पर चिन्त्य

बनाकर समष्टिपरक था गाथा काल में वह व्यक्तिनिष्ठ होने लगा जिनमे मानवी अन्तर्द्वन्दो के बाह्य-प्रतिनिधि-रूप शूरों और समाज पर छाप छोडने वाले विद्वानो, समर्थों और असमर्थो के संघर्ष की भावप्रवण छन्दमयी रचनाओ (विशेषत आर्याछन्द) मे वास्तविक चरित्र अपनी गाथाये कहने लगे। काल की शृंखला न ढूँढ पाने पर उनकी सत्यता सहसा और सर्वथा अनैतिहासिक-अवास्तविक नही हो सकती। ऐसी गाथाये गाने वाले आख्यान सहिता भाग नही बन पाये क्योकि उनमें व्यक्ति-निष्ठा थी · घटनापरक सत्य के बहिरंगी इदबोध से उनके आयतन गठित थे और लोकचित्र के परिवर्तनशील पट उनकी रंगभूमि रहे · जब कि ऋचा भाग लोक के शाश्वत मूल्यों के आन्तरात्मिक उद्ग्रन्थन मे सचेष्ट रह रूपकीय सकेतो से प्रतीको के रूपमें इन्द्र, वरुण आदि द्वारा आत्मा देह आदि के परिकर मे समर्प सन्देश देता है।

काव्य-चेतना की वर्ग-निष्ठा धीरे-धीरे उपरत होने लगी, उसकी भूमिका लोक-मंगल की अभीप्सा लेने लगी, किन्तु वस्तुत· अभिजात लोक-मंगल की परिभाषा अभी अधूरी थी। देश और जाति के घेरे को तोड समग्र मानव-जाति और सकल-मेदिनी मण्डल को व्याप्त बनाते अतीत और अनागत को अपने वर्तमान मे खीचकर काव्य-चेतना को सार्वभौमिकी और सार्वयुषी बनाना सामर्थ्य-पराक्रम की भागीरथी बहाना था। युग की दशाओं और मानवी विकास के उपक्रम की व्याकुल पुकार अब काव्य-चेतना के उपकण्ठों पर गूँजने लगी। मनुज की पराधीनता उसकी सार्वदेशिकी दरिद्रता अधिपति-अधिकृत के विषमा-वस्थान-जनित शोषण अब उसकी विचारपद्धति के आयाम बदलने लगे। जीवन की परिभाषा उत्तरोत्तर व्यापक होती दृष्टि और मूल्यो मे भारी परिवर्त्तन करने लगी।

पदार्थ-सम्पदा लेकर सृजन और संक्षय के चरणों से डग भरता आर्थिक-सामाजिक परिवेश द्रुततर हो उठा पशु मनुष्य के कर्मो का यांत्रिकीकरण; भावों का भी यात्रिकीकरण करने लगा और यन्त्र अध्यव-साय बौद्धिक स्तर की सीमा पर टकराने लगा। सुतराम् समाज के वर्गो की परिभाषा सास्कृतिक मूल्यों के आधार पर अहर्निश परिवर्तित होती सारहीन हो उठी। बस्तुत· वर्ग संघर्ष से अधिक तीव्र और महत्त्व-पूर्ण हो उठा अपनी ज्वाला से जलते-बुझते वर्गसंस्कारों का संघर्ष। कामायनी में भी "नर्तित नटेश" के युगलपाद सहार और सृजन के ही हैं : किन्तु नर्तित नटेश की प्राविधिक आख्या में वे सभी कोटियाँ उनके

अन्तर्भूत है जो पदार्थ से चेतन्यपर्यन्त सम्भव है मनु की संघर्ष-तपस्या में एक दीप्त सत्य रूप वे युगलपाद प्रत्यक्ष होते है।

बीसवी शती के द्वार पर खडी प्रसाद की सारस्वत-प्रतिभा को युगावबोध मे युगप्रश्नो पर ठहरना, सोचना और समझना पडा—लोक-मानस के आसमग्र-योगक्षेम की बलवती अभीप्सा और विश्वमांगल्य के अभिजात संकल्प ने उसे कुछ आगे बढने और भविष्य को सार्वभौम दृष्टि से ग्रहण करने की प्रेरणा दी, जिस भविष्य में मानव को अन्तरिक्ष वेध करना था। उस प्रतिभा के ठहरने, सोचने और समझने के पडाव के रूप में प्रसाद-साहित्य की अन्य सभी कृतियाँ है, कामायनी को, जहाँ उस संकल्प को सिद्धि मिलती है छोड शेष समस्त प्रसाद-साहित्य इस रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। कामायनी को जानने की चेष्टा स्वयमेव समग्र प्रसाद-साहित्य को जानने की चेष्टा उसी प्रकार है जैसे "एकमेव विज्ञातं सर्वं विज्ञातं भवति"।

कामायनी के वस्तुतत्त्व और उसके विभिन्न अंगों पर अनेक दृष्टियो से बहुत कुछ लिखा जा चुका और लिखा जायेगा। किन्तु उसके दर्शन, उसके मनोविज्ञान, उसके साहित्य और उसमे निहित इतिहास-तत्त्व की गवेषणा करते हुये कवि-दृष्टि उपेक्षित नहीं रहनी चाहिये। उनके जीवन-काल मे ही ऐसे प्रसंगो का सूत्रपात हो चुका था और अस्पष्ट एवं साग्रह-सापेक्ष समीक्षायें होने लगा थी जो वास्तविक दृष्टि से परिचित न रहने के कारण तथ्य-समीपी न थी। भविष्य मे ऐसी उलझनो के बढने की आशका मे उन्हे आवश्यक प्रतीत हुआ कि बिना किसी मतवाद और खण्डन-मण्डन के उस वास्तविक सिद्धान्त-दृष्टि का परिचय दे दिया जाय जिससे उनके साहित्य का आयाम अपने प्रकृत आलोक मे देखा जा सकता हो। सुतराम् काव्य, नाटक, रस, रंगमच, रहस्यवाद, छायावाद प्रभृति उस समय उठे और चर्चित प्रसंगों पर उन्होंने सूत्रशैली में कतिपय निबन्ध लिखे और साहित्य की प्रयोजनीयता और साहित्यकार-धर्म के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया: जिससे उनके साहित्य के चरम कथ्य कामायनी के हेतु, वस्तुतत्त्व और उसके स्वरूप संगठन की अभिज्ञा सहज रहे।

वहाँ कहा गया "जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पोड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते है साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिये और सिद्धान्त से

ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिये यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता, क्योकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चिचित्र करता है कि समाज कैसा है या था, किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता[1]। इन दोनो के कर्तव्य स्वतन्त्र है। साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुये भी उसमे आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुख-दग्ध जगत ओर आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिये असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमे विश्व-मगल की भावना ओतप्रोत रहती है।" (यथार्थवाद और छायावाद)

महाकाव्य के सम्बन्ध में वहाँ ये पंक्तियाँ मिलती है—"मानव के सुख-दुख की गाथायें गायी गई है। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यो मे महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है"।

(आरम्भिक पाठ्यकाव्य)

'नाटक मे, जिसमे आनन्दपथ का, साधारणीकरण का, सिद्धान्त था, लघुतम के लिये भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि मे जन साधारण का अवतरण किया जा सकता था, परन्तु विवेक परम्परा के महाकाव्यो मे महानों की ही चर्चा आवश्यक थी'। 'काव्यधारा मानव में राम है—या लोकातीत परमशक्ति है इसी के विवेचन में लगी रही। मानव ईश्वर से भिन्न नही है यह बोध यह रसानुभृति विवृत नही हो सकी'। रस की प्रचुरता यद्यपि थी क्यी कि भारतीय रीति ग्रन्थों ने उन्हे श्रव्य में भी पहले प्रयुक्त कर लिया था, फिर भी नाट्यरसों का साधारणीकरण उनमे नही रहा'। (आरम्भिक पाठ्य काव्य) ऊपर दिये गये उद्धरणों से (काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध के) स्पष्ट होता है कि काव्य की

---

१ तु० इतिवृत्तवशायातात्यक्त्वाननुगुणा स्थिति, उत्प्रेक्ष्योप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नय· (धन्यालोक ३–११) कविनाकाव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रस-परतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणास्थितिंपश्येत्तदेमांभंक्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुण कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किंचित्प्रयोजनम्, इतिहासादेवतत्सिद्धे·। (लोचन टीका)

प्रयोजनीयता और कविकर्म के तद्यावाध आगत आर प्रस्तुत स्वरूप कामायनी के कवि के निकष पर विश्वामागल्य के अर्थ श्रेय-प्रेय समन्वित सुवर्ण नहीं ठहरे फिर उनसे युग-बोध की वैसी प्रतिमा क्यो कर ढलती जिसके चरणो मे समस्या और समाधान के अक्षत पुष्प सजे हो।

काव्य जगत के चक्रवर्ती उन विवेक परम्परा वाले महत्ताप्राण महाकाव्यों के माध्यम से मानवी रावेदनाओ की गाथायें गाई गई जिनके नायण सुवर्ण के मेरु होते थे वसुधा के जलते रज-कण नही। वहाँ लघुतम के लिये कोई स्थान नही था उन नायको के अर्थ और समाज-तन्त्र पृथक-लक्षण-विशिष्ट और परिग्रह-विपुल होते थे जो कही-कही लोकोत्तर-सीमा का भी स्पर्श करते थे : फिर लोकसामान्य चेतना के भावाभाव-गत कम्पनों की अनुकम्प-लहरी उनमें कैसे उठती ? सुतराम् कामायनी के युग में आमग्र लोकमंगल ही काव्य का प्रयोजन बना (वह कामायनी जगत की मगल कामना अकेली) · जिसकी सहज प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिये संकल्प की दिशा पकडनी पड़ी और 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' का परिणाम काव्य-पुरुष का प्राण बना।

मणि किरीटी चक्रवर्ती रूप मे धीरोदात्त नायक अकेले अभिनय में केवल स्वगत ही बोल सकता है · सुतराम्, नाटको में जनसामान्य के बिना काम नही चलता। और सामान्य-जन-सवेदन महाकाव्य मुख से नहीं बोल सकते, अतः प्रयोजनीयता की दृष्टि से नाटक और काव्य की विधाओं के समन्वय से इस रूपक-वृत्ति वाले काव्य कामायनी की कल्पना साकार हुई जिसमें जनसामान्य-सवेदनों के मूलभूत-स्फुरण काव्य-रग पर उपस्थित हो अपनी गाथाये गा सकें। किसी घिसेपिटे टकसाली धीरोदात्त नायक को ले महाकाव्य के प्रस्तुति की तो वहाँ दृष्टि ही नहीं फिर वैसे लक्षण ढूँढ़ने और पाने न पाने की बात ही व्यर्थ है।

मौलिक दृष्टि यहाँ जनसामान्य की अन्तर्जात संवेदन गाथा पर है और उसी स्तर पर कामायनी के अनुनायक मनु का अभिनय सफल भी होता है। गत मन्वन्तर का धीरोदात्त मनु नये मन्वन्तर में सामान्य-जन की भूमिका में संवेदन के हेतुतत्व ले उपस्थित होता है : और, जहाँ वह अपने पिछले उच्छृङ्खल अतिचरण उठाने लगता है वही उसके दर्प को प्रकृति का अन्तर्जात-विद्रोह-तत्व चूर कर देता है। काव्य-चेतना में लघुतम को स्थान मिले, सूक्ष्मतम स्फुरणों की परिचर्चा हो सके, विश्वोतीर्णता विश्वमयी हो अपने यथार्थ कह सके और अपना भूला-बिसरा

निजरूप मानवता की पहचान में आ जाय, यह रूपक वृत्ति के सहारे प्रत्यभिज्ञा की दिशा पकड़ कर ही सम्भव था · मात्र रचना उपक्रम मे निज के सीमित भावद्रव से ढले किसी कोरे काव्य या महाकाव्य के बूते नही। मानव जाति की यात्रा के मध्यवर्ती पडावो या युगो के परिधिवर्ती कथानक लेकर ऐसे आधारभूत तथ्यो का सफल विवेचन भी सम्भव न था। इसके अर्थ राम, कृष्ण या बुद्ध जैसे लोकोत्तर चरित नायक प्रयोजनीय नही हो सकते थे अपितु उन चरितों की वह अपर्णा-जननी-मूर्ति ही युक्त हो सकती थी जो मानवता के प्रथम चरण मे अपना सर्वस्व समर्पण किये उत्पीडन और दलन को पहली बलि बनी। यहाँ काव्य शास्त्रीय नियमों के प्रति विद्रोह काव्य की सात्विक (सत्वगत) निष्ठा के लिये आवश्यक हो गया कवि ने 'कल्पना को काम मे ले आने का अधिकार' युक्तत प्रयुक्त किया। आदि बिन्दु से चलकर गुण दोषो के प्रारम्भिक रूपो को विचारते आनन्द-समाधान की चैतन्यमयो दृष्टि लिये, लोकाग्नि के आदिम ताप झेलती 'सकल्प अश्रुजल' वाली कामायनी (श्रद्धा) के चरित नायकत्व मे ही ऐसी परिकल्पना साकार हो सकती थी : अन्यत्र और अन्यतया कदापि नही · कथमपि नही।

सास्कृतिक प्रगति की कुक्षि से उद्भूत और वैषम्य-जनित मानव-समाज की समस्याओ के निदान और उपचार के लिये प्रयोजनत., दुखों की निवृत्ति और आनन्द की अवाप्ति के अर्थ अन्य शब्दो में 'दुख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग के एकीकरण' हेतु मानव की सामूहिक चेतना को वस्तु से हेतु पर्यन्त उसके आसमग्र, अद्वित और समष्टि रूप में लेना-देखना होगा।

उस अन्तर्निहित चेतना की खण्डात्मिका अनुभूति और अवच्छेदगत अभिव्यक्ति एक और जहाँ विषमता-विस्तार से जगत को 'दुखदग्ध' करने के लिये तदनुकूल भूमिका प्रस्तुत करती है वही दूसरी ओर चेतना के परम-साम्य भाव और उसके अन्तर्जात भावरूप अर्थात् 'आनन्दपूर्ण स्वर्ग का निषेध भी करती है : स्वरूप विश्रान्ति का मार्ग काँटो से रूँध देती है।

स्वरूप के, अवयवी के, अगों को विदारित-विक्षिप्त-प्रक्षिप्त अथवा एक ही शब्द में व्यस्त कर तद्गत अभावों के पृथकश निरसन की योजना किसी मौलिक-अमोघ समाधान की दृष्टि से वायवीय ही रहेगी। वैसा करना एक सामायिक और चरणात्मक उपशामक उपचार तो हो

सकता है, किन्तु रोग की संस्थानगत निराकृति और उसका मूलोच्छेद या सर्वथा—निरास नही।

सुतराम् समस्यागत उपसर्गों का विलोप और सभी स्तरो पर उनका वस्तुत. निवारण, सहसा और विक्रान्तत कैसे अनुभूत और अभिव्यक्त हो : इसके अनुशीलन में प्रसाद-भारती का कामायनी-चरण एक रूपकीय गति लेकर उठता है।

उन चरणो मे, अतीत के ध्वसों से उपकरण ले अनागत को समुज्वल बनाने की लय है। भौतिक जगत पर 'अमृत-सन्तान' मानव के पूर्ण स्वामित्व की एक महती कल्पना है जिसमे पांच-भौतिक जगत पर उसका पूर्ण और वस्तुत· नियन्त्रण हो : अशनि और कारका जिसके संत्रास के कारण न बने अपितु मनुज के इंगितो पर वे चला करे मानवी सृष्टि को ऐसे धरारल पर ले जाने के प्रतिज्ञा कामायनी में प्रस्तुत है —

> "डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मगलमय वृद्धि,
> पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र खिची आवेगी सकल समृद्धि।
> देव असफलताओं का ध्वस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज
> पडा है बन मानव-सपत्ति, पूर्ण हो मन का चेतन राज।
> चेतना का सुन्दर इतिहास—अखिल मानव भावों का सत्य
> विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरो से अकित हो नित्य।
> विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण,
> पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण।
> उन्हें चिनगारी-सदृश सदर्प कुचलती रहे खडी सानद,
> आज से मानवता की कीर्त्ति अनिल, भू, जल में रहे न बद।
> जलधि के फूटें कितने उत्स द्वीप, कच्छप डूबे उतरायँ,
> किन्तु वह खड़ी रहे दृढ मूर्त्ति अभ्युदय का कर रही उपाय।
> विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढता व्यापार
> हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ामय सचार।
> शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे है, हो निरुपाय।
> समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

परस्पर विभक्त करने वाली मानवी संस्कृति की कृत्रिम खाइयाँ पाट दी जायँ (पटें सागर) सग्रहमूल केन्द्रीकरण के मणि-खचित-किरीट जो युगों से 'वहुतों' के अभाव के कारण बने हैं विघटित कर दिये जाएँ (विखरें ग्रह पुंज) अशन-वसन की चिन्ता-शिखाओं वाली वर्ग-वैषम्य-

जनित विभीषिकायें निरस्त कर दी जायँ (और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण) : और इन सब प्रत्यावायो को एक नगण्य स्फुलिग सदृश कुचल कर दृप्त-मानवता की दृढमूर्त्ति अपनी सम्पूर्ण सहृति मे उठ खड़ी हो। विश्व का दुर्बल-बिन्दु' उसका बल वने। वर्गोत्पीड़न-चक्र में प्रथमत.-पिष्ट, अबला-भूत नारी अपने बलात् छीने गये अधिकारो को अधिकृत कर बलमूर्त्ति हो जाय। शक्ति अबला नही सबला होकर ही शक्तिमान को स्पन्दित करती है। युगो के अन्तराल मे दीख पड़ने वाले उसके पराजय एक क्रीडावृत्ति मात्र है किसकी, यह प्रश्न अन्य है। मूल मे समाज मातृ-सत्तापरक है जिसके प्रतिषेध मे पितृ-सत्ता का उदय हुआ और इस क्रिया-प्रतिक्रिया मे विखण्डित शक्ति-प्रतिमा अब समन्वित होकर ही उस मानवता को विजयिनी बना सकती है : जो उसकी सन्तानधारा है। नर और नारी समन्वय-भूमिका पर ही सृष्टि-मगल कर सकते है : विषम भूमि एक को अनुवर्ती और दूसरे को पुरुषार्थहीन बनाती है। समाज मे आदि वर्गसघर्ष-भूमि नर और नारी के मध्य बनी · और यही भूमि वर्ग सघर्ष का अन्तिम कुरुक्षेत्र होने के योग्य भी है।

एतदर्थ मानव के भावात्मक, भावगत और भावनिष्ठ उस सत्य को देखना होगा और, उस तदर्थ चेतना का इतिहास जानना होगा जो शाश्वत-अभिनय-रत होकर अपनी अभिव्यक्ति मे स्थूल घटना के क्षणो का इतिहास बन जाती है केवल पदार्थ सत्य अथवा सत्य की क्षण-भगिमाये ही नही। विश्वसृष्टि के मच पर गिरने उठने वाली प्रति-सीराओ मे समष्टि-चेतना का अनवरत दृश्य-रूपक चलता है, इस रूपकीय रसानुभूति की विवृति में कहा है—

एष प्रकाश रूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निज रूपम्
पुन प्रकटयति झटिति क्रमवशाद् एष परमार्थने शिवरसम्

रूपकीय साधारणीकरण मे रस की यह एक विमल झाँकी है। यहाँ परमार्थ और शिवरस को सम्प्रदाय अथवा धर्म को 'चश्मे' से न देख मूलतः उद्दिष्टि अर्थात परमार्थ · और, संसृति के अर्थ मगलमय, पोषक और प्रेयरस अर्थात शिवरस और आत्मा को सहज-स्वतन्त्र प्रकाश-रूप-निज चैतन्य के अर्थ मे ग्रहण करने मे युगबोध से कही विसंवाद नही। यह उन्मीलन-निमीलन नाट्यधर्म का मूल और सहार सृजन के युगलपाद' वाले नटराज की भावमूर्ति भी है। स्वच्छन्द किवा निरावृत प्रकाश-रूप-आत्मा की ढाँकने उधारने की सहज-लीला उसकी विमर्शरूपिणी शक्ति के माध्यम से चलती है जिसमे विश्व-ससृति-रूप उसकी सन्तान के

उदयास्त सम्पन्न होते रहते है। रस द्वारा ही विश्व का पोषण-आप्यायन होता है। करुणामयी विश्व-माता अपने शिशु को रसपान द्वारा ही आनन्द-मग्न और जीवन्त रखती है—रस ही सृष्टि मूल है। सत्ता (सत् + ता) रस द्वारा ही विजिज्ञास्य ओर विज्ञात होती है 'रसोवै स'। इसकी मंगलमयी सत्ता के, स्नेह-निष्यन्दिनी-मातृमूर्ति से प्रवाह के निर्वचन में ऋचा कहती है—

यो व. शिवतगोरसस्तस्यभाजयतेह न'। उशतीरिवमातर ॥
(ऋक् १०–९–२)

ऐसे रूपकीय रसानुभूति के धरातल पर संचरित साहित्य दुखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का वैसा एकीकरण अनायास ही कर लेगा जिसे प्रसाद-भारती साहित्य का स्वरूप मानती है और जहाँ दुखमय दिग्दाहो से पीयूष के मेघ सम्पृक्त रहते है।

साहित्य यदि 'दुखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण' नही कराता तो, या तो वह विधि-निषेध-परक धर्मशास्त्र बनेगा अथवा विवेक की सशयात्मक खनित्री से निकला किसी घटना विशेष का दृष्टि विशेष युक्त उल्लेख होगा किंवा विकल्पध्वसावशेषो से उत्खनित सीमित तथ्यों का कोई पुराभिलेख होगा : किन्तु, रसभाव की प्रेय-प्रचुर सृष्टि उस साहित्य में सम्भव न होगी। वैसे एकीकरण का मार्ग नाट्यरसो के साधारणीकरण से ही सम्भव है। वह रसानुभूति, मानव ईश्वर से अभिन्न ही नही स्वय ईश्वर ही है—इस सहज बोध में है। सुतराम् मानव, व्यक्ति नहीं समष्टिभूत-मानव, महत्तम है स्वयमेव ईश्वर है। और महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है। विवेकपरम्परा में महानों की चर्चा महाकाव्यों मे रहती है समष्टिभूत महत्तम मानव की नहीं जिसमे लघुतम और जनसाधारण ही प्रधानत. उपादानभूत है। जो अणोरणीयान है वही तो महतो महीयान है और वह, युगों से उपेक्षित क्षुद्रतम बना मानव ही तो है? जिसके अर्थ कहा है 'मनुष्य देहमास्थायछन्नास्ति परमेश्वर.' मानव के शोषण, उपेक्षा और उसकी कदर्थना के विरोध में साहित्य जगत में यह अप्रतिम विद्रोही स्वर है, एक ऐसे क्रान्ति की घोषणा है जिसने निहित स्वार्थपरक सामन्ती विचार धारा को अपने ढंग से चुनौती दी है। तर्क में युक्ति से अधिक काम लिया गया है। समर्थन में शास्त्र-वाक्य भी अनायास जुटते रहे। वस्तुतः मानव मे राम है अथवा वह कोई लोकोत्तर सत्ता है : इसकी ऊहापोह से बेचारे मानव का क्या सधा,

वह जहाँ का तहाँ पड़ा रहा। विलक्षण और चमत्कार भरे तर्कासव की उसे लत पड़ गई और मध्य वर्ग के ऐसे वाग्विलास उसके लिये ऐन्द्र-जालिक आकर्षण-केन्द्र वन गए। उसे बताया तो जाता है कि राम जैसा आचरण करो रावण जैसा नही, किन्तु अपने को राम मत मानो, अर्थत. अपने राम को जानो नही। यह क्या विडम्बना नही ? अनुग्रह की महिमा के सन्दर्भ मे यद्यपि गुँसाई जी ने बताया 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' किन्तु विकल्प धारा के 'तुमुल कोलाहल' मे ऐसी 'हृदय की बात' कौन सुनता ? फलस्वरूप वह (मानव) अपने को राम न जान सका फिर वैसा आचरण कैसे करता ? सुतराम् समाज के रावणीव्रण दाह और पीड़ा से उसे विकल किये है। साहित्य ने इस दिशा मे समाज का क्या उपकार किया ? उस पर सर्वाधिक गुरुतर दायित्व था। दुख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग के एकीकरण को साहित्य मानने का अर्थ होगा दोनो की स्वतन्त्र सत्ता एव तज्जननी वैषम्य के उपसर्गो का निरास और निषेध और वैसे साहित्य मे सर्वमागल्य की सर्वसुन्दरता से मण्डित समाजमूर्ति का चित्र सहज ही प्रतिफलित रहेगा। विडम्बनाओ के विद्रोह मे उन निबन्धो मे स्थापना मिलती है। चिन्तन और अनुभूति की तपस्या मे कामायनी के लिये वह पीठिका प्रस्तुत हुई जिस पर समष्टिभूत मानव अपने मौलिक समस्या का समाधान, यथार्थ के वास्तविक विम्ब आदर्श के निर्मल मुकुर मे पा सके, और जिसके पात्र राम, कृष्ण और बुद्ध के भी पूर्वज हो और, जो सृष्टि के उद्‌भव से लय पर्यन्त की बहुस्तरणीय कथा कह सके। पात्र महत्ता और भूमिका स्फोति के सन्दर्भ मे ये तथ्य अवलोकनीय हैं जिसके आलोक मे दिव्याक्षरो मे अंकित मानव भावो के सत्य से समन्वित 'चेतना का सुन्दर इतिहास निखिल मानव भावो का सत्य विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरो से अंकित हो नित्य' (श्रद्धा सर्ग) कामायनी मे देखा जा सकता है।

रूपक सत्ता पर चेतन-दृष्टि से विचार के वाद पदार्थ-दृष्टि से भी उसे देख लेना है। गुणमयी प्रकृति का अस्तित्व गुणों के विषमावस्थागत परस्पर घात मे स्फुरित है। मात्रा और स्फूर्तिगत अनवरत परिवर्तनो से गुणों मे परिच्छिन्नत्वेन उन्मुख-विमुख, सगत-विसंगत, संयुक्त-वियुक्त आदि द्वन्द्वात्मक विरोधिभावगत वस्तुतत्व पदार्थ रूप में परिणत हो जाते हैं जिनके नानात्व की संहति के कार्य को जड़ से चेतन का विकास मानने वाले विश्व कहते है। अनेकात्म विचारधारा की

विश्रान्ति का यह स्थल होता है। कही गुणों को भी पदार्थरूप या रूपाधीन माना जा जाता है। गुणों के घटन में प्रस्तुत तत्व-सहृत्ति रूपाकार होकर यत प्रतिक्षण-प्रतिपद परिवर्तनावीन है अत उनमें, अन्य शब्दो मे घटना मे तो अनित्यता का आरोप सहज है किन्तु घटित विश्व की तथता और वर्तमानता का वस्तुगत निषेध कहाँ ? विश्व चाहे संहृतिजन्य कहा जाय अथवा स्वोन्मिष्ट किन्तु है एक घटना का पदार्थ-भूत कठोर सत्य ! और, इसे ही असत्य मान बैठने से मनीषियो के तत्व चिन्तन को कहाँ ठाँव मिलेगा ? जगत मिथ्या कहने वालो की शास्त्रीय व्यायामशाला फिर कहाँ होगी ? कदाचित, यह उपक्रम कुछ वैसा ही होगा जैसा कृषि-वाणिज्य के योगक्षेम को उपेक्षा और हेयता देते समग्र मेदिनीमण्डल को पीतकषाय से ढँक कर भी गृहपति के द्वार से पिण्डपात की अभिलाषा !

इस घटन-क्रिया से समग्र-भूत-तथता की संहृति को एक घटना-प्रवाह के रूप मे लेने की सुविधा हो जाती है : और फिर एक ऐसा अर्द्धविराम आता है जो कुछ के लिये पराविश्रान्ति का स्थल बन जाता है, फलतः प्रमाणवार्तिक अलमिति के स्वर मे 'संहतौ हेतुता तेषाम्' कह देता है। किन्तु उस कारण-भूत सहृति के कारण पर विचार की आवश्यकता न हुई और सुविधानुसार मीमांसा वहीं रोक दी गई। ध्यातव्य है कि सहृति प्रक्रिया मे संहृत इकाइयाँ सहृत हो कर भी एकी-भूत नही होती' . इयत्तायें मिलित होकर भी आस्तित्व रखती हैं, उनकी प्रकृति केवल अशांत्मकतया उपहृत होती है। उनके गुणों में साम्य नही आता सुतराम् प्रकृति का सर्वथा निरास नही होता। यदि उनमें साम्य आ जाय तो फिर सवर्त्त की दशा होगी विवर्त्त की नही। फिर सहृति में हेतुता ही तो है : हेतु कहाँ ?

पदार्थगत नानात्व की संहृति से चेतना के विकास की कल्पना करते हुये भी चेतनगत चेतना की चेतना सामान्यत. अनदेखी रह जाती है। फलत. पदार्थगत नानात्व की अभ्यास-दृष्टि चेतना में भी नानात्व का आरोप करती है : सुतराम् अद्वय चैतन्य के विस्मृति की पहली छाप लिये द्वयता ततः उसके परवर्त्ती मुद्राको से अनेकात्म-अचेतन पदार्थ-भूतबहुला के स्थान पर पदार्थ-नानात्व की संहृति से चेतना का विकास मान उसकी (चेतना की) परिच्छेदों में कल्पना कर ली जाती है, फलतः पदार्थभूत चैतन्य अपने अंगों में स-राग और सरक्त

नहीं वि-राग और विरक्त होता है और चिति केन्द्रों का सघर्ष अनवरत हो जाता है ।

चेतनता का भौतिक विभाग, कर जग को बॉट दिया विराग
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत उल्लासपूर्ण आनन्द सतत
तल्लीनपूर्ण है एक राग झंकृत है केवल 'जाग जाग' (दर्शन)
चिति केन्द्रो में जो सघर्ष चला करता है
द्वयता का जो भाव सदा मन मे भरता है (सघर्ष)

पदार्थ से चेतना के विकास अथवा चेतन से पदार्थ के उन्मीलन इन दो में किसी भी सरणि से चलने पर विश्व के रूपकतत्व की सिद्धि है । अपनी साद्यन्तता मे भी अनादि-अनन्त रूप भी मासमान वैचित्र्य से भरा परस्पर विरोधि-समागम से प्रस्तुत और गुणात्मक परिवर्तनों में ख्यात, यह विश्व एक रूपक वृत्ति से स्फुरित है—'लीला का स्पन्दित आह्लाद है : 'चितमय' का 'प्रभापुंज' 'प्रसाद' अथवा 'प्रभापु ज चितिमय' की प्रसन्नता किंवा 'प्रसाद' है ।[1]

विश्वगत घटना प्रवाह में घटको का आविर्भाव-तिरोभाव छायामय और चलित चित्रों के सदृश-सरूप है जो एक रूपकीय सत्ता की परिणति घोषित करते है · अथवा चेतन जिसकी प्राविधिक आख्या 'नर्तित नटेश' है 'परिवर्त्तन के पट' उठा पदार्थ एवं उसके सृष्टि-संहार को गति-चैतन्य देता 'नृत्य निरत' है ।

विश्व के घटक-पदार्थतत्त्व ऐसी रूपकीय संहृति मे विरोधिसमागम-पूर्वक स्वतः मच रूप हो परिणतियाँ अथवा गुणात्मक परिवर्त्तन प्रस्तुत करते है। इनमे प्रत्यक्ष घटनासत्य के 'रूपग्रहण की चेष्टा' अथवा कार्यता सविराम और क्षयिणी होकर भी अपनी कार्यसत्ता की अविरामता और उसके अक्षय भाव का परिचय देती है—

कार्यता क्षयिणीचात्र पुनः कार्यश्च अक्षयम् (स्पन्दसन्दोह)

१ जगच्चित्रं समलिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि
स्वयमेव समालोक्य सन्तुष्टा परमाद्भुतम (परावासना)
भासयन्त जगच्चित्रं सकल्पादेव सर्वस्व (त्रिपुरा रहस्य)
जगन्नाट्यप्रवर्त्तयिता सुप्ते जगति जागरूक (प्रत्यभिज्ञा टीका)
विसृष्टा शेष सद्बीज गर्भं त्रैलोक्य नाटक
प्रस्ताव्यहरसहर्तुरवत्त. कोन्य कवि. क्षम (स्तवचिन्तामणि)

नट की रंगचेष्टा अभिनय पदवाच्य है। छायामय चलचित्रो मे पूर्वक्षण सम्पन्न घटनाओ के बिम्बानुकार एक आवरण भित्ति पर उदयास्त पाते है। किन्तु इस परोक्ष अथवा अपरोक्ष घटित अभिनय में नट के वास्तविक स्वरूप का अवगूहन और अन्यरूप की विधृति ही रूपक वृत्ति के मन-प्राण-देह है।

स्थूल कोषों के अन्वेषण करते-करते जो विलक्षण प्रतीतियाँ होती है वे अन्तराल बाहुल्य का कथन करती है। उनमें भी चल रहे नटन-नर्त्तन के वैद्युतिक-तरग-स्तर तक ही हम यन्त्र साधन से पहुँच पाये है- आगे कितना पथ शेष है? कौन जाने? किन्तु विस्मय तब होता है जब प्रगति और विकास के पक्षधर इसी विन्दु पर 'इदमित्थम' बोल देते है। यहाँ प्रगति रुकती है और अगति उपस्थित होती है।

पदार्थ-संहति मे हेतुता कहने से यह अभिप्राय भी लिया जाता है कि हेतु पदार्थगत न हो उनके परस्पर मेलन से विगलित भेद-संस्कार दशा के प्रति उन्मुखी प्रक्रिया मे; उसकी एकीभूत अवस्था किंवा अद्वयी-भूत-भाव में परनिष्ठित है. सुतराम् पदार्थ या भूत-तथता तो जड़ात्मिका हुई, और उसका मेलन एक चैतन्यमयी क्रिया हुई। संहति अथवा मेलन उन्मुखी भाव में होता है जिसका मूल एक संकल्प विन्दु में निहित रहता है। विकल्पात्मक विमुखी भाव में मेलन संभव नहीं। मेलन या उन्मुखी भाव के चेतन क्रिया की परिणति में पदार्थ संहति किंवा विरोधिसमागम स्फूर्त्त है: और गुणों के गुणनफल की भी यह उद्‌गम भूमि होगी जिनमें गुणात्मक परिवर्त्तन संभूत है। निष्कर्षतः, परस्पर उन्मुखीभाव की गाढ़ता मे एकीभूतावस्था हेतुता की जननी है न कि विमुखी विकल्पों की वियुक्त असंहत और अनेकात्म जड़मात्रता। हेतुता कहते ही उसके अभिमानी हेतु का प्रसंग आ जाता है। यतः यन्त्रारूढ होकर हम हेतु सरणि के किसी छोर पर नहीं पहुँच पाये अतः अ-हेतु की वास्तविकता या उसके हेतुभूत रहने की कथा को एक कल्पना या मिथ्या-अनुमान बता देना कोई विस्मय की बात नहीं: और फिर गुणमयी प्रकृति की कठिन धातु को पिघला कर एक नए साँचे में ढालने की बात तो और भी उपहास की वस्तु होगी।

फिर, वैसे हेतुभूत पदार्थतत्व की संहति का यह प्रतिक्षण उदयास्त भी तो रूपक ही है। सुतराम्, रूपी का निजरूप या स्वरूप कुछ और ही होगा जिसके भंगिमा की परिणतियों से यह विश्व-रूपक प्रस्तावित

और प्रस्तुत होता है। उस संहृति में उन्मीलित उसके निज का क्या वह स्वरूप नही जिसके अवयवीभूत रह समस्त तत्व समुदाय स्पन्दित है और जो अनेक न होकर ही रूपकोचित नाना ग्राह्य-ग्राहक भूमिकाधि-वासित अगण्य रूप संस्करणों में परिच्छिन्नत्वेन भासमान है। यह पदार्थगत संहृति-विक्रम भावान्तर मे उदयार्थी हो आविर्भावपदवाच्य होगा और पदार्थो का प्रभृतित्व-विलयन तिरोभाव होगा फिर यह तो हेतु नही परिणाम है। स्मृति-विस्मृति और उसकी सन्ध्या का झिलमिल प्रकाश है जिसमे चैतन्यमयी सत्ता अपना स्वरूपगोपन कर रूपक-जीवन बनी है। स्वरूप की विस्मृति और घृतरूप में यथासंभव गाढतम निष्ठा, अभिनय की प्रतिज्ञा है। अ-हेतु की लीला अथवा संचरणरूप हेतु का परिणाम विश्वाकार है। जैसे शून्य के अभाव मे, उसे आधार माने बिना अको की दूरी ससज्ञना सम्भव नही उसी प्रकार हेतु निषेध की जो अहेतुकी दशा है वही सर्वाधार और वही पदार्थोदय और तत्व सहृति की भूमि हो सकती है। अहेतु का ही स्फुरण लीला है। (त्वमेव स्वात्मानं परिणमायितुं विश्ववपुषा)।

बहुधा कामायनी में प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिक-दर्शन की विवृति बतायी जाती है। शैवागम की बाते कही जाती है। जो त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा को जो एक सम्प्रदायपिटक मान बैठे है, वे कदाचित उसकी मौलिक दृष्टि एवं प्रयोजनीयता के प्रति न्याय से विमुख है। शैवागमों का विस्तार त्रिधा प्रस्थित होकर, भेद-भेदाभेद अभेदपर्यन्त स्फीत है। सुतराम् बहुप्रस्थानीय, अनेक-दृष्टि अवलोकित एव आधारभेद से भिन्न-रूपाव-स्थानीय व्यापकरूप शैवागम शब्द का व्यवहार कामायनी के लिये कहाँ तक उचित होगा, उदाहरणरूप जिसके अन्तर्मुक्त वीरशैव मत स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को ही त्रिपुर कहता है जो अपेक्षाकृत स्थूल है। वीरशैव मत समाधि को सामरस्य मानता है जब कि अभेद धारा मे सामरस्य, निर्विकल्प-सविकल्प आदि समस्त दशाओ को क्रोडीकृत करते सर्वथा विलक्षण है यही नही, त्रिक मार्ग मे तो लोकानन्द और समाधि सुख भिन्न अर्थ नही रखते—'लोकानन्द समाधिसुख' (शिवसूत्र १-१८)। यद्यपि कुछ स्थल कामायनी मे ऐसे पाये जाते है जिनमे प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तो की छवि मिलती है। यथा—'कर रही लीलामय आनद', आदि। किन्तु इन्हे ही अलमित्ति मान बैठना सगत न होगा। वस्तुत प्रत्यभिज्ञा का भाव रूप क्या है, और उस दर्शन की तत्वसत्ता को किस रूप-प्रकार मे प्रसाद भारती ग्रहण करती है, जिसमे एक शाश्वत-चिन्तन धारा और

युगबोध, उभय संवादित है यह ध्यातव्य होना चाहिये। क्या दर्शन और साहित्य को पृथकश देखने मानने से ऐसा सम्भव है ? लोक-जीवन के लिये अव्यवहार्य वस्तु की न तो दर्शन मे उपयोगिता होगी न साहित्य में प्रयोजनीयता ही। विस्तार से बचने के लिये यहाँ त्रिक और सामरस्य के प्रसग छोड रहा हूँ, यद्यपि वे प्रयोजनीय है यथावकाश उन्हे आलोचित किया जायगा।

द्रष्टा और दृष्य के समन्वित-सयोजन की प्रक्रिया मे एक स्थितिमयी-गति और गतिमयी स्थिति प्रस्तुत हो भावरथ के चक्के चला देती है और वाङ्मय मे चेतना का अन्तर्मुख संचार हो उठता है—जिसे दर्शन की वाणी बता कर साहित्य की अभिजात धारा को मरु मे सुखाने की उन्हे सुविधा हो जाती है जो अदर्शन मे उपरमित रहना चाहते है। वाग्रस को चरमावस्था की ओर जाते देखना, या तो वे चाहते ही नही या जानते नही। सुतराम्, 'पुरुषस्य वाग्रस' की सुधा से सुधि वचित रहती है प्रकारन्तरेण जिन्हे काल के बौने चरण ही प्रिय है · और जो, उसके उस चिरप्रवाही समग्र-धारा के महानिर्घोष से भीत है, जो महाकाल की स्थिति तक जाने को चली है। इस यात्रा का उपक्रम ही काल प्रवाह है, जिसकी उपेक्षा सम्भव नहीं।

दर्शन एक गतिमय स्थिति है। क्रिया भी है संज्ञा भी, दशा भी है दिशा भी। सज्ञा-मात्र मान लेन से उस पर वेदान्त-कथित शुद्ध-ब्रह्म जैसी निष्क्रियता का आवरण पड़ जाता है, जिसे हटा उसे सक्रिय करने के अर्थ ऐसी माया आवश्यक होती है जो स्वयं एक आवरण कही जाती है। यदि माया कोई आवरण डाल सकती है तो क्या हटा नही सकती ? यदि वह ब्रह्म में क्षोभोत्पाद कर सकती है तो उसे शान्त भी कर सकती है, कृतित्व तो उसी माया मे निहिति बताया जाता है। प्रतीत होता है कि विदेशियों द्वारा आक्रान्त और पराभूत-प्राय जाति जो विकास और प्रगति से दूर जा चुकी थी और आत्मसकुचित सामन्ती युग मे जी रही थी, अपने परमतत्व की, ऐसे निष्क्रिय ब्रह्म-रूप के अतिरिक्त अन्य कल्पना करनेमें अक्षम थी, जो कि स-बोध होने के साथ ही सक्रिय भी हो। अतएव इतिहास के उन अंधेरे क्षणों में अपने साध्य किंवा ब्रह्म को व्यावृत्ति एवं त्याग अथवा सन्यास द्वारा पाने की एक विवशता थी : अनुवृत्ति और ग्रहण की समर्थता पराभूत समुदाय मे सम्भव नहीं : सुतराम् भारतीय चिन्तनधारा को तब बाध्य हो कर इस दिशा में मुड़ना पड़ा। वही जाति जब स्वतंत्र आर्यों की पराक्रमी जाति

थी तब माया उसके पराक्रम-प्रतीक इन्द्र की कर्मदायिनी शक्ति थी। (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते–ऋक् ६–४७–१८) इतिहास के मलिन काल मे उन्ही आर्यो के वंशधरों द्वारा माया आवरण और प्रत्यवाय मात्र मान ली गई। सुतराम् आर्य विचारधारा का गतिमय दर्शन— उसका क्रियामय रूप अब निष्क्रियता का स्तूप बन गया।

इस प्रसंग मे प्रसाद-वाङ्मय की प्रारम्भिक उठान अथवा ब्रजभाषा काल मे ही भावी युग की, लोक वेदना की, और विश्वमागल्य की सशक्त पुकार मिलती है।

ऐसो ब्रह्म लेइ करिहै
जो नहिं कहत सुनत नाहिं जो कछु, जो जन पीर न हरि है।

दर्शन क्रियामय रह कर ही गति-समन्वित और जीवन्त रह सकता है। इसलिये भारतीय परम्परा मे दर्शन मूलत· जीवन-व्यवहार की गतिमयो सत्ता के अर्थ प्रतिष्ठित हुआ न कि जीवन से पृथक केवल आदर्श-परक और दुष्प्रापणीय एक सिद्धान्त बिन्दु अथवा वाग्विलास मात्र। उसे ज्ञान रूप मे मानने के साथ ही क्रियात्मक भी मानना ही होगा अन्यथा स्थिरमगल शिव से उसकी स्पन्दशक्ति को पृथक कर शव की उपासना करने के अर्थ ही क्या ?

प्रत्यभिज्ञा की धुरी महाकील शिव वस्तुत कोई आकार-कल्प-वान वा कल्पना तरु का फल, जलाक्षतोपास्य जटाभस्म कलापो परिमित विग्रह नही। उस महेश्वर की तात्विक व्याख्या मे भास्करकण्ठ कहते है—महेश्वर -ज्ञानक्रियारूपमहैश्वर्युक्त , सिद्ध -स्वयसिद्धनिजात्मरूपतया स्थित , न तु बहि साधनीयतया स्थित भवति, सिद्धा हि व्यवहारसमये पि तत्कारणस्मृतिसबन्धादिमूलभूतयोजक ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तपरप्रमातृ-रूपान्तरतत्वमेत्र महेश्वरतया जानते न तु बहि. कमपि भस्मादिभूषित मूढोपासनामात्रार्थ कल्पित परिमित देवविशेषम्। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनो-ज्ञानाधिकार ८ आह्निक- : भास्करी)।

प्रत्यभिज्ञा क्या है ? विस्मृत अविज्ञात का ज्ञान अभिज्ञा है जिसे तथागत-बुद्ध दिव्य ज्ञान के अर्थ मे लेते है किन्तु, अनन्तर भी वहाँ सबोधि पानो शेष रह जाती है। पुराज्ञात किन्तु अधुना-विस्मृति की स्मृति का पुन· लौटना प्रत्यभिज्ञा पदवाच्य है। जिस आवरण से ढक अभिन्न और विज्ञात-स्वभाव विस्मृत होकर भिन्न प्रतीत होने लगता है उस आवरण का निरास ही प्रत्यभिज्ञा हे। प्रत्यभिज्ञा को तत्त्वत ग्रहण न कर सकने की दशा मे उसका स्वरूप सम्प्रदाय-परक और धर्म-मूलक मान लेने की सुविधा हो जाती है . और निरपेक्षतया स्थित सर्वसामान्य,

मात्र स्पन्दसत्ता बुद्धि के घरौंदे में बन्द कर अनेक रूपो में बताई जाती है, यह केवल बौद्धिक कोशल है। अपने एक-लिगात्मक प्रतीक मे वह अलिग-सत्ता न जाने किस अतीत से विश्व-पीठिका पर आसीन और आहृत है। भूगोल के सभी भागो मे चाहे वे- अफ्रीका के गहन वन मे हो, हिमालय की दुर्गम घाटियो में हो अथवा योरप-अमरीका मे हो, अरब-ईरान के मरु-जागल प्रदेशो मे हो अथवा बर्मा-मलाया के सघन-वनों मे, यह प्रतीक अविज्ञात काल से चिन्तन और ध्यानसमर्पण का केन्द्र बना है। क्या मानव ने ज्ञानोन्मेष की उषा मे ही सृष्टि के प्रेरक अवस्थापक और समाहारक किंवा उसके उन्मीलक और निमोलक रहस्य की तत्त्वसत्ता का आभास अपने चित्त के अभिजात मुकुर मे सहज ही पा लिया था ? जो, युगों के ओघ दूरदेशो मे विस्तार-विकेन्द्रण की झझा झेल कर भी निभृत कोणो में अपनी परम्परा-सत्ता बनाए है ' नही, उस 'निराभास' का आभास उस सुप्त स्थानीय अणु मे अन्तर्जातत्वेन अनुस्यूत रहा, मानव रूप जिसका बृहण मात्र है। पूजने और पूजवाने के लिये सृष्टि-प्रक्रिया के इस मूल रहस्य का चाहे बहुविध विडम्बन क्यो न किया जाय किन्तु सात्त्विक अन्वेषण को निष्ठा उसे सदैव अपनी तथता में पाती रही, उस तथता को कितने समीप से, यह प्रश्न दूसरा है। अचेतन के रहस्यो के स्वामी भौतिक विज्ञान को चेतना के रहस्य तक अभी पहुँचना है। बहुधा उसे 'शिश्नदेव' और अनार्यों के पूज्य के रूप में देखा जाता है। मानवी सामूहिक चेतना लाखो-लाखों वर्षों पूर्व अपना प्रस्थान बिन्दु छोड़ चली होंगी और कितने ओघ और स्थानान्तरण, युग और महायुग बीतने पर आर्य्य-अनार्य्य, देश-विदेश और जाति-प्रजाति के विभाजनो म समष्टि चेतना के कृत्रिम खण्ड बने होंगे, कौन कह सकता है ? फिर उन सभी खण्डों ने ज्ञानोन्मेष प्रथम उषा की लालिमा को नाना अनुरूप रूप-प्रकारों मे इसे सचित रखा हो तो आश्चर्य क्या ? सुतराम् वह एक देशीय या एक जातीय परम्परा तो हो ही नही सकती।

प्रसाद वाङ्मय का सकल्प बिन्दु-प्रेम-पथिक है जो प्रथमतः संवत् १९६३ में प्रस्तुत हुआ अर्थात् कवि के १७ वर्ष के वयस् मे। इसका प्रकाशन इन्दु मे संवत् १९६६ में हुआ। इसी वर्ष से इन्दु का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। प्रेम-पथिक के प्रथम संस्करण की भूमिका (१९७०) में आठ वर्षों पूर्व ब्रजभाषा रूप मे इसके लिखे जाने का उल्लेख है। प्रत्यभिज्ञा दृष्टि से शोध-प्रसग में केवल कामायनी के पन्ने उलटना ही पर्याप्त नही कामायनी के मनु की चेतना 'रही विस्मृति सिंधु में स्मृति-नाव विकल अकूल' को जब कूल किनारा मिलता है तब पहचानते हैं

' वही छवि ! हाँ वही वैसे ! किन्तु क्या यह भूल ?" और प्रेम-पथिक का 'किशोर' तापसी चमेली को पहचान लेने पर कहता है "कौन चमेली ? अरे दयानिधि यह क्या कैसी लीला है ?"

भारतीय साहित्य मे यह प्रत्यभिज्ञा का तत्व जब जब अपने आन्तर-स्पर्श की सात्विक निष्ठा से उदित हुआ, विश्व की दृष्टि चमत्कृत हुई है, विस्मित हुई है। तत्व संयोग मे विस्मय का आना तो कोई कुतूहल की बात नही, यह तो एक भूमिका है। (विस्मयो योग भूमिका) विश्व साहित्य का उज्ज्वल रिक्थ शाकुन्तल क्या प्रत्यभिज्ञा की रूपकीय अभिव्यक्ति नही ? प्रसाद वाग्मय मे प्रत्यभिज्ञा की स्वतन्त्रसरणि है। साध्य बिन्दु तक पहुँचने का एक मौलिक मार्ग है, सुतराम् प्रस्थान विशेष का आरोपित-आलोक व्यवहार्य नही यद्यपि उनसे विवाद न तो तत्वत है न तो भावत अपितु वह अन्त -स्फूर्ति है। इस दृष्टि का परिचय उस महत्वपूर्ण सवत् १९६६ मे लिखित भक्ति नामक निबन्ध मे यो प्राप्त है—'मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित मे नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते है। और उन्ही भावो के पर्यालोचन मे उसके हृदय मे एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लोग चिन्ता कहते है। वह चिन्तित मनुष्य ससार मे किसी 'अघटन घटना पटीयसी शक्ति की लीला देखते देखते मुग्ध होकर उस शक्तिमान की खोज करता है। जब वह भ्रमता है, तब उसे उन पथप्रदर्शको की मधुर सान्त्वनामयी वाणी कर्ण गोचर होती है—"श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि" ।

अस्तु ! यदि उस सर्व-शक्तिमान को कोई ऊँची वस्तु मान लिया जाय, तो भक्ति उसे पाने का दूसरा सोपान है, नहीं तो ऐसा ही मान लिया जाय कि किसी निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने की, एक सहारे की श्रखला है, जिसमे कि ये चार कडियाँ है। इनमे ऐसा घना सम्बन्ध है कि वह किसी प्रकार से नही छूट सकता। मानव-सृष्टि धारा-प्रवाह की तरह उस महासागर की ओर जा रही है। उस धारा प्रवाह मे श्रद्धा जल है, भक्ति वेग है तथा उसका गमन ही ज्ञान है, और उसका योग हो जाना ही महासम्मेलत है। श्रद्धा 'भक्ति' मे केवल नामान्तर है, श्रद्धा का पूर्ण स्वरूप भक्ति है, भक्ति बिना पहचाने होती नही, और बिना मिले जाना भी नही जाता, इसी से कहते है कि इनका परस्पर घना सम्बन्ध है। इसे नामान्तर अथवा भावभेद भी मान सकते है।

श्रद्धा के परिपाक में भक्ति से उसे मनुष्य कहता है—'सत्य' जब उसके मगलमय स्वरूप को देखता है, तब उसके मुख से अनायास ही—

'शिव'—निकलता है, पुन. मनुष्य उस आलोकिक सौन्दर्य से आनन्दित होकर कहता है—'सत्य शिव सुन्दरम्'।

(इन्दु का फाल्गुन संवत् १९६६—चित्राकार में संग्रहीत)

कामायनी शिखर की यात्रा का यह आदि सोपान है। आँसू में यह दृष्टि सक्रिय और प्रौढ़तर भाव में सम्मुख आती है—विस्मृति समाधि लेती है जिसमें मंगल की सम्भावना का विश्वास दृढ होता है। द्वन्द्व परस्पर उन्मुख दशा में मिलित होते हैं, सर्ग और प्रलय की सन्ध्या तो होती है किन्तु पुन उदित होने की एक सम्भावना लिये—

विस्मृति समाधि पर होगी वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ-सा चिन्ता छुट जाय विपद की
चेतना लहर न उठेगी जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा

विस्मृति की अव्युत्थित दशा किंवा स्फुरित अवस्था में जिस स्मृति का जागण होता है उसमे वह 'चेतना लहर' नहीं उठती जिसमें 'जीवन समुद्र' आलोडित होकर 'सुख दुख' 'विच्छेद-मिलन की प्रतीत कराता है। सर्ग-प्रलय किंवा उन्मीलन-निमीलन का वह अकाल पदवाच्य सन्धि-काल होता है : वहाँ न तो विरह की वास्तविकता है न मिलन का यथार्थ : न तो सुख की वेदना है न दुख की वेदना, कारण ये सभी द्वन्द्वात्मक और द्वयता-परक है और अपने अनुकूल परिस्थिति में ही जीवन्त रह सकते है। अद्वय-सामरस्यमयी-प्रत्यभिज्ञा में इन्हें कहा स्थान ? किन्तु अभी, उसकी अर्थात् विस्मृति की समाधि-दशा है, उसका समग्र तिरोभाव नही। और, समाधि से तो व्युत्थान भी सम्भव है। कारण, ज्ञानलेष के रूप लिये, कर्म और संस्कार की सन्धि में जागरित उस वासना (अनादि) का पूर्णत प्रहीण होना उस समाधि मे भी सम्भव नही जिसके क्षोभ के परिणाम द्वन्द और विषमता में बीजभूत है।

नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्रकृतिक भूख-समान,
चिर-परिचित-सा चाह रहा था, छन्द सुखद करके अनुमान।

(आशा)

अनुग्रह की मंगल मूर्ति की अनुभूति से ही उस विस्मृति का पूर्णतः विदग्ध होना सम्भव है,

उस शक्ति-शरीरी का प्रकाश, सब शाप-पाप का कर विनाश
नर्तन मे निरत, प्रकृति गल कर, उस कान्ति-सिंधु मे धुल-मिल कर
अपना स्वरूप धरती सुन्दर, कमनीय बना था भीषणतर
हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास, उल्लसित महा हिम-धवल हास

देखा मनु ने नर्तित नटेश, हृत-चेत पुकार उठे विशेष,
'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल, उन चरणो तक दे निज सबल
सब पाप-पुण्य जिसमे जल-जल, पावन बन जाते है निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान-लेश, समरस अखण्ड आनन्द वेश !'

और तब आँसू की 'चेतना लहर' अपनी महाव्याप्ति मै समुद्र बन जाती है—'वैसे अभेद सागर मे प्राणो का सृष्टिक्रम' लिये जीवन अब लहर मात्र रह जाता है। तथाभूत अतस्तरग जीवन फिर पूर्णबोध की भूमि पर समष्टिगत चेतन समुद्र में समरसता मे रसमयीदशापन्न होता है। एव, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया किंवा व्यक्तीकरण मे जो स्वभाव के भावाकार खडे होते है वे फिर व्यक्ति-पदवाच्य हो जाते है। व्यक्ति शब्द स्वय अपनी कथा कह रहा है। विश्वचेतना की वह पूर्णकामावस्था होती है जहाँ।

चेतन-समुद्र मे जीवन लहरो सा बिखर पडा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित्त आकार खडा है।

आँसू की 'चेतना लहर' कामायनी के "चेतन समुद्र" मे परिणत हो—एक महाबिम्ब प्रस्तुत करती है।

भारतीय काव्य के धरातल पर जिन व्यग्योदित भावाकारो के प्रसग मे 'बिम्ब-विधान' का कथन हो रहा है उसे पश्चिमीय 'इमेजरी' के अर्थ मे प्राय ले लिया जाता है · जो कदाचित् भ्रान्तिमूलक है : वहाँ ऐन्द्रिक और प्राणिक स्तरों के अतिरिक्त बिम्बो की अन्य भावभूमि दुर्लभ है और, मानस धरातल के बाद तो बिम्ब-चमत्कृति वहाँ अनुमेय भी नही। जब कि भारतीय-चिन्तन और आगे बढ विज्ञान एव आनन्द भूमि की अर्गला खोल बिम्ब और उसके अनुकार पाता है, यह उसकी दृष्टि-परक चरम उपलब्धि है : जहाँ पहुँच कर कहा जाता है 'आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थमुच्यते'। एक दृष्टि (माण्डूक्य-कारिका) आत्मानुभूति या साक्षात्कार के पथ मे 'रसास्वाद' को बाधक मानती है : उस दृष्टि के दृष्ट रस मे 'रसोवै सः' की वह विराट् 'सः' सत्ता (तैत्तिरीय) न होगी अपितु विकल्पाधिवासित रसास्वाद की कोटियाँ होंगी जिनमें अद्वयानुभूति न पा कर आचार्य गौड़पाद से प्रज्ञया-नि स्संग होने की ऐसी व्यवस्था का मिलना कुछ अस्वाभाविक नही।

भाव की प्रखरता अथवा आत्मा के ही तीव्र आकर्षण में, मन का विलय भी सम्भावित है, फिर वैसी दशा मे बिम्ब का प्रश्न नही आत्मा के ऐसे प्रमाता रूप का उदय निजानुभूति की गाढ संकल्पमयता मे ही सम्भव है जहाँ कहा जा सकता है 'हम केवल एक हमी है' और जिसकी अनुभूति स्वयमेव एक महाबिम्ब है—काव्य है · काव्य के इस रूप और ऐसी प्रयोजनीयता का विनियोग 'आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते' द्वारा इगित है ।

किन्तु, इन सभी स्तरो के बिम्ब-सन्दर्भ मे विधान अथवा निर्माण के स्वामित्व की कल्पना और जल्पना अहङ्कृति के ही साक्ष्य देगे । प्रसाद-भारती की दृष्टि मे यह सामान्य-सम्पदा है कोई 'निजी जायजाद' नही । वह भी चिन्मयी ज्ञान-धारा की सीकरी-सत्ता है जो माया के इन्द्रधनुषी चीर मे लिपटी एक भगिमा सी झलक जाती है उप क्षणोपलब्ध भगिमा को अभिव्यक्ति के कुछ उपस्करणो से सजा देने मात्र से उस मूल वस्तु पर जो स्वत. एक अनुकृति है, अपना 'कब्जा मुखालिफाना' मानते हुये क्या अपने को ही छलित नही किया जा रहा है ।

भावाकृष्टि और उमके हठपूर्वक संघट्ट मे बने शब्द-रेखा के चित्र और सहजोदित प्राप्त बिम्ब के शब्दानुकार मे नीरक्षीर-विवेक सक्षम कोई यत्र अभी प्रस्तुत नही हो पाया । बिम्बानुकार की प्राजलता पर काव्य-लक्षणा का उत्कर्ष निर्भर करता है । किन्तु वस्तुत यह बिम्ब तो नही अपितु प्रतिबिम्ब कहा जा सकेगा जो काव्य-सरस्वती बैखर-स्तर पर अथवा मातृका-मुकुर मे देती है । सुतराम्, एतदर्थ भी अभिधान ही उपयुक्त शब्द हो सकता है, विधान अथवा निर्माण नही । समस्त ज्ञान निर्विशेषत मध्यमा वाक् मे स्फुरित रहकर यथा काल मातृका मे अधिष्ठान ग्रहण करते है । एव बोधात्मक ज्ञान की अनुभव-सत्ता वागात्मक रूप को अगीकार कर लेती है, फिर बैखर व्यवहार मे उसका वागर्थ-विवेक होता है । बिम्ब ऐसे बोधात्मक ज्ञान के वागोन्मुखता की प्रक्रिया का मध्यवर्ती प्रसग है । जिनका प्रति रूपण कर्म और सस्कार के मध्य स्फुरित वासना, निबन्धित मात्र करती है । और इस स्तर पर अभिव्यक्ति मे जो प्रसाधन प्रस्तुत किये जाते है वे ही अपने और निजी अथवा मौलिक कहे जा सकते है, मूलवस्तु नही—जिसे बिम्ब कहा जाता है ।

एक धुँधली छाया का तद्वत् अस्पष्ट अवतार और मुकुर पर पड़ने वाले रश्मि-व्यूह का प्रतिबिम्व बड़ा अन्तर रखता है । जहाँ रश्मि-व्यूह

का प्रतिबिम्ब अन्य भित्ति को अधिकृत करने की क्षमता रखता है वहाँ छाया अपनी अस्पष्टता मे विलीन हो जाने को बाध्य है।

'काव्य और कला' निबन्ध में काव्य को 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' और व्यक्ति निरपेक्ष बताते कहा गया है—'इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे सकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनो ही से पूर्ण होती है, इसमे क्या प्रमाण है? किन्तु इसलिये साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियां मे अन्तर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणो के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियो के दर्पण मे प्रतिफलित होकर आलोक को सुन्दर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।'

ज्ञानालोक की आनन्दमयी रश्मियाँ सौन्दर्य बोध की निजानन्दमयी परिणति होकर निरपेक्षत विकल्पमयी संस्कृतियो को अपनी अचल सकल्पमयता और भाव-सम्पदा से ओतप्रोत कर देती है जिसकी अवधारणा कवि कर्म की एक असाधारण और अप्रमेय अवस्था है. प्रसाद वाग्मय की मूलचेतना इस अवस्था मे भावत. और अनुभावतः अवस्थित है। जो सकल्पात्मक मूल अनुभूति तत्त्वत, भावत और पदार्थत 'श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण' कर प्रसाद वाङ्मय की काव्यभूमि का उन्मीलन किये है वही 'अनुभूति अपने निर्बन्ध ज्ञान, अनवच्छिन्न-बोध एवं स्वतन्त्र-प्रकाश के समन्वित प्रतीक "ध्रुवतारा" द्वारा "शेषगीत" में शब्दित हो अपने आयतन में प्रसाद वाङ्मय के भावजगत की समूची अभिव्यक्ति अकस्थ किये है। यह प्राक्कथन बाध्यतः एक असामान्य त्वरा मे प्रस्तुत हुआ, जिसमे विषय का संक्षिप्त विवेचन ही हो पाया : जो यथा कथंचित् अपनी कमी और त्रुटियों के सहित विनम्रभावेन सुधीजनों के सम्मुख उपस्थित है।

बुद्धपूर्णिमा, २०३३ वै०

रत्नशंकर प्रसाद

आदि छन्द

हारे सुरेश, रमेस. घनेस गनेसहू शेष न पावत पारे
पारे है कोटिक पातकी पुज "कलाधर" ताहि छिनो लिखि तारे
तारेन की गिनती सम नाहिं सुजेते तरे प्रभु पापी बिचारे
चारे चले न बिरचिहू के जो दयालु ह्वै शकर नेकु निहारे ॥

प्रथम कविता, लेखन काल ईसवीय सन् १९०१, वयस १२ वर्ष

तीन आरम्भिक कवितायें

प्रारम्भत· "कलाधर" उपनाम से पूज्य पिताजी (श्री जयशंकर प्रसादजी) कवितायें लिखा करते थे ऐसी प्राय· छोटी बडी चार सौ कृतिया थी जिन्हे कुछ घरेलू कारणवश सन् १९०६ मे उन्होने कारखाने की जलती भट्ठी को अर्पित कर दिया। किन्तु उन्ही के पैतृक अधिष्ठान 'सुँघनी साहु' की गद्दी के पुराने कागदो मे कारखाने का उस समय का मुद्रित विज्ञापन पत्र उपलब्ध हुआ जिसे 'प्रसाद की काव्यमयी हस्तलिपि' इतने दिनो से सँजोये रखने का सौभाग्य प्राप्त है। इस पावन ऋक्थ की प्रतिच्छवि और लिपिपाठ अगले पृष्ठोपर दिया जा रहा है। जहाँ "कलाधर" छाप वाली व्रज भाषा की कविताएँ प्राप्त है।

●

आसन तेरे अमोल कपोल मनोरथ जो तेहि पै बिठलायो
नैन के आसव चारु गुलाबी छकाय के ही मतवालो बनायो
कुंतलदाम में फांसि के ताहि भले विधि ही पुनि नाच नचायो
बाहर जान न पावत रूप रहे अग मै औ परै उफनायो

● ●

कीन्ही कठोरता जो हमते तऊ हाय की हूक हिये रहि जायगी
दीठि बचाय के फेरत जो रुख तौ हू कबौं न कबौ मिलि जायगी
नीके बिचरि ले ये मनमाहि 'कलाधर' हू की कला घटि जायगी
प्रेमी के राह को छोड़िबे की सिल तेरी निसानी हिये धरि जायगी

● ● ●

तोरि के नेह को काचो तगा तुम कीन्ही दगा यह नीक ना कीन्ही
जो यह तेरे रही मनमांहितो क्यों पहिले ही नही कहि दीन्ही
नैन की हाला छकाय बेहाल कै फेरि ले कुन्तल मे कसि दीन्ही
बेबस कै के 'कलाधर' को दिल दागि के काहे प्रिये तजि दीन्हीं

अयोध्या का उद्धार

महाराज रामचन्द्र के बाद कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती इत्यादि राज्य मिले तथा अयोध्या उजड गई। वाल्मीकि रामायण में किसी ऋषभ नामक राजा द्वारा उसके फिर से बसाए जाने का पता मिलता है, परन्तु महाकवि कालिदास ने अयोध्या का उद्धार कुश द्वारा होना लिखा है। उत्तर काण्ड के विषय में लोगों का अनुमान है कि वह बहुत पीछे बना। हो सकता है कि कालिदास के समय में ऋषभ द्वारा अयोध्या का उद्धार होना न प्रसिद्ध रहा हो। अस्तु, इसमें कालिदास का ही अनुसरण किया गया है।

—लेखक

अयोध्या का उद्धार

"नव तमाल कल कुञ्ज सों घने
सरित-तीर अति रम्य है बने।
अरध रैनि महँ भीजि भावती
लसत चारु नगरी 'कुशावती'' ॥

युग याम व्यतीत यामिनी
बहुतारा किरणालि मालिनी।
निज शान्ति सुराज्य थापिके
शशिकी आज बनी जु भामिनी ॥

विमल विधुकला की कान्ति फैली भली है
सुललित बहुतारा हीर-हारावली है।
सरवर-जलहूँ में चन्द्रमा मन्द डोलै
वर परिमल पूरो पौन कीन्हे कलोलै ॥

मन मुदित मराली जे मनोहारिनी है
मदकल निज पीके सग जे चारिनी है।
तहँ कमल-विलासी हँस की पांति डोलै
द्विजकुल तरुशाखा में कबौं मन्द बोलै ॥

करि-करि मृदु केली वृक्ष की डालियों से
सुनि रहस कथा के गुंज को आलियों से ।
लहि मुदित मरन्दै मन्द ही मन्द डोलै
यह विहरण-प्रेमी पौन कीन्हे कलोलै ॥

विशद भवन माही रत्न दीपाकुराली
निज मधुर प्रकाशै चन्द्रमा मै मिलाली ।
बिधुकर-धवलाभा मन्दिरों की अनोखी
सरवर महँ छाया फैलि छाई सुचोखी ॥

विविध चित्र बहु भाति के लगे
मणि जड़ाव चहुँ ओर जो जगे ।
महल माहि बिखरावती विभा
मधुर गन्धमय दीप की शिखा ॥

कुशराज-कुमार नीद मे
सुख सोये शुचि सेज पै तहा ।
बिखरे चहुँ ओर पुष्प के
सुखमा सौरभ पूर है जहां ॥

मुखचन्द अमन्द सोहई
अति गम्भीर सुभाव पूर है ।
अधरानहि-बीच खेलई
मृदु हाँसी सुखमा सुमूर है ॥

तहँ निद्रित नैन राजहीं
नव लीला मय शील ओज है ।
मनु इन्दुहि मध्य साजही
युग संकोचित-से सरोज हैं ॥

तहँ चारु ललाट सिन्धु में
नहि चिन्ता लहरी बिराजही ।
अति मन्दहि मन्द कान में
मनुवीणा ध्वनिसों सुबाजही ॥

बढ़ि पञ्चम राग मै जबै
सुविपञ्ची ध्वनि कान में पड़ी ।
जगि के तहँ एक भामिनी
अध मूंदे दृग ते लख्यो खड़ी ॥

पुतरी पुखराज की मनो
सुचि साचे महँ ढारि के बनी।
उतरी कोउ देव-कामिनी
छवि मालिन्य विषादसों सनी॥

कर बीन लिए बजावती
रजनी में नहिं कोउ सग है।
वनिता वर-रूप-आगरी
सहजै ही सुकुमार अंग है॥

कल-कण्ठ-ध्वनी सु कोमला
मिलि वीणा-स्वर सों सुहात है।
कुश नीरव ह्वै लखै सुनै
जनु जादू सबही लखात है॥

"तुम वा कुल के कुमार हो
हरिचन्द्रादि जहां उदार से।
निज दुःख सह्यो तज्यो नही
सत राख्यो उर रत्न-हारसे॥

"अनरण्य दिलीप आदि ने
जेहिको यत्न अनेक सो रच्यो।
रघुवश-जहाज सो लखो
यहि साम्राज्य महाब्धि मे बच्यो॥

"अनराजकता तरंग मे
फँसि के धारनि बे अधार है।
तेहि को सबही यही कहै
"कुश" याको वर-कर्णाधार है॥

"तव वंश सुकीर्ति को सबै
अनुहास्यो उदधी वहै अजै।
निज कूलन सों बढै नही
अरु मर्य्यादहुँ को नही तजै॥

"जेहि कीर्ति-कलाप-ग ध सों
मदमाती मलयानिलौ फिरै।
हिम शैल अधित्यकान लौ
सबको चित आनन्द सों भरै॥

"जेहि वश-चरित्र को लिखे
कवि वाल्मीकि अजौ सुख्यात है।
तुमही ! निज तात सामुहे
शुचि गायो वह क्यों भुलात है॥

"जेहि राम राज्य को सदा
रहिहै या जग माहिं नाम है।
तेहि के तुमहूँ सपूत हौ
चित्त चेतो बिगरयो न काम है॥

"तुम छाइ रहे कुशवती
अरु सोये रघुबश की ध्वजा।
उठि जागहु सुप्रभात है
जेहि जागे सुख सोवती प्रजा॥"

नीरव नील निशीथिनी
नोखी नारि निहारि।
विपति-विदारी वीरवर,
बोले बचन बिचारि॥

"देवि ! नाम निज धाम,
काम कौन ? मोते कहौ।
अरु तुम येहि आराम—
मांहि आगमन किमि कियो ?

"तुम रूप-निधान कामिनी
यह जैसी विमला सुयामिनी।
रघुवंशहि जानिहो सही
परनारी पर दीठ दैं नही॥

"तुम क्यों बनी अति दीन ?
क्यों मुख लखात मलीन ?
निज दुःख मोहिं बताउ
कछु करहुँ तासु उपाउ॥

"जब लौं करवाल धारिहैं
रघुवंशी दृढ़ चित्त मान के।
कुटिला भृकुटि न देखिहै
सुरभि, ब्राह्मण औ तियान के॥

शोचहु न चित्त महँ शक नाही
मोचहु बिषाद निज हीय चाहि।
ईश्वर सहाय लहि ह्वै सहाय
मेटहुँ तुम्हार दुख, करि उपाय ।।"

सुनि अति सुख मानी सुन्दरी मंजु बानी
गदगद सु गिराते यों कह्यो दीन-बानी।
"तुम सुमति सुधारी ईश पीरा निवारी
अब सुनहु बिचारी है, कथा जो हमारी ।।

"सुख-समृद्धि सब भांति सो मुदा
रहत पूर नर नारि ये मुदा।
अवध-राज नगरी सुसोहती
लखत जाहि अलकाहु मोहती ।।

"इक्ष्वाकु आदिक की विमल—
कीरति दिगन्त प्रकासिता।
सो भई नगरी नाग-कुल—
आधीन और विलासिता ।।
नहि सक्यौ सहि जब दुःख
तब आई अहौ लै कै पता।
सो मोंहि जानहु हे नरेन्द्र !
अवध नगर की देवता ।।

"जहँ लख्यो विपुल मतंग—
तुंग सदा झरै मदनीर को।
तहँ किमि लखै बहु बकत
व्यर्थ शृगालिनी के भीर को ।।
जहँ हयन हेषा बिकट—
ध्वनि, शत्रु-हृदय कँपावती।
तहँ गिद्धनी-गन ह्वै सुछन्द
विहारि कै सुख पावती ।।

जहँ करत कोकिल कलित—
कोमल-नाद अतिहि सुहावने।
सो सुनि सकत नहिका , काकन
के कुबोल भयावने ।।

जहँ कामिनी कल-किंकिनी
धुनि सुनत श्रुति सुख पावहीं।
तहँ बिकट झिल्लीरव सुनत
सुकहत नही कछु आवही ॥

"कुमुद" नाम इक नाग वश है
समुझि ताहि यह बीर अश है।
बिगत राम जनहीन दीन है
निज अधीन करि ताहि लीन है ॥

उजरी नगरी तऊ तहा
मणि-माणिक्य अनेक है परे।
तेहि को अधिकार मे किये
सुख भोगै सब भाति सो भरे ॥

रघु, दिलीप, अज आदि नृप,
दशरथ राम उदार।
पाल्यो जाको सदय ह्वै,
तासु करहु उद्धार ॥

निज पूर्वज-गन की विमल—
कीरति हू बचि जाय।
कुमुद्वती सम सुन्दरी,
औरहु लाभ लखाय ॥"

सुनि, बोले वरवीर
"डरहु न नेकहु चित्त में
धरे रहौ उर धीर,
काल्हि उबारौ अवध को ॥"

भोर होत ही राजसभा में
बैठे रघुकुल-राई।
प्रजा, अमात्य आदि सबही ने
दियो अनेक बधाई ॥
श्रोत्रिय गनहि बुलाइ, सकल—
निज राज दान कै दीन्ह्यो।
और कटक सजि, अवध नगर
के हेतु पयानो कीन्ह्यो ॥

जब अवध की सीमा लख्यो
तब खड़े ह्वै सह सैन के।
अरु कुमुद पहँ पठयो तबै
निज दूत, शुचि सुख दैन के॥
"बिनु बूझि तुम अधिकृत कियौ
यह अवधि नगरि सुहावनी।
तेहि छोडि कै चलि जाहु,
नतु संगर करौ लै कै अनी॥"

वह तुरत आयो सैन लै,
रन-हेतु कुश के सामुहे।
इतहूँ सुभट सब अस्त्र लै
तहँ रोष सों सबही जुहे॥
तहँ चले तीर, नराच, भल्ल,
सुमल्ल सबही भिरि गये।
तरवारि की बहु मारि बाढी
दुहूँ दल के अरि गये॥

बढ्यो क्रोध करि कुश कुमार
धनु को टकारत।
प्रबल तेज शरजाल छाडि
चहुँ दिशि हुँकारत॥
अम्बर-अवनिहि एक कीन्ह,
शर सों सब छायो।
अरगिन भरि-भरि नीर नैन
भागे मग पायो॥

कुश-प्रभाव लखि हीन होय के,
कुमुद आप हिय माँहि जोय के।
निज निवास महँ जायके छिप्यो
तबहि दूत कुश को तहाँ दिप्यो॥

परमा रमणी कुमुद्वती
धन-रत्नादि समेत सग लै,
कुश को मिलि तोष दीजिये
नहिं तो सैन सजाव जग लै॥

यहि मै लखि निस्तार
कुमुद चल्यो कुश सों मिलन।
विविध रत्न उपहार
लै वहु धन निज संग में ॥

आयो तहँ कर जोरि,
कुमुद कुमुद्वति सग लै।
बोल्यो वचन निहोरि,
व्याहहु याको राज ले ॥

सुन्दरि के दृग-बान
लखे रोष सबही गयो।
छाड़्यो शर सधान
अवध माँहि तबही गयो ॥

कुल लक्ष्मी परताप
लख्यो सबै सुखमय नगर।
मिट्यो सकल सन्ताप
बैठे सिंहासन तबै ॥

कुश-कुमुद्वती को परिणय
सबको मन भायो।
अवध नगर सुखसाज
महा सुखमा सो छायो ॥

●

वन-मिलन

अरुण विभा विलसित-हिम-शृंग मुकुटवर छाजत।
मालिनि मन्द प्रवाह सुखद-सुदुकूल विराजत॥
तरुगन राजि कतहुँ मरकत—हारावलि लाजै।
साचहु भूधरनृपति समान हिमालय राजै॥
तेहि कटि तट महँ कण्व—महर्षि तपोवन सोहै।
सरल कटाक्षन ते हरिनी जहँ मुनि-मन मोहैं॥
सरस रसाल, कदम्ब, तमालन की सुचि पांती।
धव, अशोक, अरु देव दारु, तरुगन बहुभांती॥
नव-मल्लिका, कुंद, मालती, बकुल अरु जाती।
चम्पक अरु मन्दार केतकी की बहु पांती॥
सुमन लिये साखा सह हिलत वायु के प्रेरित।
सौरभ सुभग बगारत जासों बन है सुरभित॥
वल्कल-वसन-विभूषित अंग सुमन की माला।
कर्णिकार को कर्नफूल विसवलय विसाला॥
कुंदकली-सों कलित केश-अवली भल राजत।
चम्पक-कलिका-हार सुरुचि गल-बीच विराजत॥

सुन्दर सहज सुभाव बदन पर मुनि-मन मोहै।
सूधी बिमल चितौन मृगन से नैन लजोहै ॥
जेहि पवित्र मुख भाव लखे सबही सुर नारी।
निज बिलोल नव-हास विलासहि करती वारी ॥

बैठी मालिनि तीर सुभगवेतसी-कुज में।
विलसत परिमल पूर समीरन केश-पुंज मे ॥
युगल मनोहर बनवाला अति सुन्दर सोहै।
"प्रियम्बदा-अनुसूया !" जाके नाम मिठोहैं ॥

"री अनुसूया ! देखु सामुहे चम्पक-लतिका।
भरी सुरुचि सुकुमार अंग-अगन मों कलिका ॥
मन-ही-मन कुम्हिलात खिलत बेहाल विचारी।
'प्रियम्बदा' दृग भरि बोली उसास लै भारी ॥

"कोमल-किसलय माहि कली धारति अलबेली।
कुदन-सो रग जासु गढन मन हरन नवेली ॥
अपर कुसुम-कलिका सो करत फिरै रगरेली।
याहि न पूछत कोउ मधुकर सब ही अवहेली ॥

"यामे मधुर मरन्द, पराग, सुगन्ध सबै है।
सुन्दर रूप, सुरग, जाहि-लखि ओर लजै है ॥
पै रूखे परिमल पै सबही नाक चढ़ावत।
जैसे सूधो भाव न सब को हिय ललचावत ॥

"मातो मधुकर ह्वै मधु-अंध, विवेक न राखै।
मुरि मुसुक्यान मनोहर कलियन को अभिलाखै ॥
सूधी चम्पक-लता नही जानत रस केली।
यहि विचार कोउ मधुकर नहिं अंकहि निज मेली ॥

"इनको कुटिल स्वभाव कोऊ इनको का दोखै।
स्वारथ रत परपीर नही जानत किमि तोखै ॥
पाइ समीपहिं जाही सो वाही सों पागै।
ये तो परम विलासी, नहिं जानत अनुरागै ॥"

बोली 'अनुसूया' यों—अनखि-"तोहिं का सूझी।
जो बिनही बातन पर, बातन माहिं अरूझी ॥
तुम बनबासी कोउ दूजो—नहिं सुनिबे वारो।
बन में नाच्यो मोर कहो किन आइ निहारो ?"

"बहु लतिका तरु वीरुध, जे मम बाल सनेही ।
तिनको सिञ्चन करहु, अहै तुव कारज एही ॥
यह अशोक को पादप जामे किसलय कोमल ।
औरहु परम रसाल लखहु करुना कदम्ब भल ॥"

" अहै माधवी लता मृदुल-कलिका-नव धारति ।
'शकुन्तला' के विरह-अश्रु की बूँद पसारति ॥
निज मृनाल-सी बाहनि सों भरि गागरि आनी ।
जाको साझ-सबेरे सीचति दै-दै पानी ॥"

"ये सब सीचन हेतु अबहिं-बातै तुम करती ।
कुसुम चूनिबो और अहै, क्यो बरसत अरती ॥"
शकुन्तला को नाम सुने दूजी यों बोली—
क्यो हक नाहक दबी आग यों कहि पुनि खोली ॥

पाइ राज-सुख सखियन को निज हाय ! बिसारी ।
बहुत दिवस बीते, निज-खबर न दीन्ही प्यारी ॥
अहो गौतमी हू कछु कहत न रजधानी की ।
मम बन-बासिनि सखी जु शकुन्तला-रानी की ॥"

"नगर नागरी महरानिन के सैन अनोखे ।
वह सूधी बन-बाला पिय को कैसे तोखे ॥
जाने दे, बिन काज कहा बैठी बतरावत ।
पाइ पिया को प्रेम सखिहिं किन पूछन आवत !

अबहिं शुकहिं आहार देइबो है हम वारी ।
बहुत अबेर भई सु कुटीरहिं चलिये प्यारी ॥"
तब कश्यप को शिष्य तहां गालव चलि आयो ।
"कण्व कहां है ?" पूछ्यो तिनसो अति हरषायो ॥

"अग्निहोत्र-शाला मे"—कहि दोनों बन बाला ।
कुसुम-पात्र लीन्हों उठाइ मालति की माला ॥
लजत मराली गमन लखे, वे दोनों आली ।
वल्कल-वसन समेटि चली लै कुसुल उताली ॥

कोकिल सों निज स्वर मिलाइ बहु बोलत बोली ।
निज आश्रम पै पहुँचीं वे सब करत ठिठोली ॥
कुसुम-पात्र धरि गुरु-समीप निज सिरहि झुकाई ।
वन्दन करि बैठी वे, मनकी मनहिं दुराई ॥

बोल्यो गालव करि प्रणाम ऋषिवर को कर सो—
"लै सँदेस हम आये है अपने गुरुवर सों ।।
महाराज दुष्यन्त सहित निजसुत प्रियवर के ।
शकुन्तला-सँग मिले, शाप छूट्यो मुनिवर के ।।

"बहु व्रत धारि अनेक कष्ट सहि पुनि सुख पायो ।
सुखद पुत्र मुख चन्द्र देखि अति हिय हरषायो ।।
दलित कुसुम अपमानित-हिय, बाला बेचारी ।
शकुन्तला निज पति-सुख पायो पुनि सुकुमारी ।।

गद्गद कण्ठ, सिथिल-बानी अति ही सुखसानी ।
बोले कण्व-महर्षि अनूपम, अविकल ज्ञानी ।।
"सबही दिन नहिं रहत दुख संसार मँझारी ।
कहुं दिन की है जोति कहूँ है चन्द्र उजारी ।।"

प्रियम्बदा अनुसूया हूँ अति ही हिय हरषा ।
आनन्दित ह्वै सुखद अश्रु निज आँखिन बरषी ।।
पायो जब संवाद मनोहर निज अभिलाषित ।
भयो प्रफुल्लित तबहिं वहै, तप-वन चिर-तापित ।।

"हेमकूट ते उतरि मरीची के आश्रम सों ।
आवत है दुपयन्त-सहित निज श्री अनुपम सों ।।"
मातलि आय कह्यो ज्यों ही, सब ही हिय हुलसे ।
तहं अनन्दमय ध्वनी उठी तबही ऋषिकुल से ।।

शकुन्तला दुष्यन्त, बीच में भरत सुहावत ।
धर्म, शांति, आनन्द, मनहुं साथहिं चलि आवत ।।
देखत ही अकुलाय उठीं, तुरतहि बन बाला ।
प्रियम्बदा, अनुसूया, विकसीं ज्यों मृदु माला ।।

भाट सखी-गन सों, तबही वह रोवन लागी ।
हर्ष-विषाद असीम, अनन्दित ह्वै पुनि पागी ।।
शकुन्तला निज बाल-सखी गल सों कहुँ लागै ।
बढ्यो अधिक आवेग माहिं, नहिं गल भुज त्यागै ।।

करुण, प्रेम प्रवाह, बढ्यो, वा शुद्ध तपोवन ।
बरसन लग्यो मनोहर मंजुल मुँद आनँद-धन ।।
श्रद्धा, भक्ति, सरलता, सब ही जुरी एक छन ।
चित्र-लिखे-से चुप ह्वै देखत खडे एक मन ।।

कछुक बेर पर कण्व-चरण पर निज सिर नाई।
करि प्रणाम कर जोरि, खड़े भै बिधुकुल-राई ।।
कुशल पूछ पुनि कण्व, दियो आशीष अनूपम।
भरतहु पुनि कीन्ह्यो प्रणाम, लहि मोद महातम ।।

शकुन्तला सों पालित तब, वह मृग तहं आयो।
सिर हिलाई अरु चरण-चूमि आनन्द जनायो ।।
माधवि लता मनोहर को निज करते परस्यो।
वह तप-वन तब अधिक-मनोरम ह्वै सुचि दरस्यो ।।

यज्ञ-भूमि को करि प्रणाम, आनन्द समैठे।
पूर्व मिलन के कुञ्ज मांहि, कछु छन सब बैठे ।।
शकुन्तला दुष्यन्त, भरत, मालिनि के तीरन।
बन-बासिनि वाला-युग के सँग लागी बिहरन ।।

प्रियम्बदा मुख चूमि भरत को लेत अक में।
शकुन्तला अनुसूया सँग बिहरत निशंक मे ।।
निजि बीते दिवसन की सुमधुर कथा सुनावत।
चुप ह्वै के दुष्यन्त सुनत, अति ही सुख पावत ।।

सरल-स्वभावा बन-बासिनि, वे सब बरबाला।
कथानुकूल सुधारत भाव—अनेक रसाला ।।
पति सो बिछुरन-मिलन समय की कहि बहु बाते।
चिर दुखिया आनन्दित ह्वै सब मोद मनाते ।।

प्रियम्बदा तब दुष्यन्तहि दीन्हों उराहनो।
"अहो परम धार्म्मिक, तेरी है बहु सराहनो ।।
शकुन्तला को शाप हेतु विस्मृत तुम कीन्हों।
याहो वन हम रही, खोज हमरो हू लीन्हो ?

"अहो होत है अधिक निठुर—नर सब, नारी सों।
जौ लौ मुख सामुहे अहै तौ लौ प्यारी सो ।।
नहि तो कौन कहा को, कैसो, कासो नाते।
बहु दिन पै जो मिलै,—तबौ पूछी नहिं बाते ।।"

अनुसूया हँसि बोली—"ये तो अति सूधे है।
इनको यहै स्वभाव कहा यामे तू पैहैं ।।
शकुन्तला मुसक्याइ कह्यो—"जाने दे सखियो।
इनके सब बातन को अपने हिय में रखियो ।।

अब यह मेरी एक विनय धरि ध्यान सुनै तू।
इनके विमल चरित्रन को नहिं नेक गुनै तू॥
जामें फिर नहिं बिछुरै, सब यह ही मति ठानो।
सदन हमारे संग चलो अति ही सुख मानो॥"

यज्ञ-प्रज्ज्वलित बन्हि, लखे सब ही प्रणाम किय।
कण्व-महर्षि अनन्दित को अभिवन्दन हू किय॥
शकुन्तला कर जोरि पिता सों हिय सकुचाती।
कह्यो—"विनय करिबो-कछु है पै नहिं कहि आती॥"

बोले कण्व—"कहो, जो कुछ तुमको कहनो है।"
शकुन्तला ने कह्यो—"सखी-सग मोहिं रहनो है॥
इन सखियन के बिना अहो हम अति दुख पायो।"
कण्व "अस्तु" कहि, सबको अति आनन्द बढायो॥

कञ्चन कंकन किंकिनि को कलनाद सुनावत।
नन्दन-कानन-कुसुमदाम सौरभ सो छावत॥
निज अमन्द सुचिचन्द—बदन सोभा दिखरावत।
जगमगात जाहिरहि जवाहिर को चमकावत॥

निज अनूप अति ओपदार आभा दिखरावत।
चञ्चल चीनाशुक अञ्चल को चलत उड़ावत॥
केश कदम्बन कलित कुसुम-कलिका बिखरावत।
मञ्जु मेनका को देख्यो सब उतरत आवत॥

यथा उचित अभिवन्दन सब ही कियो परस्पर।
शकुन्तला माता सो लपटी अतिहि प्रेम भर॥
भरत-चन्द्रमुख चूमि भइ वह हिय सों हरषित।
प्रियम्बदा-अनुसूया सिर कीन्हो कर परसित॥

कण्व दियो आसीस जाहु सब सुख सो रहियो।
जीवन के सब लाभ प्रेम परिपूरित लहियो॥
चिर बिछुरे सब मिले हिये आनन्द बढ़ावन।
मालिनि-तरल-तरंग लगी मंगल को गावन॥

●

प्रेम-राज्य

(पूर्वार्द्ध)

बाल विभाकर सोहत, अरुण किरण अवली सों।
कृष्णा क्रीडत निजनव, तरलित जल लहरीसो॥
मलयजधीर पवन बन—उपवन महँ सञ्चरही।
कोकिल कुल कलनाद करत अति मधुर विहरही॥

टालीकोट सुयुद्धभूमि मे प्रबलदुहूं दल।
सूर्य्यकेतु महराज, विजयनगरेश महाबल॥
प्रतिपक्षी बहु यवन राज, मिलि सैन सजायो।
बीरकर्म अरु कादरता, को दृश्य दिखायो॥

सिहद्वार पर खडे नरेश लखै सेना को।
बांधवराजे यूथप सँगघेरै बहुनाको॥
सेनापति सह सैन्य, युद्धभूमिहि चल दीन्हो।
पाच वर्ष को बालक इक आगमन सुकीन्हो॥

चन्द्रोज्ज्वल मुख मधुर, विमल हाँसी को धारत।
सहज सलोने अंग, मनोहर ताहि सँवारत॥
तब नरेश निज सुतके मुख सुख मे अति पागे।
हिये लाइ आनन्द सहित, मुख चूमन लागे॥

कह्यो "प्रिया को विरह, तुमहिलखि सबहि बिसारी
किन्तु वत्स यह वीरकर्म्म, कुलप्रथा हमारी ॥
सो अब तुमहि त्राण की आशा हिय महँ धारौ।
काहि समर्पहुँ तुमहिं, चित्त नहिं कुछ निरधारौ ॥"

आयो तहँ इक भील—यूथपति दुहुँ करजोरे।
चरनन पै सिरनाइ, कह्यो अति वचन निहोरे—
"महाराज! यह राजकुंवर हमको दै देहू।
राखैगे प्रानन प्यारे को सहित सनेहू ॥

अनुज एक सह भील, सैन्य आज्ञा पालन को।
आपहि की सेवा में है सेना चालन को ॥
हिम गिरि कटि महँ, इनको लै हमहूँ चलि जैहै।
शत्रु न कोऊ इनको, खोजनते कहुँ पैहै ॥

जब हम सुनिहैं विजय आपकी तौ पुनि ऐहै।
कीन्है नेक बिलम्ब न यामे कछु फल ह्वै है ॥
"अस्तु" कह्यो पुनि शिरहि सूंघि आलिंगन कीन्हों ॥
बालक को मुख चूमि, तुरत भीलहि दै दीन्हों ॥

"दादा" कहि अकुलाइ उठ्यो तबही वह बालक।
नैनन मों भरि नीर कह्यो नरगन के पालक ॥
"दादा" येही हैं तुम्हरे, इनही को कहियो ॥
मेरे जीवन प्रान, सदाहो सुखसे रहियो ॥"

यो कहि के मुख फेरि, अश्व पै निज चढ़ि लीन्हों।
खीचि म्यानते खड्ग, युद्ध सन्मुख चलि दीन्हों ॥
आवतही नरनाह, देखि सब छत्री सेना।
अति उमगित भइ अंग आनन्द अटैना ॥

वीर वृद्ध महराज, बदन पर हाँसी रेखा।
सब को हिय उत्साहित कीन्हों सब ही देखा ॥
जयतु जयतु महराज, कह्यो तव सबही फौजैं।
जलधि बीर रस में, ज्यों उमड़ि उठी बहु मौजैं ॥

फरकि उठे भुजदण्ड, वीर रससों उमगाहे।
चमकि उठीं तरवार, वर्म्मं अरु चर्म सनाहें ॥
सैना करि द्वै भाग, एक सैनप को सौंप्यो।
अरु एकहि लै आप, अकेले रनको रोप्यो ॥

तब हर हर कहि कीन्ह्यो धावा शत्रुन ऊपर।
गरुड़ करत जिमि धावा, पन्नग प्रबल चमू पर॥
भिडे वीर दुहुँ ओर चली, कारी तरवारैं।
एक वीर सिर हेतु, अप्सरा तन मन वारैं॥

दाबि लियो क्षत्रीन, यवन के सब सेना को।
भागन को नहिं राह, घेरि लीन्हो सब नाको॥
विकल कियो तरवार मारसों व्यथित भये सब।
भागे यवन अनेक, लखै जहँही अवसर जब॥

ह्वै रणमत्त परे तबही सब पीछे छत्री॥
तुरतहिं मारै ताहि, जबहि देखै कोउ अत्री॥
करि कादरता कछुक, यवन जे रन सो भागे।
तेऊ मिलि तब लीन्ह्यो, घेरि बीर-पथ त्यागे॥

उन क्षत्रिन संग महाराज, तिनमह घिरि गयऊ।
सेनापति तह तिनहि, छुड़ावन को नहिं अयऊ॥
अहो! लोभ बस करत, काज कैसे नर नारी।
करत आत्म-मर्यादा, धर्म्म सबहि को वारी॥

राखत कछुक विचार नही यह पुन्य पाप सो।
निज तृष्णा को सीचत, नर नित आस "भाप" सों॥
नित्य करत जो पालन, तासो करत महाछल।
बहु विधि करत उपाय, बढ़ावन को अपनो बल॥

चाहत जासो जौन, करावत है यह तासो।
याको कोउ जीतत नहिं हारे सब यासों॥
करिके बीर कर्म्म अरु लरिके निज अरगिन सो।
राखि स्वधर्म महान, टर्‌यो नहिं अपने पन सों॥

मारि म्लेच्छतम करि, अनूप बहु बीर काम को।
सूर्य्यकेतु तब गये, सुखद निज अस्तधाम को॥
विश्वम्भर के शान्त अंक महँ आश्रय लीन्हों।
आशुतोष तब आशु-शान्ति अभिनव तेहि दीन्हो॥

"भारतभूमि धन्य तुम, अनुपम खान।
भये जहां बहु रतन, अतुल महान॥

भये नृपति जह इक्ष्वाकु बलवान।
जहां प्रियव्रत जनमे, विदित जहान॥

भये नृपति सिरमौर जहा दुष्यन्त।
जन्म लियो जहँ भरत सुकीर्त्ति अनन्त॥

जम्बूद्वीपहिं बांट्यो, करि नवखण्ड।
निज नामते बसायो, भारतखण्ड॥

जिनके रथ सहसारथि, नभलौ जाहि।
जिनके भुजबल–सागर को नहिं थाहि॥

जिनके शरण लहे, निर्विघ्न सुरेश।
अमरावती विराजहिं, चारु हमेश॥

जिनके प्रत्यञ्चा की, सुनि टनकार।
अरिशिर मुकुटमणिन को सहे न भार॥

भये भीष्म रणभीष्म, हरण अरिदर्प।
जामदग्निते रच्यो समर करि दर्प॥

जिनकी देव प्रतिज्ञा की सुख्याति।
गाइगाइ नहिं वाणी अजहुँ अघाति॥

विजय भये जिन भये पराजय नाहिं।
जिनके भुजबल ते, प्रसन्न ह्वै चाहि॥

दियो पाशुपत व्योमकेश त्रिपुरारि।
कियो दिग्विजय डारयो शत्रुन मारि॥

जिनके क्रोध अनल महँ, स्रुवा नराच।
आहुति अक्षौहिणी, भई सुनु सांच॥

वसुन्धरे तव रक्त—पिपासा धन्य।
मरी जहां चतुरंगिनि सैन अगन्य॥

करि कुकर्म्म यह जब वह, क्षत्री-कुल-कलंक-अति।
सेनापति यवन के, सैनप पहं निशंक मति॥
गयो लेन निज पुरस्कार, तब सब उठि धाये।
मातृ-भूमि-द्रोही कहि, अति उपहास बनाये॥

तब अति क्षुब्ध चित्त, गृहको वह लौटन लाग्यो।
देख्यो गृह के द्वार, एक बाला मन पाग्यो॥

गृह में देख्यो नाहिं कोउ अति कुण्ठित भो हिय।
ललिता को लीन्ह्यो उठाइ, अरु मुख चुम्बन किय ॥

रोइ कहन लागी बाला, तब अति दुख सानी।
"छाड़ि मोंहि जननी हू, गई कहाँ नहिं जानी ॥"

पुनि लखि बाला कर मह, पत्र एक अति आकुल।
लीन्हों ताहि पढ़न को, तब वह सैनप व्याकुल ॥

पढ्यो ताहि "नहि अहौ-अहौ तुम पती हमारे।
तुम्हरे सन्मुख महाराज, किमि स्वर्ग सिधारे ॥
तुम आशा मय बाला को, लीन्हे हिय पोखौ।
तुमहि क्षमा हित स्वर्ग-माँहि महराजहिं तोखौ ॥

वह निराश निज हृदय, लिये तबही कुलघालक।
कीन्हों उत्तर गमन, तबै सेना को पालक ॥
कृष्णा की नव तरल बीचि, अति कृष्णा लागै।
अरु वह मलयजपवन नाहि बहि हिय अनुरागै ॥

•

प्रेम-राज्य

(उत्तरार्द्ध)

सुरसरि-तीर तमाल-कुञ्ज, श्यामल वनराजी ।
हिमगिरि धवल उतुंग, सुछाया जल महँ छाजी ॥
कुसुम सहित तरुवर, की साखा जल भल परसत ।
परिमल पूर प्रभञ्जन-सों जहँ जन मन हरषत ॥
कोकिल, कीर, मराल कलनाद करत जहँ विलसही ।
विकच कमल मकरन्दभरि, मधुकर को मन हुलसही ॥

नवल प्रफुल्ल रसाल, बाल पादप के छाँहीं ।
बैठी बाला ! एक सुभग, श्री अँग अँग माँही ॥
कुसुम कलिनसों बने, मनोहर भूखन सोहैं ।
सहजहिं छवि छलकति, जहं दोऊ नैन हँसोहैं ॥
कलसी जल भरि धरि रही, मृगछौना थिर सामुहे ।
कर पर कीर मराल ढिग, सिखी वृन्दहू जहँ जुहे ॥

चकित नयन ते लखत, पवन क्रीड़त अलकन सों।
विमल वीचि के बीच झुकत झूमत कमलन सों ॥
कोकिल को कलनाद, सुनत धरि ध्यान रसाला।
चतुर चितेरे चित्रित, सों ह्वै रहि वह बाला ॥
लखि मूरति शान्त सुरसरी हू को मन्द प्रवाह है।
कुञ्जन मे छपिके सुमन, देखत सहित उछाह है ॥

उठी बाल धरिगति मराल-सी चली बकुलतर।
लागी अवचय करन, कुसुस सुकुमार निजहि कर ॥
कदली पात बिछाइ जतन-सों धरि ता ऊपर।
लागी गूँथन माला, छोटे बडे मनोहर ॥
कीरहिँ, मृगछौनहिँ, सिखिहि, यथा उचित पहिरावही।
वेऊ नीचे गल किये, पहिरि मनो सुखपावही ॥

यद्यपि मुख मुसुक्यान, छिपावत है कपोल मे।
तद्यपि हाँसी उछलि रही है दृगविलोल में ॥
सुधर दन्त की पाति, मनो मुकता चुनिरांखे।
विमल कान्ति विधुमांहि, सुधाके बिन्दुहि राखे ॥
सहज सुखद वालक वदन, रुचिसो देखत बनतही।
आवत है पग चापिके, तरुओटन मे छिपतही ॥

कलकिशोर वय चारु, नवल यौवन के रँगसो।
बीर रसोज्ज्वल व्यञ्जक मजुल गठन सुअँगसों ॥
दया वीर को प्रगट रूप सुमनोहर मोहत।
मदनहु बदन जुलखै, रहे ठाढो वहि जोहत ॥
मोहत को नहिं माधुरी, छवि लखि हिय हरखात है।
तरुवर हरियालीन मै, बालक बिमल विभात है ॥
बाला के दृग मीँचि, कह्यो "हमको न जु बोलो?"
"चन्द्रकेतु" कहि पुनि बोली, बाला "दृग खोलो ॥"
उठे युगल हँसि दै दै, ताली मनसो हरषत।
मनहुँ सरदघन मोती की बूँदै ज्यो बरसत ॥

तारागन सह चन्द्र, लसै उज्ज्वल अम्बर मे।
हीरन के ज्यो हार, निशा रानी के गर मे ॥
नवल चन्द्रिका की लहरै, तरलित हिय करती।
विधु मण्डल ते विमल, सुधा बूँदैं ज्यों परती ॥

नील समुज्ज्वल गगन, नील तरुवर की श्रेनी।
छाया सों नीलिमा-मयी सुरसरि सुखदेनी ॥
हँसत सुधाकर तामें, रखि प्रतिबिम्ब मनोहर।
लखि स्वरूप गर्विता, आरसी ज्यो निज मुखवर ॥

अमर तरगिनि पुलिन, सिला पर युगल सुधाकर।
चन्द्रकेतू ललिता, सेवत समीर सुखआकर ॥
भील बालकन की अवली, नीरद की पाँती।
घिरि बैठे है एक सग, अति छटा लखाती ॥

भील बाल इक बोल्यो, "सुनिये सखा हमारे।
आजु मनोहर निशा, करो क्रीड़ा मिलि प्यारे ॥
चन्द्रकेतु ललिता को, साजै राजा रानी।
अरु सब सहचर प्रजा, आमात्य, सैन्य, सैनानी ॥"

कुसुम कलिनसों गांछि, मनोहर मुकुट बनाई।
ललित मल्लिका हार, दियो गलमह पहिराइ ॥
कोमल किसलय राखि, सिलहि सिंहासन साज्यो।
चन्द्रकेतु राजा बनि, ललिता-सह तहँ राज्यो ॥

छोटे तीर कमान लिये, छोटे सब बालक।
छोटी सैन्य सजाइ, खड़े तहँ सेना पालक ॥
भील बाल मिलि राज, साज अति सुघर सजायो।
चन्द्रकेतु ललिताहूं, तिनमहं मिलि सुख पायो ॥

कोउ कहत "अब सब हम, बन आखेट करैंगे।
अरु नहिँ जन काहूसो, अब हम कबहुं डरैंगे ॥"
कोउ कहत "अब पथिकन कहँ निर्भय लूटैंगे।
ऐसो राजा पाय, महोत्सव में जूटैंगे ॥"

चन्द्रकेतु सुनि ये बातें बोल्यो अकुलाई।
"तुम सब क्यों पाषाणहृदय, कैसी कठिनाई ॥
अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूपम।
शिवस्वरूप तिनमांहि, विराजत लखि सबही सम ॥

यह विराट संसार तासु, अव्यक्त रूप है।
यामे अंगन की आभा, राजत अनूप है ॥
शान्तिमयी दिग्वस्त्र सहित वह मनहर मूरति।
चिताभस्म तममय, पै शुचि हिमगिरिसों पूरति ॥

चन्द्र सूर्य्य युगनैन, जबहिं वह अपने पेखत।
तबही तममय जगत मांहि नर आखिन देखत॥
लखहु अहै यह व्योमकेश, अवली अति उज्ज्वल।
तिनमहँ नागमणिन सम तारे लसत समुज्ज्वल॥

गरल कण्ठ सबजन को दोष रहत धारे ही।
अग्नि नयन तीसरो, रहत पलकन आड़े ही॥
पराशक्ति वह प्रकृति, अंक महँ अति छबि छावत।
धर्म्म-वृषभ की असवारी, मन मँह शुचिभावत॥

लसत समीप षडानन, बाहनहूँ को देखो।
बीर सिंह चुप साधि, अहो बैठ्यो अवरेखो॥
तहँ गणेश को मृषक हू को करहु कल्पना।
पन्नगहू मन मारि, करत नहि कछुक जल्पना॥

लखहु परस्पर परम, विरोधी कैसे शुचि सो।
पान करत वह प्रेम-सुरसरी-धारा रुचि मो॥
भूतनाथ सब भूतन सँग क्रीडत है अविरल।
पशुपति निज पशुगन, प्रतिपालत प्रेम सहित भल॥

विशम्भर नित भरत और पोषत निज जन को।
तुम सब व्यर्थ विरोध-सहित धारत निज मन को॥
जौ यह अनुचित करहु, विरोध तबै सुनि लीजै।
निज विरोध मय राज्य, और काहू को दीजै॥"

तेहि छिन तहँ इक वृद्ध, भील सन्मुख चलि आयो।
सजल नयन कर बाँधि, कह्यो मनसों हरषायो॥
"अहो अहै यह राज्य सबै विधि तुम्हरे लायक।
अब सो तुमहिं बनोगे, हम सबके वरनायक॥'

शैशव सरल सँकोच सहित बोल्यो तब बालक।
"दादा" तुम तो सबही विधि हौ हमरे पालक॥
धाइ लग्यो अकुलाइ, अंक मो ह्वै आनन्दित।
वृद्ध रुमाली अश्रुन सींचि कियो अति पुलकित॥

शान्त मुखाकृति तापस-वेश तहाँ इक आयो।
जेहि को देखत ललिता-मुख लज्जा सों छायो॥
चरण गह्यो अति आकुलता, सकोच भरी सो।
तापस लियो उठाइ ताहि, सुचि सुमन छरी सो॥

बोल्यो तापस आशिष-सह आनँद हिय भर को।
चन्द्रकेतु के करपै धरि, ललिता के कर को॥
"बनदेवी स्वर्गीया-सुखमा ललिता तू है।
यह अनुरूप कुमार-हेतु सब लायक तू है॥

येहि सों तुम दोनों मिलि, प्रेम सुगाँठिहि बाँधो।
निज सुकुमार हृदय-मँह प्रेमहि को आराधो॥
गंगा यमुना के संगम सों प्रेम की धारा।
सो सीचो या बन्य देश को मधुर अपारा॥

ईश कृपाते नवविद्या, इन महँ परचारो।
इन असभ्य भीलन महँ राज्य थापि बिस्तारो॥
"जय राजा की" जय रानी की बोले बालक।
तब हँसि बोले भील वृद्ध बालक के पालक॥

"सूर्य्यकेतु निज सुतहिं, निसानी सम मोंहि दीनो।
आजु मिली जोड़ी विधि, यह अति सुन्दर कीनो॥"
"चन्द्रकेतु मम स्वामी सुत, धन धन विश्वेश्वर।
चिरञ्जीव मम वत्स, होहु तुम श्रीराजेश्वर॥

दृग उठाइ लखि व्योम, कह्यो तापस कर जोरे।
"नाथ दास तुम्हरो यह, कीन्हो पाप घनेरे॥
क्षमा करहु अब कोप-दृष्टिते नहिं मोंहि देखो।
निज सुत औ सुत पत्नी को कृपया अवरेखो॥

सहित स्नेह पुनि कह्यो, "सुखद" तुम सुखसों रहिये।
क्षमा प्रार्थना करन मोंहि, ईश्वर सों कहिये॥"
चन्द्रकेतु ललिता तब, दोनों कर धर लीनों।
कह्यो "अवज्ञा भई कौन, जो तुम तजि दीनों॥"

भीलहि लखि पुनि कह्यो, "यतन हमहूँ ते करिहै।
लहि इकन्त हम कर्म्म हेतु अनुतापहि जरिहै॥"
यों कहि तापस दोनों के सिर पर कर राख्यो।
"विश्वेश्वर अब क्षमहु" अमृतमय मुखसों भाख्यो॥

चन्द्रकेतु को रतन, जटित सिर मुकुट पिन्हायो।
ललिता को मौक्तिका हार, गलमँह अतिभायो॥
पहिरतही वह रतन मुकुट मोती की माला।
अद्भुत परिवर्त्तन को धार्‌यो बालक बाला॥

वह किशोर नवचन्द्रकैतु ललिताहु किशोरी ।
तन्मय लखत परस्पर इकटक अद्‌भुत जोरी ॥
लखे नवल यह "प्रेमराज्य !" अति ह्वै आनन्दित ।
चमकि उठ्यो नव चारु—चन्द्र तारागन वन्दित ॥

•

अष्टमूर्त्ति

सुरम्य शस्यावलि सों प्रपूरिता।
अनन्त सौन्दर्य्य विभा विराजिता ॥
सुअन्न ते पालत है जहान को।
"धरा" धरै मूर्ति महा विधान को ॥

उपाधि है जीवन जासु जीव की।
महाब्धि ह्वै राखत सत्य सीव को ॥
असीम आनन्द तरंग पूर है।
प्रसन्न "कीलाल" सुविश्व मूर है ॥

विशाल ज्वालावलि सो प्रभा भरी।
अमन्द आलोकहु ते जु सुन्दरी ॥
हविष्य को चारु सुगन्ध है खरी।
लसै सु "वैश्वानर" मूर्त्ति माधुरी ॥

अखण्ड ब्रह्माण्ड विभास है जहां।
अनन्त औ शून्य सुनील है महा ॥
सहस्र संसार जहां बने रहै।
असीम "आकाश" सुव्याप्त ह्वै रहै ॥

कल्पना-सुख

हे कल्पना—सुखदान। तुम मनुज जीवन प्रान ॥
तुम विसद व्योम समान। तव अन्त नर नहिं जान ॥
प्रत्यक्ष, भावी, भूत। यह रगे त्रिविध जु सूत ॥
तव तानि प्रकृति सुतार। पट बिनत सुचि ससार ॥
येहि विश्व को विश्राम। अरु कछुक जो है काम ॥
सबको अहो तुम ठाम। तव मधुर ध्यान ललाम ॥
तव मधुर मूर्त्ति अतीत। है करत हीतल सीत ॥
व्याकुल करन को मीत। तुम करहु कबहुं सभीत ॥
शैशव मनोहर चित्र। तुम रचहु कबहुँ बिचित्र ॥
मनु धूल धूसर बाल। पितु गोद खेलत हाल ॥
तव सुखद भावी मूर्त्ति। जेहि कहत आशा-स्फूर्त्ति ॥
मनुजहिं रखै बिलमाय। जासो रहै सुख पाय ॥
नवजात शिशु को ध्यान। हुलसावही पितु प्रान ॥
वह कमल-कोमल-गात। जनु खेलिहै कहि तात ॥
कहुँ प्रेममय संसार। नव प्रेमिका को प्यार ॥
कल्पित सुछाया चित्र। बहु रचहु तुम जग भित्त ॥

तव शक्ति लहि अनमोल। कवि करत अद्भुत खेल ॥
लहि तृण—सविन्दु तुपार। गुहि देत मुक्ताहार ॥
जह सुन्दरी के नेन। वह रचत तह सुख दैन ॥
जलजात के जुग पात। तह नील मनि सुविभात ॥
येहि भाति कोतुक केलि। मव नियति को अवहेलि ॥
जो करत नर सुख मानि। सो तव कृपा को जानि ॥
तुम दान करि आनन्द। हिय को करहु सानन्द ॥
नहि यह विषम ससार। तहँ कहा शान्ति बयार ॥

●

मानस

मानस ! तुम मानस सम विमल विशाल।
अगिनित वीचि बिलोल मनोहर माल॥
उठत, चारु मिलि जात करत अति केलि।
तव तरग अति मधुर सुधा अवहेलि॥
तव पुलिनोपरि बैठि मनुज मनमान।
सुनत अनोखी तव तरंग की तान॥
चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद।
लोभ, मोह, आनन्द, आदि बहु भेद॥
है यह मकर-निकर अरु मत्स्य महान।
भरे रतन आशा मुकता की खान॥
चुँगत मौज भरि तेहि कल्पना-मराल।
बिहरत बहु विधि "शोच" मरालिनि जाल॥
ग्रसत कबहुँ कल्पनाहि मकर महान।
व्यथित्त होत यह मानि दुख अनजान॥
सूक्षम अति तव कंज-नाल को तन्तु।
तबहूँ है फँसि जात भयावह जन्तु॥
तव तरग की सीमा यहि विधि नाहि।
खेलत जामहँ चित-मराल सुख चाहि॥

•

शारदीय शोभा

प्रभात

विलसत मधुर समीर प्रवास,
मानहुँ प्रभात को सीरो।
कलरव मधुर बिहग-संग,
परि मुदित करत चित धीरो॥

औरहु मधुर दिवाकर,
करहिं पसारत जब निजु सुन्दर।
अलिकुल - मिषित सरोरुह—
गन को पीत करत सुमनोहर॥

जलकण - भूषित शस्यश्यामला
धरनी तरु फल पूरो।
सुमन सौरभित शिखर
बनाली, जल-लहरी पर सीरो॥

रजनी

औरहु सुन्दर अति लखात
आगमन सुसन्ध्या केरो।
तापर शात विहंगम-सग
मनोहर रजनी हेरो॥

इन्दु - कला - परिवेष्ठित
तारा - निकर व्योम-मुकता - सम।
पै वा रजनी राज्य मांहि
नहिं वायु प्रभात मनोरम॥

नाहिं विहंगम कलरव,
नाहिं सुबाल दिवाकर किरने।
नहि अरविन्द-विकास-सहित
नव ओसकणों की झरनें॥

ये मिलि करत अराम सग
ये सब सहचर है नाही।
चन्द्रकला शोभत अपने सो,
या शुचि रजनी माही॥

चन्द्र

निसि फैलि रही निसिनाथ-कला।
किरणावलि कान्ति लसै अमला॥
बिलसै चहुँ ओर लखात भला।
निधि छीर मनो बिहरै कमला॥

अमला किरणावलि पूर ग्रसी।
सुरनारि कपोल-कला हुलसी॥
बिलसै रतनाकर, अम्बर मे—
रतनेस न जासु कोऊ बर में॥

कमला जल केलिहि हेतु रमे।
उडुराज किधौ नलिनीगन मे॥
शुचि व्योम-सरोवर के जल मे।
शशि कै मुख-कंज विकासन मे॥

सुमहोत्पल है कि मयंक कला।
यह बारिधि कै शुचि व्योम झला॥
यह चारु पराग मरन्द सनो।
बरसैकि जुन्हाईहि चन्द मनो॥

•

रसाल-मंजरी

ऋतुनायक के कृपा दृष्टि ते यह अति लोनी।
धारयो नवल "रसाल-मञ्जरी" सुघर सलोनी॥
कछुक मधुर मकरन्द अबहि यामें भीन्यो है।
अब लों कोउ मधुकर मरन्द नाहिं लीह्यो है॥

अहो विमल मलयानिल! नेक धीर धरि आवो।
कावेरी के रम्य तीर सों बेगि न धावो॥
बरबस कुलकामिनि अञ्चल को नाहिं उडावो।
नव मुकुलित मञ्जरी अहै इत धीरे आवो॥

अरे नेक हटि बैठु डार पै ते सुन कोकिल।
सुनि तव पञ्चम राग जात मञ्जरी अहै हिल॥
तव नैनन की लाली यह तो सहि ना सकि है।
नेक मधुर स्वर बोलु पास रहि कैसे बकि है॥

क्यो इतनी इतरात चले आवत हौ इतको।
नेकहु रखत विचार नही हौ अपने हितको॥
फुल्ल कुमुद बन माहि कीजिये तौ लौ केली।
मलयानिल! जौ लौ विकसै मजरी नवेली॥

सबही भाँति नन्दनन्दन को हौ अनुकारो ।।
करत-फिरत मधुपान कुसुम नित नित प्रवीन सो ।
मधुकर ! यह मञ्जरी अहै समुदित नवीन सों ।।

बिनवौ तुमसों नेक कृपा करिकै सुनि लीजे ।
समुझि सिखावन भलो चित्त में ठांव सुदीजे ।।
चंचलता तजि देहु अजू अपनी विचारि के ।
मंजु मजरी पाइ भार दीजे सम्हारि के ।।

●

रसाल

समीरन मन्द मन्द चलि अनुकूल,
खेलत रसाल संग अति सुखमूल।
उदार चरित तुम तरुवर राज,
तुम्हरे सहाय बली होत ऋतुराज।
मञ्जरी मधुर गन्ध कानन पूरित,
मधु लोभी मधुकर निकर गुञ्जित।
करत मुदित मन नवल सृजन,
तुमसों सुखद ओर कौन है सुजन।
ग्रीषम-निदाघ महँ शीतल सुछाया,
श्रमित पथिक कह देहु मन भाया।
हरित सघन रूप तव निरखत,
पथिक हृदय महँ सुख बरखत।
निहारि नवल धन पुलकित तन,
पल्लव, कोपल नव करि वितरन।
लहत अपार यश परम रसाल,
विहँग करत गान बैठि तब डाल।

●

वर्षा में नदी-कूल

सघन सुन्दर मेघ मनहर गगन सोहत हेरि।
धरा पुलकित अति अनन्दित रूप धरि चहुँ फेरि॥
लता पल्लवित राजै कुसुमित मधुकर सो गुञ्जित।
सुखमय शोभा लखि मन लोभा कानन नव रञ्जित॥
विज्जुलि मालिनि नव कादम्बिनि सुन्दर रूप सुधारि।
अमल अपारा नव जल धारा सुधा देत मनु ढारि॥
सुखद शीतल करत हीतल विमल अनिल सुधीर।
तरंगिनि-कूल अनुकूल आइ चलत मेटत पीर॥
तरंग तरल चलत चपल लेत हिलोर अपार।
कूलन सों मिल करै खिल खिलि तटिनि विस्तृत धार॥
वृत्ति वेगवति चलत ज्यों अति मनुज ता बस होत।
तरंगिनी-धारा चलत अपारा चारु कल-कल होत॥
कूल-तरुस्रेनी अति सुख देनी सुन्दर रूप विराजै।
वर्षा नटिनि के पट मनोहर, चारु किनारी राजै॥

•

उद्यान-लता

सुमनावलि सो लदि मोद-भरी,
पतियां सुलखात नवीन हरी ।।
भरि अंक अहौ तुम भेटति को,
तरु के हिय दाह समेटति को ।।
टक लाइ सबै दृग फूलन ते,
मकरन्द-भरे अंसुवा-कन ते ।।
तुम देखति हौ केहि आस-भरी ।
नहिं बोलति हौ तरु-पास खरी ।।
यह नीरस है तरु जानत ना ।
अति कोमल जानि अजान तना ।।
जितनी भुज-पेच पसारति हौ,
तितनो यह रूख निहारति हौ ।।
मलिया जहँ सींचि लगावत है ।
तहँही तुमको मन भावत है ।।
तरु पाइ समीपि सुपागति हौ ।
तेहि के गर धाइ सुलागति हौ ।।

प्रभात-कुसुम

धरे हिय माहिं असीम अनन्द।
सने शुचि सौरभ सों मकरन्द।।
समीरन मे सुखमा भरि देत।
प्रभातिक फूल हियो हरि लेत।।
मनो रमनी निज पीय प्रवास।
फिरी लखि कै निज बैठि निवास।।
निरेखत अश्रु-भरे निज नैन।
अहो इमि राजत फूल सचैन।।
कहो तुम कौन लख्यो शुभ-रूप।
गहौ इतनी प्रतिमा सुअनूप।।
पड़्यो तुम पै कहु कौन प्रकाश।
इतो तुम माहिं लखात विकास।।
दिवाकर को कर संगम पाइ।
अहो तुम फूल फिरो इतराइ।।
अरे नहिं जानत फूल अजान।
यहै करिहैं तब मर्दन मान।।

●

विनय

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे है।
जो सूक्ष्म है पर तऊ बसुधा धरे है।
जो शब्द मे रहत शब्द न पार पावै।
ताकी महान महिमा कवि कौन गावै ॥
जो भानु मध्य नित भासत ओज धारे।
शीतांशु जासु लहि कान्ति प्रभा पसारे ॥
जाको सुगन्ध मलयानिल पाइ डोलै ॥
ताके महान गुण - ग्रंथिहिं कौन खोलै ॥
जाके कृपा कणहिं पाइ तरंगशाली।
गम्भीर गर्ज्जन करै निधि फेन माली ॥
कैसो अनन्त वह देव दयालु सोहै।
जो बैठि के सुमन मन्दिर माँहि मोहै ॥
जो नित्य सौरभ सने मणि-पद्मवासी।
जो हंस मानस सरोवर को विलासी ॥
जो पुण्य छीर पय पावन को विचारै।
आनन्द के तरल वीचिन में विहारै ॥
जो कल्पवृक्ष नित फूलत मोद भीने।
जो देत स्वच्छ मंगल है नवीने ॥
ससार को सदय पालत जौन स्वामी।
वा शक्तिमान परमेस्वर को नमामी ॥

●

शारदीय महापूजन

विश्व में आलोक चारु लखात नव चहुँ ओर।
धीर शीतल पौन पूर पराग वहत अथोर।।
नील निर्मल नवल सोहत सुखद मञ्जु अकाश।
सुप्रसन्न महेश की लहि महाशक्ति विकाश।।
शारदीय स्वरूप धरि आगमन जननी कीन्ह।
धान्य सों भरि के धरा को अमित सुख फल दीन्ह।।
देखिये यह विश्व-व्याप्त महा - मनोहर - मूर्त्ति।
चित्तरंजन करति आनन्द भरति है धरि स्फूर्त्ति।।
देवबालागन सबै पूजन करत सुख पाइ।
तारकागन कुसुम माला देत है पहिराइ।।
चन्द्र का कर्पूर-नीराजन विमल आलोक।
साजही सब शील संयुत धारि हृदय अशोक।।
स्वच्छ नीर सुस्वादु सों मानहुँ दया की धार।
मोद को है लहत सब ही गहत गुनहिं अपार।।
कोटि कंठन सो कढ़त कल कीर्ति नाद महेशि।
विश्वधारिणि विश्वपालिनि जयति जय विश्वेशि।।

•

विभो

आलोकपूर्ण सब लोकन मे बिहारी।
आनन्द कन्द जगवन्द्य विभो पुरारी॥
ब्रह्माण्ड मण्डल अखण्ड प्रताप जाके।
पूरे रहै निगम हूँ गुण गाइ थाके॥
ईशान नाम तव, नाथ अनाथ के हौ।
विख्यात है विरुद सद्गुण गाथ के हौ॥
जो पै निहारि मम कर्महिं ध्यान देहौ।
तौ आशुतोष पद ख्यातहिं को नसैहौ॥
जानी न जाय केहि कारण रीझते हौ।
क्यो मूढ मानव जनो पर खीझते हौ॥
प्यारे मनुष्य उरमध्य निवास तेरो।
सन्मार्ग क्यो नहिं बतावहु जाहि हेरो॥
वीणा सुतार नहिं सुन्दर साजती है।
आनन्द राग भरि क्यों नहिं बाजती है॥
गावो सुचित्त शुचि मन्दिर माहिं मेरे।
पावो असीम सुख मोद महा घनेरे॥
हौ पातकी तदपि हौ प्रभु, दास तेरो।
हौ दास नाथ तव है हिय आस तेरो॥
है आस चित्त महँ होय निवास तेरो।
होवै निवास महँ देव! प्रकास तेरो॥

●

विदाई

सोयो सोयो जागिके, करि आगम पहिचान।
काहि पुकारयो वेग सों, अहो पपीहा प्रान॥
हौ नहिं जानौ कहा ते, आय परे तुम मीत।
अबही जो तुम जात हौ करत यहै अनरीत॥
प्रकृति सुमन बरसत रही, भली रही अधरात।
वा मिलिबे के समय मे, तेहि जनि करहु प्रभात॥
नव बसन्त सों अतिथि तुम, आवहु हिय हरखाय।
छोड़ि जात ग्रीषम तपन, जासों जिय जरि जाय॥
आवत बरसत नेहरस, अहो प्रेम-घन मीत।
करि लकीर दुरि जाहुगे धरि चपला की रीत॥
तुमते बढ़ि कोऊ नहीं, छली अहै जग माहि।
आवतही अधिकार में, करत सबै चित चाहि॥
मनमानिक चित्त चाहिके, पहिले लीन्हों छीन।
जान समय नीलाम करि, किय कौड़ी को तीन॥
प्रिय जबहीं तुम जाहुगे, कछुक यहाँ ते दूरि।
आंखिन में भरि जायगी, तव चरनन की धूरि॥

तुम अपनी ही मूर्ति को, मलिन करहुगे फेरि।
इन पुतरिन पै आपने चरनन के रज गेरि॥
निठुर, हृदय तुम ले चले, इत आंसू के धार।
तेरे पथ को सीचिहै, रखिहैं ताहि सँवार॥
क्रीड़ा कमल हृदय भयो, तेरे करको मीत।
सर सों बिलगानो अहै, सीच्यो दै रस प्रीत॥
जाहु, हमारे आह ये, रच्छक तुम्हारे पास।
जो लेऐहै खीचि पुनि, तुमको हमरे पास॥

●

नीरद

अहो नवल नीरद नवनीर नीर विधि सों भरि।
बैठि समीरन वाहन पै गम्भीर गरज धरि॥
अम्बर-पथ-आरूढ़ कृपक-गन को हरखावत।
लोक दृष्टि ते सबहिं लखत जबही तुम आवत॥
भरे विमल जल झलकत नील नलिन अवली सों।
अम्बर छाया है कादम्बिनि की पटली सों॥
लखे नचत है शिखी मगन मदमत्त भये से।
अहो समीरन नेक रहन दै इन्है ठये से॥
हरित भूमि संकुलित शस्य सों सुरस रम्य बन।
तिन महँ विहरत इतउत इन्द्रबधूटी गन घन॥
मेघ मण्डली मण्डित उत अम्बर शुचि राजत।
तिनमें दामिनि छटा सलोनी सुघर विराजत॥
लखो अबहिं ये लगे परन पुनि सघन फुहारें।
परिमल सुरभित वारि बूंद पुनि बांधि कतारें॥
अब तो इन राख्यो न भेद अम्बर धरती में।
वारि सूत्र सो बांधि दियो है एकतती में॥

प्रबल पवन लहि संग जलद के जल की धारा।
धारत अद्भुत रूप मनोहर अति विस्तारा॥
बेलिन को हहराइ छुडावन चहै तरुन सो।
व्यथित होइ लपटाइ रही जे भरी करुन सों॥

× × ×

इत चातक चित लाइ लखत है तेरे मुख को।
मधुर बारि शीतल की आशा धारे सुख को॥
क्यों इतनों तरसावत हौ निज प्रेमीगन को।
स्वाती लों पछताइ देहुगे जल सुखमन को॥
यह तुम लीन्हे अक माहि दामिनि सो।
गरजत पुलकि पसीजत धावत संग मानिनि सो॥
नेक न रखहु विचार पथिक अरु विरही जन को।
गरज न जानत, तेहिं रहत है धुन गरजन को॥
जान परत नहिं है गम्भीराशय तव मन को।
करत कहा हौ काह करोगे अपने मन को॥
पै हम हिय ते देत असीस अहै तुम को नित।
समय समय पुनि आय सुधारस को बरसहु इत॥

•

शरद-पूर्णिमा

सु पूरब माहिं उग्यो छबि धाम।
कला बिखरावत है अभिराम॥
अकास विभासत पूरन चन्द।
समीरन डोलत मन्दहिं मन्द॥
न बोलत है कहुँ कोकिल कीर।
सबै चुप साधि रहे धरि धीर॥
कबौं हिलिजात अहै द्रुम पात।
समीर जबै तिन मे सरसात॥
सुधा बरसावत है नभ चन्द।
मनो प्रकृती हिय धारि अनन्द॥
सु मोहनि मन्त्र सुधारि सराग।
बिखेरत है जग माहिं पराग॥
निसापति को लखि कै वधराज।
भग्यो तम अंग छिपावन काज॥
मनो द्रुम कन्दर में थल पाइ।
लियो विसराम अरामहिं जाइ॥
नदी धरनी गिरि कानन देश।
सु छाजत है सब ही नव भेश॥
धरे सुख सों सबही शुभरूप।
लखात मनोहर और अनूप॥

•

संध्या तारा

सन्ध्या के गगन महँ सुन्दर वरन।
को हौ झलकत तुम अमल रतन ॥
तारा तुम तारा अति सुन्दर लखात।
तुम्हें देखिबे को नहिं आनँद समात ॥
अनुकूल प्रतीची सों लखि दिनकर।
लहि मलिनाभ छाया धारि मनोहर ॥
प्राची सन्ध्या सुकुमारी अति अनुपम।
गहत अपूर्व एक तारा आशा सम ॥
निराश हृदय शून्य विस्तृत गगन।
आलोकित तारा आशा देखि ह्वै मगन ॥
प्रभात मिलन आशा मनु हिय करि।
एक टक देखै प्राची तरुणि सुमिरि ॥
नीलमनि माला माहि सुन्दर लसत।
हीरक उज्ज्वल खण्ड विकाश सतत ॥
कामिनी चिकुर भार अति घन नील।
तामें मणिसम तारा सोहत सलील ॥

अनन्त तरंग तुंग माला विराजित ।
फेनिल गम्भीर सिंधु निनाद बोधित ॥
हेरि कुहू मे नाविक जिमि भयभीत ।
दीप पथ - दर्शकहि लखत सप्रीत ॥
संसार तरग लखि भीत तिमिजन ।
निराश हृदय धारि संतापित मन ॥
शान्ति निशा महिषी को राज चिन्ह रूप ।
तुमहि लखत सन्ध्या तारा शुभरूप ॥

●

चन्द्रोदय

विशद विमल आलोक जासु अति ही मुद मंगलकारी।
चन्द नवल सुखधाम सोइ नभ में निजकर बिस्तारी ॥
कुमुदिनि पूरन काम महा छबिधाम निशा को स्वामी।
मधुकर गन हुलसावन जन-मन भावन शुचि नभगामी ॥
गहन विपिन सम गगन तासु वरवीर केशरी भारी।
केशर कर बिखराइ चन्द्र घूमत है बनि बनचारी ॥
तम आखेट करत है डोलत सो लखि के भयभाजै।
मनु श्रम युद्ध करन ते उपज्यो सो तारागन राजै ॥
देव गोप जन मह्यो मही सम छीर सिन्धु चितलाई।
नव नवनीत अंश उड़ि लाग्यो कै अम्बर छबि छाई ॥
प्रकृति देवि निज लीला-कन्दुक किधौं किये कलकेली।
दियो उछाल गगन महँ राजत सो करिके रँगरेली ॥
नील गगन वर कुञ्जर को यह सोहै घण्टा भारी।
ध्वनि ताकी नलिनी विकाश लहि मधुकर को गुंजारी ॥
उज्ज्वल नव घन नील गगन महँ चन्द अमन्द प्रकासी।
राजै जिमि नंदनन्द गले में कौस्तुभ शुचि सुखमासी ॥

श्याम सलोने गगन हृदय महँ चन्द महाछबि पावै।
श्याम सुँदर हिय मनु ब्रजबाला प्रेम बिम्ब दरसावै॥
शून्य हृदय विरही को तामै प्रिया बदन सुख देवै।
तैसहि शून्य विशाल गगन महँ चन्द हिलोरे लेवै॥
राजत सुन्दर चन्द अमन्द सुअंक महा छबिधारी।
चन्दवदनि के भाल विन्दु सुख सदन सुज्यो मनहारी॥
राका निशि ललना को सुन्दर कै कपोल मनभावै।
अंक तासु तिल रूप धारि अति माधुरता सरसावै॥

•

इंद्र-धनुष

लखहु नील सित असित पीत आरक्तिम शोभा।
मिलि एकहि सँग अद्भुत प्राची मे मन लोभा॥
छितिज छोर लो कोर दाबि धनुषाकृति सोहै।
सन्ध्या को आलिंगित वह सबको मन मोहै॥
काञ्चनीय निज करन डारि भूमण्डल ऊपर।
पश्चिम दिशि को जात लखहु यह भानु मनोहर॥
इत प्राची मे धनुष लखायो रँग अनुपम री।
भेट देत जनु भानुहिं रतनन गगन जौहरी॥
नन्दन कानन विहरण शील अप्सरागन को।
सूखत पट बहु रग हरत है जे मुनिमन को॥
किधौ गगन तारकस तानि बहु रंग तार को।
फेरत तिन पर रग सुघर अनगिनित वार को॥
पावस घनहिं विदारन हेतु लियो जिमि दिनकर।
पश्चिम दिशि को गये गगन में धनुष राखिकर॥
किधौ सघन धन को कमान है अति सुन्दर यह।
जेहि छिपाइ पुनि साधि चलावत वारि बान यह॥
पावस ऋतु को विजय वैजयन्ती कै फहरत।
नवल चितेरो सब रंगन को लिखि जनु विहरत॥
किधौ भानु के सप्त अश्व की है वल्गा यह।
किधौ मेघ-वाहन वाहन पै धरे धनुष यह॥

●

भारतेन्दु-प्रकाश

सज्जन चकोर भये प्रफुल्लित मानि मन में मोद को।
सहृदय हृदय शुचि कुमुद विकसे विसद बन्धु विनोद को ॥
छिटकी सुहिन्दी चन्द्रिका आनन्द अतिहिं विधायिनी।
यह भारतेन्दु भयो उदय धरि कान्ति जो सुखदायिनी ॥
जो सूर के शुचि किरन में भारत पयोनिधि नीर में।
यह नाव हिन्दी की चली थी सहज ही कछु तीर में ॥
सो अन्धकारि निहारि ठिठकी भ्रमि भँवर के भीर ते।
यह भारतेन्दु प्रकाशि के पथ दियो ताहि सभीर ते ॥
प्रच्छन्न मारग कंटकों ते रैन अँधियारी घनी।
कहुँ कबहुँ चपला जोति होति न चाँदनी ऐसी तनी ॥
बटपारहूँ मग माहिं हिन्दी को पथिक जावै कहाँ।
हरिचन्द ने दिन रात में इकलो प्रकाश कियो तहाँ ॥
अभिमान के जब गरल में सब कण्ठ लों पूरित रहे।
कवि वचन विमला सुधा के तब धार में सब ही बहे ॥
नक्षत्र जुगनू की चमक ते चाहते शोभा भली।
यह भारतेन्दु कियो प्रकाश भई उदित चन्द्रावली ॥
उरदू सुतीछन किरन मे कुम्हिलाय चाहि कराहती।
नक्षत्र दरशन ते सुकछु आराम पायो है रती ॥
हिन्दी रजनि-गन्धा सुलखि के भारतेन्दु अमन्द सों।
भइ औषधीश प्रसन्न करमें लालिता आनन्द सो ॥

•

नीरव प्रेम

कमल-कोश भरे मकरन्द सो।
जिमि विराजत चारु अमन्द सो॥
निज सुगन्ध लिये वह आप ही।
रहत मोदभरे चुप चाप ही॥
धरत रूप मनोहर मोद सों।
हृदय हू तिमि कंज विनोद सों॥
वह सुधारत मंजुल नेम को।
लहत है जब नीरव प्रेम को॥
नवल दम्पति केलि विनोद में।
जब विमोहत है नवमोद में॥
प्रथम भाषण ज्यों अधरान मे।
रहत है तउ गूंजत प्रान में॥
तिमि कहौ तुमहूँ चुपधीर सो।
विमल नेह कथान गँभीर सो॥
कछु कहौ नहि पै कहिं जात हौ।
कछु लहौ नहिं पै लहिजात हौ॥

कवि नियोजित सुन्दर कल्पना।
जब धरै प्रतिमा छबि अल्पना ॥
जलद माल तरंगिनि धार मे।
प्रविसि कूलन और पहार मे ॥
तरल वीचि निनादन मे कढै।
प्रकृति के मधुराक्षर को पढै ॥
करन व्यक्त चहै वहि भाव को।
पर न पावत कोउ उपाव को ॥
तिमि करो तुम केलि अमन्द सों।
हृदय मे करिके छल छन्द सो ॥
तदपि नाहिं कवौ दरसात हौ।
प्रगट होन चहौ छिपि जात हौ ॥
गगन मों विन अन्त गँभीर हौ।
जलधि सों तुम नीरद नीर हौ ॥
बहुल नक्र - कुलाकुल भी रहौ।
तदपि लेहु उसास न धीर हौ ॥
कवहुँ बह्नि विलोड़ित होय के।
धरत धातुहिं ज्यों गिरि गोय के ॥
तिमि रहौ मनही मन रोग के।
सब विषाद विसारहु सोय के ॥
निज लहे मृगनाभि सुगन्ध सो।
मृग फिरै बन में मद अन्ध सो ॥
(कुसुम सौरभ जानि) निराश ह्वै।
पुनि सुधारत भूल उदास ह्वै ॥
तिमि लहे निज सौरभ मोद सों।
कछुक खोजत काहि विनोद सों ॥
पुनि रहौ धरि के तुम मौन को।
तुरत त्यागत हो भ्रम गौन को ॥
कल निनादिनि धीर तरगिनी।
जबहि गावति है रस रंगिनी ॥
तुम मिलावत बीन तबै चहौ।
कोउ सुनै तब तो चुप ह्वै रहौ ॥

सुमन देखि खिले खिल जात हौ।
अलिन में तुरतै मिल जात हौ ॥
कलिन खोलत हौ रस रीति सों।
पर न गूंजत हौ नव नीति सो ॥

•

विस्मृत प्रेम

अभिनवेन्दु कला दरसाति है।
सुखभरी विमला अधराति है॥
सब लखात वहै छबि पूर ह्वै।
तदपि क्यो हिय है चकचूर ह्वै॥

सबहिं विस्मृत सिन्धु तरंग मे।
प्रणय की लिपि धोइ उमंग मे॥
यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै।
तदपि क्यों नहिं राग अजौ तजै॥
हिय कहौ तुममें कहँ बानि है।
नहिं बिसारत जो निज आनि है॥
सुमेंहदी जिमि ऊपर है हरी।
अरुणिमा तउ भीतर है भरी॥
शुचि समीरन सौरभ पूर को।
परसि चेतत कौन सुदूर को॥
कमल कानन के मकरन्द को।
विमल आनन पूरन चन्द को॥

प्रकृति की सुखमा लखते मुदा ।
सुख समूह जुरे रहते सदा ॥
विमल तारन की लखि ज्योति यो ।
तम विभास कहो अब होत क्यो ? ॥

कुसुम के लखि मञ्जु विकाश को ।
भ्रमर गूंजत है लहि आश को ॥
हृदय अस्फुट गूंजत क्यो कभी ?
लखत फूल सुकौन कहौ अभी ॥

घन तमावृत शून्य आकाश सों ।
हिय भयो यह हाय निराश सों ॥
तबहुँ रश्मि लखात विभा भरी ।
ध्रुव समान सुकौन प्रभाधरी ?

●

विसर्जन

तारकागन क्यों गगन में हँसत मन्दहि मन्द ।
क्यों मलिन कर कान्ति ह्वै के धावते ही चन्द ॥
रे निलज्ज न लाज तोहि विचारि के यह आज ।
जौन दर्शन में तिहारे मिल्यो हे सुखराज ॥
सो सबै हो मलय-मारुत-संग दीन उड़ाय ।
फूल हे अवशेष सौरभ-हीन कोमल काय ॥
क्यों कमलिनि कुञ्ज पुञ्ज पराग सरवर माँहि ।
घोर के सुरभित करो जल कौन हित चित चाहि ?
सो न वेगवती नदी अब हाय, हिय यह मान ।
जो करेगी बात वीचिन के तुम्हारे कान ॥
हाय, मृगतृष्णा भ्रमावत रह्यो जो चहुं फेरि ।
सो चमक हूं बालुका-कण धारिहैं नहिं हेरि ॥
सबहिं विस्मृति कियो हे प्रिय ! चन्द्रिका-निधि माहिं ।
कोकिले। कहु कोन कहिके चेतिहो अब नाहिं ॥
यदपि है भूलन चहति चित चैति के गुन गाथ ।
तदपि भूलहिं चेतिहै चित चेति पूरब साथ ॥
वा मधुर तम माँहि जौन प्रकाश ते तुम चन्द ।
चित्तरञ्जन करत ताको काज नहि अब मन्द ॥
जाहु विस्मृति अस्त शैल निवास को चित चाहि ।
शान्ति की नव अरुण क्रान्ति प्रकाशिहै हिय मांहि ॥

•

मकरंद-बिन्दु

मकरंद-बिन्दु

पात बिन कोन्ह्यो जिन्है पतझर रोष करि,
तिन सब द्रुमन सुमन पूर कीने तू ॥
शारद कुमोदिनी के बिरह बिहाल अलि,
सहकार मञ्जरी सों मोद भरि दीने तू ॥
नगर बनाली कोकिला की काकली सों भर्‌यो,
सुखद 'प्रसाद, रस रंग केलि भीने तू ॥
छोह छरि लीने मन औरै करि दीने,
रे बसन्त रस भीने, कौन मन्त्र पढि दीने तू ॥

कौन भ्रम भूलि कै भ्रमत चलिजात कितै,
बीतै जनि देहु रजनी को, चित्त धारिये ॥
कबते तिहारी आस लाय एक टक यह,
रूप सुधा प्यासी तासु प्यास निरवारिये ॥
राखै परवाह ना सराह की तिहारी सौहैं।
लखत 'प्रसाद' कौन प्रेम अनुसारिये ॥
चित्त चैन चाहत है, चाह में भरी है चेति,
चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिये ॥

राते नैन कीन्हे तू कहाँ ते मदमाते पिक,
सीखी यह बातें नेक धीर धरिके कहो ॥
सुनत न और की गुनत कछु और ही,
'प्रसाद' कौन बात जो अधीरता इती गहो ॥
किंसुक विसेखि कचनार को निरेखि तेहि,
डार बैठि ऐंठि कौन रगराते ह्वै रहो ॥
हेरौ मलयानिल, वसन्तहि को टेरौ हौ,
लगाये धुन कौन की, कहौ तो कौन को चहौ ॥

कौन सुख पाय टक लाय अहो चातक यों,
घन ओर देखत सबै सुधि बिसारि कै ॥
दीन देखि दया जोगि जानि के कबौं तो वह,
एक दया दीठि सम बूँद दैहै डारिकै ॥
सोऊ ना पिघलिहे पखान बनि सीपी हिये,
मोती जानि राखिहैं 'प्रसाद' निरधारि कै ॥
फारिकै निकरिहे तऊ वा बेधो जाइहै, ना
फल कछु पाई है यों प्रीति को पसारि कै ॥

सींचे जौन प्रेम सो प्रमोद ताके उर होत,
सौरभ उदोत अति सुन्दर हौ नेम के ॥
परम पुनीत परिमल के निकेत जासों,
सीतल हैं हीतल 'प्रसाद' अति छेम के ॥
सिरिस सुमन सुकुमार तुम जैसे वैसे,
भ्रमर विनोद मे धरैया नव नेम के ॥
कल कुसुमाकर के केवल रतन तुम,
कानन में पुन्य पूर पोखे पुञ्ज प्रेम के ॥

सरिता सुकूलन मे तपसी बने से तरु,
सरल सुभाव खड़े हृदय उदार ते ॥
छाया देत काहू को पथिक जौन तापित है,
तीछन दिवाकर ते दुखित दवार ते ॥
नवल प्रमोद सों करत हिय मोद मय,
सुन्दर सुस्वादु फल देत निज डार ते ॥
स्वारथ में मूढ़ नर थोड़े निज लाभ हेतु,
तऊ ताहि काटत हे कुमति कुठार ते ॥

फेरि रुख जात हौ कहाँ को प्रिय नेक इतै,
चितै चित चैन देहु लेहु सुधि आओ तो ॥
अमल कमल हिय प्रेम बिन्दु सिञ्चित है,
आसन सुबैठि के 'प्रसाद' सरसाओ तो ॥
चरन कमल इन नैन जल धारन ते,
सीचिहौ तिहारे अब हिय हरखाओ तो ॥
नाहिं तरसाओ नेक दया दरसाओ आओ,
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सो लगाओ तो ॥

पुलकि उठे है रोम-रोम खड़े स्वागत को,
जागत है नैन बरुनी पै छबि छाओ तो ॥
मूरति तिहारी उर अन्तर खड़ी है तुम्है,
देखिबे के हेतु ताहि मुख दरसाओ तो ॥
भरिकै उछाह सों उठे है भुज भेटिबे को
मेटिबे को ताप, क्यो 'प्रसाद' तरसाओ तो ॥
हिय हरखाओ प्रेम रस बरसाओ आओ
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सो लगाओ तो ॥

अलक लुलित अलि अवली समान बनि,
हिय के रसाल सुधारस बरसाओ तो ॥
प्रेम परिमल-परिपूरित दिगन्त करि,
किसलय अंगुली सों निकट बुलाओ तो ॥
खिलैगो हृदय-बन नव राग रञ्जित ह्वै,
परसि 'प्रसाद' यो बसन्त बनि आओ तो ॥
कोकिला कलित कण्ठ प्रीति राग गाओ आओ,
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सों लगाओ तो ॥

रञ्जित कियो है कुसुमाकर ने कानन को,
नैन अनियारे अरुनारे जनि कीजिये ॥
कीजिये जो रञ्जित तो जीवन अधार! मेरे,
हिय अनुराग भरि नवरंग भीजिये ॥
प्रानन के प्यासे क्यो भये हो इतो रोष करि,
भरि-भरि प्याले प्यारे प्रेम रस पीजिये ॥
दीजिये 'प्रसाद' सुख सौरभ को लीजिए जू,
नेकहू तो चित्त में दया को ठौर दीजिये ॥

करुणानिधान सुन्यो तेरी यह बान,
नित दीन दुखियान पै तिहारी कृपा कोर है ।।
तऊ ये पुकारत है आरत भये से क्यो,
सँवारत न काज निज देखि दीन ओर है ।।
साँचे ही भये हो नाथ पाहन के, जौन तुम्हे
दीनन की आह न हिलावै करि सोर है ।।
करुणा-समुद्र जो पै तरल तरंग करि,
तुमही डुबाओ तो बताओ कौन जोर है ।।

पाइ आँच दुख की उठत जब आह,
सब धीरज नसाय तब कैसे थिर होइये ।।
पावत न और ठौर तुम्हरी सरन छोड़,
रहे मुख मोड तुम, काके सौहँ रोइये ।।
छाय रही आह तिहुँ लोकन मै मेरे जान,
तेरी करुना ते ताहि कैसे करि गोइये ।।
हिलि उठै हिय जहाँ आसन तुम्हारो,
तऊ तुम ना हिलत ऐसे अचल न होइये ।।

आसुन अन्हात तिन्है आसुतोष देत,
जो पुकारत निरीह, तबै बेग उठि धावते ।।
आरत अधर्मी अति कूर जो पतित होत
दुखके समुद्र, तिन्है धायके बचावते ।।
अतिही मलीन जिन्है आशा कछु नाहि,
करि करुना कटाक्ष हँसि हेरो तिन्है चावते ।।
दीन-दुख देखिबे की परी तुम्हे बान,
दीनबन्धु तुम्हे नाहक खुसामदी बतावते ।।

भूलि-भूलि जात पदकमल तिहारो कहा,
ऐसी नीच मूढ मति कीन्ही है हमारी क्यों ?
धायके धसत काम क्रोध सिन्धु संगम मे,
मनको हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों ?
झूठे जग लोगन में दौरि के लगत नेह,
साँचे सच्चिदानँद में प्रेम ना सुधारी क्यों ?
विकल विलोकत, न हिय पीर मोचत हो,
एहो दीन-बन्धु दीनबन्धुता बिसारी क्यों ?

मिलि रहे माते मधुकर मनमोद भरे,
खिलि रहे सुमन सुगन्ध सरसाये, देत ॥
सीरी कछु भीनी-सी समीर हू चलत जौन,
मिलित पराग ह्वै गुलाल बगराये देत ॥
बरखा-सी कीन्ही है वसन्त मकरन्द-बिन्दु,
कमल-कली की पिचुकारियाँ चलाये देत ॥
बैठिके रसालन की डालन पै कूकि-कूकि,
तैसी पिकपाँति हू धमार धुन गाये देत ॥

भले अनुराग मे रगे हो प्रियप्रान आज,
ऐसो अनुरूप दरसन मिल्यो भाग सो ॥
प्रेम-कुञ्ज भीतर चलो तो, हृदयासन पे
बैठो नेक रूखे ह्वै भरो नहिं विराग सो ॥
गालिया सुनोगे जोपै आज याते सकित ह्वै,
तारो न मनोमुकुल माल काचे ताग सों ॥
अकभरि भेटो तो 'प्रसाद' परिपूरित हो
लीलाही ते मन मरुभूमि खिले बाग सों ॥

आवै इठलात जलजात-पात को सो बिन्दु,
कैधौ खुली सीपी मांहि मुकता दरस है ॥
कढी कंज-कोश ते कलोलिनी के सीकर सो,
प्रात-हिमकन-सो, न सीतल परस है ॥
देखे दुख दूनो उमगत अति आनंद सो,
जान्यो नहिं जाय यहि कौन-सो हरस है !
तातो-तातो कढि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू ! तै पियूष ते सरस है ॥

प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाइ सुख,
जानियो न भूलि याहि छलना अनग की ॥
खैचि मनमोहन ते काट-पेच कौन करै,
चली अब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की ॥
मूँदै हम खोलै किन छाइ छबि एक तेसी,
प्यासी भरी आँखें रूप सुधा के तरंग की ॥
उनतै रह्यो न भेद बिछुरे मिले मे,
भई, बिछुरनि मीन की औ' मिलनि पतग की ॥

बदन बिलोकै ठाढ्यो विधु बंध्यो व्योम-बीच,
छवि-किरनों की जनु फैली जाल-डोरी है ॥
अनिलहु अन्तरिच्छ ह्वै कै खोलै घूँघट को,
तेरे रूप सों तो सबही की बरजोरी है ॥
कलियाँ पराग लौ गुलाल बगराये देत,
ढारत प्रकृति मकरद बैठि भोरी है ॥
प्रेम-रंग बोरि हसि हेरिलै री मेरी लली !
जिय ना जराव जरी जाय रही होरी है ॥

घोर उठे घन रात अँधेरी,
धरे हठ मारुत है पुरवैया
छाड़िके कूलहि मातु को अक,
सबै भवसिन्धु मे होत खेवैया ॥
पाय 'प्रसाद' तिहारो सबै सुखी,
होत तुही पतवार धरैया ॥
नाथ तिहारे सहारे चलावत,
लक्ष्य तुही यह जीवन-नैया ॥

जो तुमसे कियो नेह अहो,
सब लोक कहावति जानि बिसारी ॥
धायो रुखाई यही परिणाम,
लह्यो सब सीखके प्रीति तुम्हारी ॥
'लोग गवाँइ के पावत है'
यह साँची कहावत आगे उतारी ॥
आपनी देखि बडाई अहौ,
अब माफ करो यह चूक हमारी ॥

भई ढीठ फिरे चल चञ्चल-सी,
यह रीति नही इन की है नई ॥
नई देखि मनोहरता कतहूँ,
थिरता इनमें नहिं पाई गई ॥
गई लाज सरूप-सुधा चखि के,
इनकी न तबौ कुटिलाई गई ॥
गई खोजत ठौर-ही-ठौर तुम्है,
अखियाँ अब तो हरजाई भई ॥

अहो नित प्रेम करत दिन गयो ।
देखत रह्यो जाहि मन भायो भयो वहै नित नयो ॥
कमल बकुल मन्दार जहाँ ही कछुक कुसुम रस भयो ।
सौरभ मिल्यो जहाँ मनमोहन मनमधुकर रमि गयो ॥
पाहनहूँ में देखि चिकनई मन यह बिछलि गयो ।
कलनादिनी देखि सरिता तेहि में हू बहि गयो ॥
भटक्यो नही भँवर के भयते दूनो साहस भयो ।
कुसुमित साखा देखि भुलान्यो तापर बैठि गयो ॥
कंटक की कठिनाई हूँ को मूरख विस्मृत कियो ।
चढ्यो कढ्यो सबभाँति छिद्यो पुनि बिध्यो नही हटिगयो ॥
तो यो आनँद पायो याही मैं सब सुख को ढयो ।
सहने परे जऊ ये दुःख बहु तऊ न साहस छयो ॥

● ● ●

देखि निठुरता प्रेमास्पद की पीछे पगि जनि दयो ।
प्रेम 'प्रसाद' समुझि यहि रे मन हिये लगाय लयो ॥

दियो भल उत्तर ह्वै के मौन ।
कह्यो सबै मन दूत समुझि के जो तुम सोच्यो तौन ॥
रह्यो नही बोलन हूँ लायक तासो बोल्यो जौन ।
ताको लाज निबाह्यो चुप ह्वै कहो आचरज कौन ?

ढीठ ह्वै करत सबैही पाप ।
जानत सब करुना-निधान हो, हरिहौ सब संताप ॥
होय दुखी इन पाप करन से तुमको जाय पुकरिहै ।
करुनानिधि फल देइ सकत नहिं, उनहूँ को दुख हरिहैं ॥
कमलहिं चोट देत हैं मधुकर, तिन पर करुना करिकै ।
मनमोहन मकरंद मधुर ते तिन्हें देत हैं भरिकै ॥
हे पावन ! पतितन के सरबस ! दीन जनन के मीत ।
सब बिसारि दुर्गुन निज जन को, देहु चरन में प्रीत ॥

पुन्य औ पाप न जान्यो जात।
सब तेरे ही काज करत है और न उन्हे सिरात॥
सखा होय सुभ सीख देत कोउ काहू को मन लाय।
सो तुमरोही काज सँवारत ताको बडो बनाय॥
भारत सिह शिकारी बन-बन मृगया को आमोद।
सरल जीव की रक्षा तिनसे होत तिहारे गोद॥
स्वारथ औ परमारथ सबही तेरो स्वारथ मीत।
तब इतनी टेढी भृकुटी क्यो? देहु चरण में प्रीत॥

छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो?
मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो॥
अम्बर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहिं भायो।
कढि पाहनहूँ ते पुकार बस सबसों भेद छिपायो॥
कूवा ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावै—
ऐसो को है याते सबही निज निज मति गुन गावै॥
लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत।
अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण में प्रीत॥

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहै?
जो नहिं करत, सुनत नहिं जो कछु, जो जन पीर न हरिहै॥
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखावौ मुनि को।
हमरी मति तो, इन झगडन को समुझि सकत नहिं तनिको॥
परम स्वारथी तिनको अपनो आनँद रूप दिखाओ।
उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनौ सुनाओ॥
करत सुनत फल देत लेत सब तुमहीं, यहै प्रतीत।
बढै हमारे हृदय सदाही, देहु चरण में प्रीत॥

और जब कहिहै तब का रहिहै।
हमरे लिए प्रान प्रिय तुम सो, यह हम कैसे सहिहै॥
तब दरबारहु लगत सिपारस यह अचरज प्रिय कैसो?
कान फुकावै कौन, हम कि तुम! रुचे करो तुम तैसो॥
ये मन्त्री हमरो तुम्हरो कछु भेद न जानन पावें।
लहि 'प्रसाद' तुम्हरो जग मे, प्रिय जूठ खान को जावे॥

विश्व विदित यह विरुद तुम्हारो, मग मे सुनत पुकार ॥
हौं जबही लों कहों सुनो इतने ही में सब बात।
ओर दूसरो कहन न पावै नहिं रहिहौ पछितात ॥
नाव हिलै नहिं तुम्हरी बोझी दृढ धारो पतवार।
बहै बयार जगत मे केती, खेइ लगाओ पार ॥
शक्तिमती-करुणा करि राखो लहे न कतहूँ हार।
तेरो यह 'प्रसाद' करुनानिधि, तुमही राखनहार ॥

मधुप ज्यो कंज देखि मँडरावे।
वैसहि क्यों न होत मन-मधुकर चरण कमल चितलावै ॥
सुख मकरंद स्रवत जहँ नितही जहँ नहि दुःख तुषारा।
आनँद-दिनकर-किरण-कलाते सदा जहाँ उजियारा ॥
सो विहारथल तजि मदमातो अनत कहूँ नहि जावे।
तव 'प्रसाद' मकरन्द छाकि के भूलि सबै दुख जावे ॥

मेर प्रेम को प्रतिकार।
कीजिये जनि अहो प्रियतम! हृदय! प्राणाधार ॥
हौं करौं सर्वस्व तजि तुव पद कमल में प्रीत।
तुम रहो अनखे अनोखे! हे निठुर मम मीत ॥
भुज उठाइ तुम्हे भग्न हित अंक मे जब प्रान।
हम चलै, तुम हटो पीछे, करत मुरि मुसुक्यान ॥
हम करै अनुसरण तुम्हरो, तुम चलो मुख फेरि।
पद सरोज 'प्रसाद' रज तुम देहु सिर पर गेरि ॥

प्रिय स्मृति कञ्ज में लवलीन।
रहहु मन मधुकर हमारे, जिमि विमल जल मीन ॥
गहहु चन्द्र चकोर गति, अपरूप छवि सर न्हाय।
मिलि लखो घनश्याम दामिनि सों हिये हरषाय ॥
पियें हिय भरि रूप रस ये नैन प्यासे आज।
श्रुति सुधा संगीतमय हो शान्ति के सुखसाज ॥
नित्य मंगलमई मूरति हिय पटल मे देखि।
तृप्त होय 'प्रसाद' लहि यह प्राण प्रेम बिसेखि ॥

अरे मन अबहूँ तो तू मान।
देखि लिए जग के नेही बहु औरन करु अनुमान।
इनकी रीति यही सब दिनते इनको कहा प्रमान॥
जेहि को चित दै चाह्यो चख भरि जेहि देखन की बान।
सो तो आधेहू दृग तोको देखन मे सकुचान॥
अब जनु भूलु मधुर बातन में ये सब जग के स्वान।
प्रभु 'प्रसाद' लखु उर अन्तर मे बाही को करु ध्यान॥

आज तो नीके नेकु निहारो।
पावस के धन तिमिर भार मे बीती बात बिसारो॥
चमकि गयो जो चपला सम यह प्रियतम बिरह तिहारो।
ताहि बहाओ रस बरषा मे, हे धन आनँद वारो॥
चातक लो नित रटत रहत हम, हे सुन्दर पी प्यारो।
हरित करो यह मरुसम मो मन, देहु 'प्रसाद' पियारो॥

यह तो सब समुझ्यो पहले ही।
नीच निकाम, निलज, बनि जगमे होय तुम्हारो नेही॥
ताहू पर करि प्रेम तिहारो तुमहूँ को नहिं पावै।
ठौर ठौर दिखलावो, प्रियतम! मन लालच मे धावै॥
छुटिहै इन उपचारन नाही प्रेम तुम्हारो मेरो।
श्याम पुतरिया देखि तुम्हारी और ओर नहिं हेरो॥
मधुरी हँसी, भौह टेढी सब तब पुलकित ह्वै सहिहौ।
तुव चरनन मे लोटि, जगत के सीस पायँ दै रहिहौ॥

●

प्रेम-पथिक

सन्ध्या की, हेमाभ तपन की, किरणें जिसको छूती है
रञ्जित करती है देखो जिस नई चमेली को मुद से
कौन जानता है कि उसे तम में जाकर छिपना होगा,
या फिर कोमल मधुकर उसको मीठी नीद सुला देगा ?

विमल मधुर मलयानिल के मिलने से खिल जाती है, जो
हरे पत्र, कोमल किसलय मे अपना अङ्ग छिपाती है,
हरी डाल के सुखद हिंडोले मे परिवर्धित होकर जो
अकपट विकसित भाव दिखाती है कैसी आनन्दमयी,
सरल विलोकन में जिसके आन्तरिक प्रेम है खिला हुआ
निर्निमेष हो हँसती जैसे तन-मन की सुधि भूली-सी,
उस नैसर्गिक सुरभिपूर्ण, उस रूपवती का क्या कहना,
जिसे कि प्रकृति मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है।
अहा, चमेली वही, बताओ कैसे सुख को पावेगी
तोडी जाकर निज डालों से, चिरसगिनी कली-कुल से—
बिछुड़ायी जाकर, क्या फूल चॅगेर सजावेगी ? किसका ?

जिसे न कुछ परवाह कली की, उसे तोडकर रखता है
सेज समीप, रात को खिल-खिलकर सुख देती जो उसको
जिसका शयनागार सजा है, पुष्पपात्र हैं बहुत धरे
किसी एक में यही चमेली पडी म्लान हो जावेगी।
जी भर-भर कर सौरभ देकर आकर्पित न किया मन को
बिना स्पर्श के ही कुम्हिलाकर अपना समय बितावेगी।
अथवा कौन बतावे कैसा होगा इसका फल इसको,
किसी स्वार्थी माली से तोड़ी जाकर, गूँथी जाकर—
अन्य कुसुम-कलियो के साथ बनावेगी सुदर माला
टके-मोल बिक जावेगी। जब सुदर सौरभ ले लेगा,
दूर करेगा उसको, अपने गले कभी न लगावेगा
कौन जानता है या, यो ही पडी रहेगी डाली मे
तारा-सा टक लगा रखेगी फूलेगी मन-ही-मन मे
शून्य मार्ग मे विचरणकारी पवन कभी हाँ छू लेगा।
अभिलाषा-मकरन्द सूख जावेगा, मुरझा जावेगी,
जिस धरणी से उठी हुई थी उस पर ही गिर जावेगी।

लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है
कौन उठा सकता है धुँधला-पट भविष्य का जीवन मे
जिस मंदिर मे देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर
कौन बता सकता है उसमे तेल न जलने पावेगा
यह भी नही जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना-मदिर-सा कब, चूर-चूर हो जावेगा,
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या-क्या बन जावेगा
भला जानते हो क्या कानन-कोने मे जो बना हुआ
द्रुमदल आच्छादित कुटीर है, जिस पर लतिका चढ़ी हुई
ईश दया-सी छाई है, उसमे सामग्री एक नही
सब अभाव के रहते भी क्यो कोई वस्तु नही घटती ?
हाँ, अभाव का अभाव होकर आवश्यकता पूरी है।
सुंदर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी में सरिता के
शांत तपस्वी-सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारों ओर
जैसे किसी दुर्ग की खाई मे श्यामल जल भरा हुआ

स्वच्छ मार्ग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण
घिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी
कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी
मृगछाला, कौशेय, कमण्डल, वल्कल से ही सजी रही
शात निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे
नवल मालती-कुंज बना दालान, अनोखे सज-धज का।

ढलते हुये तृतीय पहर के तपन मधुर हो जाते है
उसी तरह इस मानव की अब शात अवस्था कैसी है?
'पच्चीसी' के प्रबल भाव अब नही, न वृत्ति अदम्य रही
स्निग्ध भाव मुखमण्डल पर क्या स्वच्छ सुधा बरसाता है!
है बैठा मालती-कुज मे, और बड़ा आश्चर्य अहो
एक तापसी भी है बैठी दुख पददलिता छाया-सी।
कँपते हुए, रुके गदगद स्वर से बोली तापसी—"सुनो,
भद्र पथिक! अब रात हो गयी, पथ चलने का समय नही
पर्ण कुटीर पवित्र तुम्हारा ही है, कुछ विश्राम करो
फल, जल, आसन सभी मिलेगा जो प्रस्तुत है मेरे पास
और तुम्हारी शाति न कोई भङ्ग करेगा तृण भर भी।
आत्मकथा हो मुझे सुनाने योग्य तो न वञ्चित करना
सौम्य अतिथि को पाकर फिर यह निशा सहज मे बीतेगी
हाँ प्रभात होते ही अपने पथ पर तुम लग जाओगे
और दु खिनी यही अकेली ज्यो-की त्यो रह जावेगी।"
कहा पथिक ने—"धन्यवाद है, ठीक कहा, अब समय नही
और लालसा लगी हृदय मे गाथा सुनूँ, सुनाऊँ मै
इससे अच्छा यही कि रजनी आज बिताऊँ कही यही।

प्राय लोग कहा करते है—"रात भयानक होती है—
घोर कर्म्म भीमा रजनी के आश्रय मे सब होते है।"
किन्तु नही; दुर्जन का मन उससे भी तममय होता है
जहाँ सरल के लिए अनेक अनिष्ट विचारे जाते है।
जिसकी संकीर्णता निरख, अन्धकार भी घबराता हो
उस खल-हृदय से कही अच्छी होती है श्यामा रजनी

जहाँ दुखी, प्रेमी, निराश, सब मीठी निद्रा मे सोते
आशा-स्वप्न कभी भी तो तारा-सा झिलमिल करता है
चिर विछोहियो को क्रीडा-वश-होकर निद्रा-बीच कभी
कुहक-कामिनी मिला दिया करती है। इतना क्या कम है ?
अस्ताचल जाते ही दिनकर के, सब प्रकट हुए, कैसे
अन्तरिक्ष मे गुप्त रहस्य समान अहा धीरे-धीरे
स्पष्ट, चण्ड-शासन में जैसे असल अवस्था खुले नही।
प्रियदर्शन होकर जब मन्त्री यथाविहित सब सुनता है
हृदय खोलकर दिखलाने को कौन प्रजा प्रस्तुत न हुई ?
जैसे-जैसे तारागण ये गगन-बीच प्रकटित होते
वैसे नई चमेली भी अपनी डाली मे खिलती थी।
परिमलवाही शांत समीरण विमल मधुर मकरन्द लिये
चला आ रहा नये पथिक की तरह कुटी की ओर अहो
होकर अब निश्चिन्त पथिक तो बैठ गया समतल थल पर
किन्तु पवन वह लगा उलझने, बार-बार बल खाता था
जहाँ-जहाँ कलियो को पाता उन्हे हिलाता जाता था।

ताराओं की माला कवरी में लटकाये, चन्द्रमुखी,
रजनी अपने शांति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।
तेजमयी तापसी कुटी से निकल, कुञ्ज में आ बैठी,
चन्द्रशालिनी रजनी थी चुपचाप देखती दोनों को।
कहा तापसी ने—"कहिये अब भद्र पथिक, अपनी गाथा—
क्यों यह वेश, छोड़कर घर को क्यों वन-वन मे फिरते हो ?"

"शुभे ! अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती है
तो भी वज्र-हृदय कर अपना, उसको तुम्हे सुनाता हूँ।
किन्तु समझना इसे कहानी इस पर कुछ न ध्यान देना
कष्ट न देना अपने मन को"—कहा पथिक ने गद्गद् हो—
"क्योंकि हृदय कोमल होता है वनिताओ का, बातों में;
करुणा-प्लावित्त होकर दृग झरने को भरने लगता है !

ऊषा की पहली किरणों के साथ स्मरण करता हूँ मैं
उस छोटे से स्वच्छ नगर को जहाँ जन्म-भू थी मेरी,

जिसकी उसपर नवल प्रभा पड़ती प्रभात मे अति अभिराम
जिससे लगे सुमन कानन मे कोमल किसलय प्रस्तुत थे
उन पथिकों को पंखा झलते, थके हुए जो आते थे।
सच्चरित्र, सन्तुष्ट गृहस्थों की थी जन्मभूमि नगरी
दया-स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।
गोचरभूमि रही विस्तृत नगरोपकण्ठ में हरी-भरी
दुग्धशालिनी गायो का जब झुण्ड दिखाई पड़ता था
तब निरोगिता को प्रत्यक्ष विचरते लोग निरखते थे।
कृषक समूह जहाँ सन्ध्या को ग्राम्य गीत सुख से गाते।
वे सीमा के खेत शस्य से श्यामल हो लहराते थे।

नगर-बीच मे पण्यवीथिका भरी दिखाई देती थी
क्रय-विक्रय की धूमधाम से जनरव से उद्‌घोषित थी
जन-स्रोत-सा राजमार्ग चलता ही रहता था दिन-रात
सब प्रफुल्ल थे, अपने-अपने कार्य्य परिश्रम से करते,
हाँ मित्रो के मिल जाने पर हँसकर मन से मिलते भी
खेल, तमाशे, पर्व और त्योहार सभी ये होते थे
और कहाँ तक कहूँ, सदा आनन्द-स्रोत उमड़ा रहता
इसीलिए—'आनन्द नगर' था नाम पड़ा उस नगरी का।

'तटिनी के तट पर सुन्दर था एक मनोहर घर अपना
स्वर्ग-धरा का, सुंदर; जिसमे साथ पिता के रहता मै।
पास उसी के और एक थे गृहस्थ रहते, सज्जन थे
प्रेम पुत्तली कन्या से खेला करते बूढे होकर।
मेरे पिता रहे उनके परिचित मित्रों में कौन कहे?
रहा बड़ा सद्भाव सदा दोनों में अच्छी बनती थी।
हम दोनौ भी नित्य परस्पर मिलकर खेला करते थे
नदी-कूल में, कुसुम-कुंज मे, ऊषा और सन्ध्या में भी
खिली चाँदनी में खिलते थे एक डाल मे युगल कुसुम।
चकई-चकवे से हम दोनों, रात व्यतीत अलग करते
कीड़ा कर जब थक जाते तब अपने घर मे ले जाते
दोनों ही के जनक। सदा यों ही निज मन बहलाते थे।'
कुछ अज्ञात कारणों से तब पुलकित हो तापसी उठी,
कहा-"पथिक क्या नाम तुम्हारा, यह न कहा तुमने अब तक।"

कहा पथिक ने–"शुभे ! कथा सुन लो फिर नाम बताऊँगा।
हाँ, फिर हम दोनो ऐसे ही बहुत दिनो तक मिलते थे
जब कि पिता की जरा अवस्था रोग साथ मे ले आई
और हुए वे बहुत दुखी तब सहचर को बुलवा भेजा
पुतली के तब पिता देखकर उन्हे, बहुत ही दुखी हुए।
कहा—'मित्रवर' कहो तुम्हारी क्या आज्ञा है, उसे करूँ।'
कहा पिता ने—'मित्र, देखकर समझ रहे हो सब बातें
तुम्हे सौंपता हूँ अब इसको, इसे पुत्र अपना जानो।'
यो कह मेरा कर उनके हाथो में देकर साँस लिया
कहा उन्होने–'यह तो यों ही है मेरा, हाँ और कहो
यदि कोई हो कार्य्य और भी उसे करूँगा सच जानो'
'और नही कुछ, शात चित्त से स्मरण करूँगा अब प्रभु का'
कहा पिता ने प्रमुदित होकर। मित्र पधारे निज गृह को'।

* * *

कहाँ मित्रता कैसी बातें ? अरे कल्पना हैं सब ये
सच्चा मित्र कहाँ मिलता है !–दुखी हृदय की छाया-सा !
जिसे मित्रता समझ रहे हो, क्या वह शिष्टाचार नही ?
मुँह देखे की मीठी बातें, चिकनी चुपडी ही सुन लो।
जिसे समझते हो तुम अपना मित्र भूलकर, वही अभी
जब तुम हट जाते हो, तुमको पूरा मूर्ख बनाता है।
क्षण भर में ही बने मित्रवर अन्तरग या सखा समान
'प्रिय' हो प्रियवर' हो सब तुम हो काम पड़े पर 'परिचित' हो
कही तुम्हारा 'स्वार्थ' लगा है, कही 'लोभ' है मित्र बना,
कही 'प्रतिष्ठा' कही 'रूप' है—मित्र रूप में रँगा हुआ।
हृदय खोलकर मिलनेवाले बड़े भाग्य से मिलते है
मिल जाता है जिस प्राणी को सत्य प्रेममय मित्र कही
निराधार भवसिन्धु बीच वह कर्णधार को पाता है
प्रेम नाव खेकर जो उसको सचमुच पार लगाता है।

"प्रणयांकुर की तरह बालिका, बालक दोनों बढ़ते थे
क्योंकि पिता के मरने पर हम पिता-मित्र के घर रहते
अभिभावक अब वही हमारे रखते स्नेह सहित मुझको।
नित्य नई क्रीड़ा होती थी। सुख से था संसार बना।

खेल खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द
विमल हृदय के छायापथ मे अरुण विभा थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को वसंत की सुखमय सन्ध्या,
खेल रही थी सुख-सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों मे
हम दोनों थे भिन्न देह से तो भी मिल कर बजते थे—
ज्यों उँगली के छू जाने से सस्वर तार विपञ्ची के।
छोटे-छोटे कुंज तलहटी गिरि-कानन की शस्यभरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनो के हृदयों मे
कलनादिनी नवीना तटिनी पूर्ण प्रवाह बहाती थी
प्रेमचन्द्र-प्रतिबिम्ब हृदय मे लेकर वह खेला करती।
व्योम अष्टमी का जो तारो से रहता था भरा हुआ,
उसके तारे भी चुक जाते जब गिनते थे हम दोनो—
सब प्रभात नव जीवन लेकर देते थे हमको उपहार,
मणिशलाक-सम प्रथम किरण का गहरे राग रँगी थी जो ।

शीतल पवन लिये अगो को कँपा दिया करती थी जो—
वे जाडे की लम्बी राते बातो मे कट जाती थी।
नया-नया उल्लास कुसुम-अवचय का मन मे उठता था
सन्ध्या और सबेरा दोनो ही प्रकाशमय होता था।
चिढ जाता वसंत का कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से,
भद्रे! वे सब बीती बाते कैसे कहूँ, गिनाऊँ मै?

एक दिवस जब हम दोनो ले आये फल अच्छे-अच्छे
अपनी ही फुलवारी से, था एक पहर दिन चढा हुआ,
देखा तो आँगन मे था सामान थाल मे चाँदी के
और लोग एकत्र हुए थे, कैसी बाते होती थी।
मै भी पुलकित होकर दौड़ा जा पहुँचा चाचा के पास
पूछा उनसे—'यह सब क्या है, क्या कुछ मुझे बताओगे?'
उनका मुख गम्भीर हुआ, पर एक लगा हँस कर कहने—
'बच्चा! यह फलदान जा रहा है चाचा की पुतली का।'

'हूँ'—कह कर मै चला गया, फिर पुतली को जाकर घेरा—
'जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनों भी फल खायें।'

क्या था ? कैसी वह रजनी थी ? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनों थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति-कला,
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे,
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने,
किसने कहा ? कौन बोला था सचमुच हमको है अज्ञात
'पुतली ! क्या तुम ब्याह करोगी ? ब्याह करोगी क्या मुझसे ?
हम दोनों फिर जीवन-भर हो एक साथ सुख से काटें !'
पुतली थी विधु ओर देखती, बोल उठी, हाँ चौंक उठी—
देखो चन्द्र छिप गया पूरा एक मेघ के अंतर मे !'

'था दूसरा बसंत मनोहर आया अपने उपवन मे
नये फूल उपहार बहुत-सा हम लोगो को लाया था
कमल सरो में खिलते थे, अलिवृन्द किया करते गुञ्जार
सन्ध्या में शोभन होते थे विस्तृत सरिता, कूल, कछार—
कोलाहल था, बहुत बड़ा उत्सव था मानो घर भर मे
तोरण वन्दनवार सजाये जाते थे प्रति द्वारों में।
किन्तु हमारा हृदय स्तब्ध था—क्या यह होने वाला था !
'पुतली ब्याही जावेगी, जिससे वह परिचित कभी नही—'
यही ध्यान था उठता मन में—'हाय प्राणप्रिय ! क्या होगा ?'
किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री-झनकार
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन मे—
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है !
शहनाई बजती थी, मङ्गल-पाठ हो रहा था घर में,
भरे हुए थे नर-नारी उस सज्जित सुन्दर आँगन मे
खड़ा देखता था मै भी घर के कोने से अभिनय को,
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है ?
अहा चमेली से क्यों ऐसे अलग किया जाता हूँ ? मै—
भग्न-हृदय उस गृह से बिछुडा, जैसे टूटा फल तरु से।

बिदा हुआ आनन्द-नगर से, जन्मभूमि से, जननी से
ऊँचे महलों से, सरिता के कूलो से, बन-बागो से,
चारणभूमि, रसाल-कुंज से—जो शैशव के परिचित थे
हृदय हुआ था विकसित जिन बृक्षो को कुसुमित देख नितात
उनसे भी आलिंगन करके किया प्रणाम बिदाई का।
छोड़ दिया सुखधाम सकल आराम, प्रेम-पथ-पथिक हुआ
जगत प्रवास बना था मेरा, सभी नगर ही थे परदेश।

गिरि-कानन, जनपद, सरितायें, कितनी पडी मार्ग के बीच
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था सर्वत्र।
सूर्य सबेरे ही उगते थे, सबको नित्य उठाते थे
सब अपने कामो मे लगते, मै अपने पथ पर चलता।
बह जाता था उषा-काल में दक्षिण मलयज सुखकारी
किसी वृक्ष के नीचे रहता प्रेम-पथिक थक कर सोया।
वसन्त का भी पवन दोपहर मे ज्वाला बरसाता था
छाया खोज कही जो बैठा, श्रम जिससे मिट जाय वही
तो चातक आकर पुकारता अहो–'पी कहाँ ?'–निज सुख में
व्यथित हृदय हो तब मै उसको देख कही जो पाता था,
तो वह अपने प्रिय की डाली पर उडकर चल जाता था
हो जाता झकारित मन–'पी कहाँ ?'—मनोहर बोली से
प्रिय-अनुशीलन मे फिर उठता बैठ न सकता तरु-तल मे
तपन तपाता था तन को फिर धूलि जलाती पैरो को
विरह-वह्नि शीतल होती थी जब आँसू बह जाते थे।
मिलते थे मैदान जहाँ तृण-वीरुध एक नही उगते
बालू का ही पुज दिखाई पड़ता ज्वालामय उद्भ्रात
आर्द्र हृदय नीरद से जिससे भेट कभी की भी न रही।
पैरो की तो कौन कहे मन की भी गति रुक जाती थी
जिसके पड़े फफोले आँसू बन-बनकर बह जाते थे।
आशा तरुवर दूर दिखाई देता था—जिसकी छाया
देती थी सतोष हृदय को उस मरुभूमि-निराशा मे।

एक दिवस प्राची मे जब अँधियारी बढती जाती थी
सन्ध्या अपना फैलाती थी प्रभाव-प्रकृति-बिहारो मे

मे पहुँचा गिरितटी समीप, जहाँ निर्मल सरिता बहती
हरी-भरी सब भूमि रही, अपने मन से विकसित तरु थे,
शीतल जल मे अवगाहन कर शैल-शिला पर बैठ गया
शारदचन्द्र गगन मे सुन्दर लगा चमकने पूर्ण प्रकाश
शुभ्र अभ्र की छाया उस पर से होकर चल जाती थी
तब जैसे 'कन्दील' प्रकृति कौतुक-वश हो लटकाती थी
पूर्णचन्द्र की 'आँखमिचौनी'-क्रीड़ा महा मनोहर थी
देख रहा था निर्निमेष हो मै भी भावमयी क्रीड़ा,
अहा 'चमेली' का सुदर मुख हृदय-गगन मे उदित हुआ
प्रेम-सिन्धु में प्रतिविम्बित हो शत-शत रूप बनाता था।
धीरे-धीरे बीती बाते याद लगी पड़ने मुझको—
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न-सदृश थे बीत गये
सचमुच तन्द्रा-सी मुझको फिर लगी, मोह मे मुग्ध हुआ
देवदूत-सा चन्द्रबिम्ब से एक व्यक्ति उज्ज्वल निकला
कोमल-कण्ठ लगा कुछ कहने—ठोकर लगी विपंची में—

"पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेमयज्ञ मे स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे,
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घन-पट में।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नही जो व्यक्तिमात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रात भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नही
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कही नही
यह जो केवल रूपजन्य है मोह न उसका स्पर्धी है
यही व्यक्तिगत होता है; पर प्रेम उदार, अनन्त अहो
उसमें इसमें शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है।
प्रेम, जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिच के
मिट्टी वा जलपिण्ड सभी दिन-रात किया करते फेरा

इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अंतर में
रखते है आनन्द-सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।
इसके बल से तरुवर पतझड कर वसंत को पाते हैं
इसका है सिद्धांत—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन मे, नयनों में, प्रत्युत जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञाये उड़ जाती है, सत्य सत्व रह जाता है।"

धीरे-धीरे स्वर लहरी-सी मूर्ति लोप हो गई वही
प्रेम-बिम्ब-से स्वच्छ चन्द्र में अपने कथन-सदृश उसने
मिटा दिया अस्तित्व व्यक्ति का, केवल प्रेम-सुधाकर था।

● ● ●

धीरे-धीरे बीत चली रजनी, आलस को साथ लिये
स्वप्न-सदृश निद्रा भी टूटी, वन-विहग के कलरव से
मिटी मलिनता, रवि-कर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो
जैसे प्रिय कर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है,
क्योकि हो रहा था प्रभात सब प्राणी मात्र निरखते थे
राग रक्त अरुणोदय सहसा हृदय गगन में सग हुआ
फैला गया उत्साह-सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहाँ
जिममें प्रेम-पथिक अपने आनंद-मार्ग पर चल निकला।
यो ही वह विचरण करते, बहु देश निरखता नयनों से
प्रियतम-मय यह विश्व समझता यहाँ घूमता आया है।

बोली तब तापसी-कथा सुनते-सुनते जिसके मुख पर—
बहुत भाव थे झलक गये—जैसे लहरी-लीला सर में—
"क्यों किशोर! क्या अब तक तूमको उस मिट्टी की 'पुतली' का
ध्यान बना है? क्या अभागिनी याद तुम्हे अब भी रहती!
उस दुखिया का ध्यान लगा रखने से हो तुम दुखी हुए।"

"कौन? चमेली! अरे दयानिधि, यह क्या! कैसी लीला है!
यह कैसा है वेश? तुम्हारा वह सब वैभव कहाँ गया?

कहाँ स्निग्ध सौदर्य तुम्हारा ? वह लावण्य कहाँ है अब ?
वे सब अलस-कटाक्ष कहाँ है ? वे घुँघराले बाल कहाँ ?
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूँद-सदृश क्या ढुलक गया ?
सच है, या कि स्वप्न है, क्या आश्चर्य आज में देख रहा
यह परदा कैसा उठता है जो आँखों पर छाया था
नही नही—हाँ वही चमेली हो तुम, मेरी पुतली हो।
ओह ! किन्तु दिन बीत गये—वह समय कहाँ-का-कहाँ गया।
अभिलापाएँ रूप बदलकर अन्य हो गई अहो, कहो—
यह कुहेलिका कैसी फैली जिसमें सब बीती बाते
दिन की तरह छिपी, विस्मृति का नीला परदा डाल दिया।'

"हाँ किशोर, यह वही तुम्हारी बाल्यसखी पुतली ही है
जिसे देखते हो कानन में बनी तापसी बैठी है
कर कल्याण-कामना-जिसकी माता ने अपने हाथो
अपनी कन्या का दुर्भाग्य खरीदा"—कहा चमेली ने—
"उस विवाह से मेरी सारी स्वतन्त्रता छीनी जाकर
मुझे न कुछ भी मिला, एक क्षण स्नेह कभी करनेवाला—
—प्रेम ! कहाँ ?—करुणा की दृष्टि न मेरी ओर कभी घूमी
जब तक माता-पिता रहे जीवित तब तक कुछ बात नही
फिर तो लक्ष्मी दोनों घर की पत्नी उनकी दासी थी
हाँ किशोर, मैं भी सब देकर वेतनभुक्त पुजारी-सी
उस पत्थर का आराधन दिन-रात किया ही करती थी
प्रेम सहानुभूति का तो कुछ लेश न किसी हृदय में था
कभी नही आंतरिक भाव प्रकटित करने को जी भरकर
अश्रु दिखाई पड़े, रही नहलाती उससे अंतर में—
हृदय-रत्न वेदी पर जिसको पहले से बिठलाया था
क्योंकि और था क्या ? पूजा करने को पास पुजारी के
हृदय विश्व का तत्त्व निहित है जिसमें दो ही अक्षर में
उसकी लिपि पढ़ने का यत्न न करता निष्ठुर हो कोई
प्रत्न तत्त्व में खँड़हर खुदवाता फिरता है जहाँ कही
नहीं देखता है नवनीत-रचित कितने सुन्दर मन्दिर
पाकर हलकी आँच गले वे ढेर हुए हैं अंतर मे
वह नैसर्गिक शिल्प कल्पना मे भी क्या आ सकती है ?

दिन-पर-दिन योंही बीते वह कैसे कोई कहे अहो
जो कुछ था—सर्वस्व उडाकर उन्ही स्वार्थी मित्रों में—
जो दरिद्र होने पर उनकी ओर देख सकुचाते थे।—
पति मेरे श्मशान-वासी होकर धरणी से चले गये
कुछ भी शेष नही था धरणी में—इस नीरस जीवन में
केवल दु ख निराशामय था, अधकारमय अंतर था
धन-मद-वाले की पत्नी हुई, अनाथा विधवा भी
लज्जा ! सच ही लज्जा मुझको कहने देती नही उसे
जिसे नर-पिशाचो ने करने का उद्योग किया ! मुझसे—
काम-वासना प्रकट की गई अहो मित्र की जाया से !
घोर दु ख-सागर में 'उभचुभ' हो न डूबने पाती थी
उस अनाथ के नाथ दीन-दुखहारी को अपना पाया।
वृद्ध एक प्रेरित उनसे ही एक दिवस आकर बोला—
"पुत्री ! अब तुम वास यहाँ का छोड़ो, शीघ्र निकल जाओ,
जो आश्रय हो और तुम्हारा वहाँ रहो जाकर। इसको—
छोडो, है यह नरक—तुम्हारे रहने के उपयुक्त नही।"
मैंने कहा—"पिता ! मेरा आश्रय प्रभु-चरण छोडकर और
नही रहा संसार बीच। हाँ; तटिनी की तरङ्ग भी है
क्योकि सहारा रहा न कुछ भी अब इस मेरे भव-तम मे !"
कहा बृद्ध ने—"पुत्री, जीवन-पथ में शिक्षा कड़ी न दे
जो दुर्बल होकर जाता है, परम परीक्षक देख उसे
वहाँ गोद मे आदर देकर उसे बिठाता कभी नही।
दूर यहाँ से एक जमीदारी मेरी है। शाति वहाँ—
जीवन-भर प्रयत्न कर सग्रह की है मैंने। चलो वही,
शांति-कुटीर बनाकर छोटे-से कानन में, प्रभु-पद में
निर्भय होकर रहो,—वहाँ कोई शंका का नाम नही।"
तब से आकर यही बिताती हूँ जीवन दुखमय अपना,
खग-मृग सहचर हुए, यही झोपड़ी हुई मन्दिर अपना,
जीवन-स्रोत बहा ले आया मुझको ऐसे स्थल पर
इसे कहानी समझो अथवा स्वप्न कहो निज पुतली का।"

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हाँ,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य क्या करुणानिधि को भाता है ?

कृपा नाव क्या उनकी इस सागर मे तैरा करती है ?
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशसा, किंतु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा, गगा यमुना की धारा बही नही
कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में, उसमें अंतर है।
करुणा-यमुना, प्रेम-जाह्नवी का सगम है भक्ति-प्रयाग
जहाँ शाति अक्षयवट बन कर, युग-युग तक परिवर्धित हो।
नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद !
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हे पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखी के परम उपाय !
यह भव-धरा तुम्ही से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयो को शीतल कर दो—जो परितापित है दुख से।
बीत रही थी रजनी भी, प्रति पत्तो से बूँदे हिम की
ढुलक रही थी, वे सब दोनो के आँसू के साथ वहाँ।

कहा जलद-गंभीर-कण्ठ से तब किशोर ने पुतली से—
"जीवन के पथ में सुख-दुख दोनों समता को पाते है,
जिसे देखकर सुखी आज सब लोग सराहा करते है
कौन कहेगा—वही मानसिक कितना कष्ट उठाता है,
अथवा, चिर दरिद्र को भी सन्तोष सुखी करता कितना !
वर्त्तमान सुख-दुख में पड़ कर हर्ष, विषाद मानता जो
उपन्यास-लेखक है वह, परिणाम-स्थिति ही सच्ची है।
चिर-दुःखी को सुख की आशा उसे असीम हर्ष देती
सुखी नित्य डरता रहता है ध्यान भविष्यत् का करके
वह कल्याण-कामना, जो, जगजनक सभी की करता है
व्यक्तिमात्र के लिए नही है। दुःख देखकर अपना ही
मतसमझो सब दुखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है
अप्रत्याशित, अप्रकटित, कल्याण विश्व का करता है
क्योंकि विश्वमय है विश्वेश, रहस्य प्रेम के ये उसके।
हो केवल संयोग कहो फिर वियोग की रूखी फीकी—
बिना स्वाद उसका क्या है। यह लीलामय की लीला है !
केवल स्मृति दुखदायक है—उसको भूलो सपना समझो,

जीवन के कल्याण-मार्ग में प्रति पद को आगे रक्खो।
प्रबल वेग से उठते है जब वर्षा की नदियो में दृप्त—
तुमुल तरंग, गरजते-फिरते किसी कूल को प्लावित कर,
वह स्वरूप वास्तविक नही है इस जीवन-निर्झरिणी का।
उसी तरह से युवक-युवतियों का होता है प्रणयोछ्वास,
उस पर ही अन्धानुरक्त हो दुःखपूर्ण जीवन करना
महा मूर्खता है केवल उच्छृङ्खल वृत्ति पुष्टि करना
सुनो चमेली! भूलो बीती बातों को, मन से धोकर
स्वच्छ बनो, आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो होकर निष्काम
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम मे विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
कहा अभी तुमने—'साथी खग-मृग ही मेरे हुए यही'
किन्तु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द विश्वव्यापी कर दो।
क्षणभगुर सौन्दर्य देख कर रीझो मत, देखो! देखो!!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र मे छाई है—
ऊपर देखो, नील-गगन-मण्डल मे चमकीले तारे
नीचे हिम के विन्दु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते,
मधुर मरुत, कल-कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है
तुङ्ग मनोहर शृगों से सौन्दर्यमयी विमला धारा।
छोटे-छोटे कुसुम श्यामला धरणी मे किसका सौन्दर्य्य
इतना लेकर खिलते है, जिन पर सुन्दरता का गर्व्वी-
मानव भी मधुलुब्ध मधुप-सा सुख अनुभव करता-फिरता।
देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया
ताराओ का मणि-आभूषण धीरे-धीरे उतरा है।
कुसुमदलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान—
किसके क्रीडा-कुन्ज-समान दिखाई देता है सुन्दर
किसकी यह सम्भोग-सेज थी सजी? अभी उठ कर जैसे
चला गया है! परिमल-मिलित बूँद श्रम के ये बिखरे है।
किसकी व्यस्त अलस सुषमा थी अब तक धरणी लिये हुए
उषा चाँदनी-सी बिछती है किस सुन्दर के लिए कहो?
स्निग्ध, शात, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे है जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।

न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सर्वस्व, नही—
एक कामना रहे हृदय मे, सब उत्सर्ग करो उस पर।
उस सौन्दर्य्य-सुधासागर के कण है हम तुम दोनों ही
मिलो उसी आनन्द-अम्वुनिधि में मन से प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नही फटकने पावेगा
एक सिन्धु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर
फिर न विछुडने का भय तुमको-मुझको होगा कही-कभी।
आओ गले नही प्रत्युत हम हृदय-हृदय से मिल जाये
जीवन-पथ मे सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चले !"

"चलो मिले सौन्दर्य्य-प्रेमनिधि मे"-तब कहा चमेली ने
"जहाँ अखण्ड शांति रहती है—वहाँ सदा स्वच्छन्द रहे !"
लगी बनाने सोने का ससार तपन की पीत विभा
स्थिर हो लगे देखने दोनों के दृग-तारा,—अरुणोदय।

●

करुणालय

सूचना

●

यह दृश्यकाव्य गीति-नाट्य के ढग पर लिखा गया है। तुकान्त-विहीन मात्रिक छंद मे वाक्यानुसार विराम-चिह्न दिया गया है। यद्यपि हिन्दी मे इस ढंग की कविता का प्रचार नही है, तथापि अन्य भाषाओं मे (जैसे संस्कृत मे कुलक, अंगरेजी मे ब्लैक वर्स, वँगला मे अमित्राक्षर छन्द आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिन्दी मे भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभ-दायक होगा, इसी विचार के लिए आज यह काव्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

माघ—
१९६९

—इन्दु, कला ४,
खंड १, किरण २

पात्र-परिचय

•

पुरुष-पात्र

हरिश्चन्द्र : अयोध्या के महाराज
रोहित : युवराज
वसिष्ठ : ऋषि
विश्वामित्र : ऋषि
शुनःशेफ : अजीगर्त्त का पुत्र
शसित : वसिष्ठ का पुत्र
मधुच्छन्द : विश्वामित्र के सौ पुत्रो में ज्येष्ठ
ज्योतिष्मान् : सेनापति

स्त्री-पात्र

तारिणी : अजीगर्त की स्त्री
सुव्रता : दासी रूप में विश्वामित्र की गन्धर्व-विवाहिता स्त्री

•

प्रथम दृश्य

(सरयू मे नाव पर जल-विहार करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र का सहचर-जनों सहित प्रवेश)

हरिश्चन्द्र

सान्ध्य नीलिमा फैल रही है, प्रान्त में
सरिता के। निर्मल विधु विम्ब विकास है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ रहा है,
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को।
मलयानिल-ताड़ित लहरों में प्रेम से
जल में ये शैवाल जाल है झूमते।
हरे शालि के खेत पुलिन में रम्य हैं
सुन्दर बने तरङ्गायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुत-वश झूम के।
जल में उठती लहर बुलाती नाव को,
जो आती हैं उस पर कैसी नाचती।
अहा खिल रही विमल चाँदनी भी भली।
तारागण भी उस मस्तानी चाल को
देख रहे है, चलती जिससे नाव है।

वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है
जो परिमल-सा फैल रहा आकाश में।
प्रकृति चित्र-पट-सा दिखलाती है अहा,
कल-कल शब्द नदी से भिन्न न और का,
शान्ति! प्रेममय शान्ति भरी है विश्व मे।
सुन्दर है अनुकूल-पवन, आनन्द में
झूम-झूमकर धीरे-धीरे चल रहा
पिये! प्रेम-मदिरा विह्वल-सा हो रहा
कर्णधार हो स्वय चलाता नाव को।
नौके! धीरे, और जरा धीरे चलो,
आह, तुम्हे क्या जल्दी है उस ओर की।
कही नही उत्पात प्रभंजन का यहाँ।
मलयानिल अपने हाथो पर है धरे
तुम्हें लिये जाता है अच्छी चाल से
प्रकृति सहचरी-सी कैसी है साथ मे
प्रेम-सुधामय चन्द्र तुम्हारा दीप है।
नौके! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
और ठहरती, हाँ इठलाती ही चलो।

ज्योतिष्मान

महाराज! इस तट-कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तरु-जाल से।
इसी तरह यह जनपद पहले था, प्रभो!
कानन-शैल भरे थे चारों ओर ही
हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज-पशु थे यहाँ।
आर्य्य-पूर्व-पुरुषो की ही यह कीर्त्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे फल, फूल से,
बने मनोहर क्रीड़ा-कूट विचित्र ये।
इक्ष्वाकु-कुल भुजबल से निर्बीज ही
हुए दस्युदल, अब न कभी वे रोष से
आँख उठाते हम आर्यों को देख के।
आर्य-पताका है फहराती अरुण हो।

हरिश्चन्द्र

आर्यों के अनुकूल देवगण है सदा
विश्व हमारा शासन अभिनय रंग है
हम पर है दायित्व सभी सुख-शांति का
सब विभूतियाँ और उपकरण गर्व के
आर्य्य जाति के चरणो में उपहार है।

(नेपथ्य मे घोर गर्जन)

यह कैसा उत्पात! चलो जल्दी करो
माँझी! तट पर नाव ले चलो शीघ्र ही।

माँझी

प्रभो! स्तब्ध है नाव; न हिलती है। अरे
देखो तो इसको क्या है, है हो गया!

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

मिथ्यभाषी यह राजा पाषण्ड है
इसने सुत बलि देना निश्चित था किया
जब वह पहिनेगा हिरण्यमय वर्म को।
राजकुमार हुआ है अब वलि-योग्य जब
तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नही?
बार-बार इसने हमको वंचित किया
उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह
जा सकता है नही कही भी नाव से।

हरिश्चन्द्र

आह! देव यदि आप जानते समझते
कितनी ममता होती है सन्तान की
देव! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नही
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र की।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसको भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूँगा नही
हे समुद्र के देव! देव आकाश के,
शान्त हूजिये, क्षमा कीजिये, दीन को।

(नेपथ्य से गर्जन के साथ)

अच्छा जल्दी जाकर तू उद्योग मे
तत्पर हो, कर यज्ञ पुत्र-बलिदान से।

हरिश्चन्द्र

जो आज्ञा, मैं शीघ्र अभी जाके वहाँ
प्रथम करूँगा कार्य्य आपका भक्ति से।

(नौका चलने लगती है)

•

द्वितीय दृश्य

(कानन मे रोहित)

स्वगत

पिता परमगुरु होता है; आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक करने की आज्ञा कडी
कैसे पालन करने के है योग्य यो।
वरुण, देव है या कि दैत्य ! वह कौन है ?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर
क्या वह इतनी सार्वजनिक सम्पत्ति है
नही, नही, 'वह मेरा है' यह स्वत्व है
हम जब थे अज्ञान, न थे कुछ जानते
सुख किसका है नाम, तरुणता वस्तु क्या,
प्रकृति प्रलोभन मे न फँसे थे, पास की
वस्तु न यों आकर्षित करती थी हमें,
तभी क्यों न कर लिया क्रूर बलि-कर्म्म को।

अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने
उसे बदलना नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
प्रकृति मनोगत भाव सदृश जो गुप्त, यह
कैसा दुखदायक है ? हाँ बस ठीक है।
देखेंगे परिवर्तनशीला प्रकृति को
घूमेंगे बस देश-देश स्वाधीन हो।
मृगया से आहार, जीव सहचर सभी
नव किसलय दल सेज सजी सब स्थान मे,
कहो रही क्या कमी सहायक चाप है।

(नेपथ्य से)

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खडे रहो मत, कर्म्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलनेवाला पीछे को ही छोड़ता
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।
चले चलो, हाँ मत घबराना तनिक भी
धूल नही यह पैरों मे है लग रही
समझो, यही विभूति लिपटती है तुम्हे।
बढ़ो, बढो, हाँ रुको नही इस भूमि में,
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हे,
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते है, जो पाता ईप्सित वस्तु को।
चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ,
बैठोगे, तो कहीं एक पग भी नही
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।
सघन लतादल मिले जहाँ है प्रेम से
शीतल जल का स्रोत जहाँ है बह रहा
हिम के आसन् बिछे, पवन् परिमल मिला
बहता है दिन-रात, वहाँ जाना तुम्हे!

सुनो ग्रीष्म के पथिक, न ठहरो फिर यहाँ;
चलो, बढो, वह रम्य भवन अति दूर है।

रोहित

(आकाश को देखकर)

अरे कौन यह ? छाया-सी है इन्द्र की
कायरता का अरि, प्रतिमा पुरुषार्थ की
बड़ी कृपा आकाश-विहारी देव की
हुई, दीन करता प्रणाम है भक्ति से।
देव ! आप यदि है प्रसन्न, तो भाग्य है ;
प्रभो ! सदा आदेश आपका ध्यान से
पालन करता रहे दास, वर दीजिये,
"रुके कर्म-पथ में न कभी यह भीत हो"

(नेपथ्य से)

हम प्रसन्न है, वत्स ! करो निज कार्य्य को।

(रोहत जाता है।)

●

तृतीय दृश्य

(अजीगर्त के कुटीर में अजीगर्त्त और तारिणी)

अजीगर्त

प्रिये ! एक भी पशु न रहे अब पास मे,
तीन पुत्र , भोजन का कौन प्रबन्ध हो ?
यह अरण्य भी फल से खाली हो गया,
केवल सूखी डाल, पात फैले, अहो
नव वसन्त में जब वह कुसुमित था हुआ,
तब तो अलि, शुक और सारिका नीड़ मे
कोमल कलरव सदा किया करते। अहो
जहाँ फैल कर लता चरण को चूमती
कोमल किसलय अधर मधुर से प्रेम से,
अब सूखे काँटे गड़ते हैं, हा ! वहीं !
कानन की हरियाली ही सब भूख को
तुरत मिटाती थी देकर फल-फूल ही

रोहित

सौ दूँगा में गाय तुम्हे, जो दो मुझे
एक पुत्र अपना, उस पर सब सत्त्व हो
मेरा, उसको चाहे जो कुछ मै करूँ।

तारिणी

दूँगी नही कनिष्ट-पुत्र को मै कभी।

अजीगर्त

और ज्येष्ठ को मै भी दे सकता नही

रोहित

तो मध्यम सुत दे देना स्वीकार है—
वलि देने के लिए एक नरमेध में?

(ऋषि-पत्नी मुँह ढाँप कर भीतर चली जाती है
और अजीगर्त कुछ सोचने लगता है)

अजीगर्त

हाँ हाँ! मुझको सब बातें स्वीकार है।
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।

रोहित

अच्छा, उसको यहाँ बुलाओ देख लें
हम भी; मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहाँ?

अजीगर्त

(नेपथ्य की ओर मुख करके—)

शुनःशेफ! ओ शुनःशेफ!! आ जा यहाँ।

(मार खाने के भय से, खेल छोडकर
शुनःशेफ भागता हुआ आता है)

शुनःशेफ

क्या है बाबा, क्यों हो मुझे बुला रहे?
मैंने कोई भी न किया है दोष, जो
आप बुलाते मुझे मारने के लिए।

अजीगर्त

चुप रह ओ मूर्ख! बोलना मत, यहाँ
खड़ा रह, (रोहित से)—यही मध्यम मेरा पुत्र है।

रोहित

अच्छा है। बस चलो अभी तुम साथ में,
राज्य-केन्द्र में चलते है हम भी अभी,
उसी स्थान में मूल्य तुम्हे मिल जायगा,
और इसे हम ले जाते है संग ही।

(शुन.शेफ से)

चलो चलो जी साथ हमारे शीघ्र ही।
मेरे हाथ तुम्हारा विक्रय हो चुका।

(शुन.शेफ का अजीगर्त की ओर सकरुण देखते हुए रोहित के साथ प्रस्थान)

•

चतुर्थ दृश्य

(महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासनासीन। शुन शेफ को साथ लिये हुए रोहित का प्रवेश—)

रोहित

हे नरेन्द्र हे पिता पुत्र यह आपका
रोहित सेवा मे आ गया। विनम्र हो
करता अभिवादन है, अब कर दीजिये
क्षमा इसे। हूँ पशु लेकर आया यहाँ।

हरिश्चन्द्र

रे पुत्राधम! तूने आज्ञा भंग की
मेरी, अब तू योग्य नही इस राज्य के

रोहित

देव! दिया जाता वलि में जो मैं तभी
तो क्या पाता राज्य! न ऐसा कीजिये।
सुनिये, मैंने रक्षा की है धर्म्म की
नहीं आप होते अनुगामी निरय के।

पुत्र न रहता, तो क्या होता कौन फिर
देता पिण्ड तिलोदक। यह भी समझिये
कुल के पुण्य-पुरोहित देव वसिष्ठ से
(वसिष्ठ का प्रवेश, राजा अभ्युत्थान देता है)

वसिष्ठ

राजन्! विजयी रहो। सुनी सब बात है,
यह तो अच्छा कार्य्य कुँवर ने है किया।
यदि पशु का है पिता; दे दिया सत्य ही
उसने बलि के लिए इसे, तो ठीक है।
राजपुत्र के बदले इसको दीजिये
बलि; तब देव प्रसन्न तुरत हो जायँगे
और आप भी सत्य-सत्य हो जायँगे।

(शुनःसेफ से)

क्यों जी! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हें
मूल्य लिया है?

शुनःशेफ

सत्य प्रभो! सब सत्य है।

वसिष्ठ

फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?

शुनःशेफ

जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म मे।

वसिष्ठ

अच्छा फिर सब यज्ञ-कार्य्य भी ठीक हो
और शीघ्र करना ही इसको उचित है।

हरिश्चन्द्र

जो आज्ञा हो, मै करता हूँ सब अभी।

(सबका प्रस्थान)

●

पंचम दृश्य

(यज्ञ-मण्डप में हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, होता इत्यादि बैठे है।
शुन शेफ यूप में बँधा हुआ है। शक्ति उसे बध करने के
लिए बढता है, पर सहसा रुक जाता है)

वसिष्ठ

शक्ति, तुम्हारी शक्ति कहाँ है जो नही
करता है बलि-कर्म, देर है हो रही।

शक्ति

पिता, आप इस पशु के निष्ठुर तात से
भी कठोर है। जो आज्ञा यों दे रहे!

(शस्त्र फेंक कर—)

कर्म्म नहीं, यह मुझसे होगा घोर है।

(प्रस्थान। अजीगर्त का प्रवेश)

अजीगर्त

और एक सौ गायें मुझको दीजिये,
मै कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।

वसिष्ठ

अच्छा अच्छा, तुम्हे मिलेगी और भी
सौ गाये। लो पहले इसको तो करो।

(अजीगर्त शास्त्र उठा कर चलता है)

शुनःशेफ

(आकाश की ओर देख कर)

हे हे करुणा-सिन्धु, नियन्ता विश्व के,
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सर्प के,
हाय, प्रभो! क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नही, दिखाता जो मुझ पर करुणा नही।
हे ज्योतिष्पथ-स्वामी! क्यों इस विश्व की
रजनी मे, तारा प्रकाश देते नही
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त्त बीच अति दीन हो
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।
जगत्पिता! हे जगद्बन्धु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यो दुख होता है हमे?
त्राहि त्राहि करुणालय! करुणा-सद्म मे
रखो, बला लो! विनती है पदपद्म में।

(आकाश में गर्जन, सब त्रस्त होते हैं। सब शक्तिहीन
हो जाते है। विश्वामित्र का मधुच्छन्दा प्रभृति
अपने सौ पुत्रों के साथ प्रवेश)

विश्वामित्र

(वसिष्ठ से)

कहो कहो इक्ष्वाकु-वंश के पूज्य हे!
ओ महर्षि! कैसा होता यह काम है?
हाय! मचा रक्खा क्या यह अन्धेर है।
क्या इसमें है धर्म? यही क्या ठीक है?
किसी पुत्र को अपने वलि दोगे कभी?
नही! नही! फिर क्यो ऐसा उत्पात है?

(आकाश की ओर देखकर)

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर कर्म्म। अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना ? तुझपर सब शासन कर सके
और धर्म की छाप लगाकर—मूढ तू !
फँसा आसुरी माया मे, हिंसा जगी
अथवा अपने पुरोहिती के मान की
ऋषि वसिष्ठ को, कुलगुरु को, इस राज्य के।

(वसिष्ठ से)

तुम हो त्राता धर्म्म मनुज की शाति के
यह क्या है व्यापार चलाया ? चाहिये
यदि मनुष्य के प्राण तुम्हारे देव को
ले लो (मधुच्छन्दा की ओर देख कर)
कितने लोगे ये सब सौ रहे

वसिष्ठ

लज्जित हूँ, मुझमे यह साहस था नही
विश्वामित्र महर्षि तुम्हे हूँ मानता

(झपटी हुई एक राजकीय दासी का प्रवेश; जो राजा
और अजीगर्त कीओर देखकर कहती)

दासी

(राजा से—)

न्याय ! न्याय !! हे देव, न्याय कर दीजिये

(अजीगर्त से)

रे रे दुष्ट ! बना है ऋषि के रूप में
निरा बधिक रे नीच ! अरे चाण्डाल तू
भूल गया दुर्दैव सदृश उस बात को

(विश्वामित्र से—)

और न तुम भी मुझको हो पहचानते।
क्या वह नवल तमाल कुज मे प्रेम से
परिवर्तन वनमाला का विस्मृत हुआ
क्या वह सब थी केवल कुटिल प्रवञ्चना ?
अहो न अब पहचान रहे निज पुत्र को
जो है परिचित शुनःशेफ के नाम से।

विश्वामित्र

अरे! सुव्रता! तू है, सचमुच स्वप्न-सी
मुझको अब सब बातें आतीं ध्यान में,
मै जब तप के लिए छोड असहाय ही
तुझे गया—फिर पड़ा अकाल। न था कही
क्षण भर को अवलम्ब तुम्हे यह भूल कर
मै चिन्तित था धर्म और तप तत्त्व मे
रे झूठे अभिमान तुझे धिक्कार है।
तुझे बहुत खोजा था मैने ग्राम मे।
जब जाता था हिमगिरि के वनकुञ्ज में
सत्य; तुझे वञ्चित न कभी मेने किया।
ईश-कृपा से आज अचानक पा गया।
प्रिये! तुम्हारा मुख, निज सुत को देख कर
पूर्ण हुआ आनन्द

(शुन शेफ की ओर—)

ज्येष्ठ यह पुत्र है
मेरा; अब तुम सुत को लेकर साथ में
सुखी रहो। (अजीगर्त से)
रे दुष्ट वधिक! अब क्यों नही
बतलाता है उसको अपना पुत्र तू।

(हरिश्चन्द्र से—)

राजन्! यह सुव्रता हमारी नारि है
इसे मुक्त दासीपन से कर दीजिये,
और नराधम को भी शासित कीजिये।

राजन् ! सब तप और सत्य तुम कर चुके
यदि अपनी इस प्रजा-वृन्द का ध्यान हो
दुख दूर करने का कुछ उद्यम करो।

हरिश्चन्द्र

हे कौशिक ऋषिवर्य्य ! इसे कर दीजिये
क्षमा; और सुव्रता स्वतन्त्रा हो ऋषे !
चरणों में राज्य आज उत्सर्ग है।

विश्वामित्र

अस्तु। सुव्रते ! कहो कहाँ फिर तुम रही
मेरे जाने बाद ?—

सुव्रता

प्रभो ! उस ग्राम से
लाच्छित करके देश-निकाला ही मिला,
क्योकि गर्भिणी थी मै। इससे घूमती
आयी मै इस ऋषि आश्रम के पास में।
प्रसव-समर्पण किया इसी की गोद मे
और स्वयं अन्त:पुर में दासी बनी

वसिष्ठ

धन्य सुव्रते ! साधु ! सुशीले ! धन्य तू
पाया पति, सुत, फिर अपने सौभाग्य से।

विश्वामित्र

करुणा करुणालय जगदीश दयानिधे।
सब यों ही आनन्द सहित सुख से रहे।

(सबकी ओर देख कर—)

जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज्य है
सबका ही वह पिता; न देता दु:ख है
कभी किसी को। उसने देखा सत्य को
हरिश्चन्द्र के, जिसने प्रण पूरा किया
उद्यत होकर करने में वलिकर्म्म के।

यह जो रोहित को बलि देते तो नही
वह बलि लेता; किन्तु मना करता इन्हे।
क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।
अस्तु, सभी तुम शक्तिहीन हो हो गये।
कहता हूँ उसको सुन लो सब ध्यान से;
समस्वर से सब करो स्तवन, उस देव का
जो परिपालक है इस पूरे विश्व का।
तुममे जब हो शक्ति और यह पुत्र भी
शुनःशेफ हो मुक्त आप, तब जान लो
यज्ञ कार्य्य पूरा होकर फल मिल गया।

(समवेत स्वर से—)

जय जय विश्व के आधार।
अगम महिमा सिन्धु-सी है कौन पावै पार।
जो प्रसव करता जगत को, तेज का आकार।
उसी के शुभ-ज्योति से हो सत्य पथ निर्धार।
छुटे सब यह विश्व-बन्धन हो प्रसन्न उदार।
विश्व प्राणी प्राण में हो व्याप्त विगत विकार।
—जय जय विश्व के आधार ।।

(आलोक के साथ वीणा-ध्वनि। शुन शेफ का बन्धन आप-से-आप खुल जाता है, और सब शक्तिमान् होकर खडे हो जाते है। पुष्प-वृष्टि होती है।)

आलोक के साथ पटाक्षेप

•

महाराणा का महत्त्व

"क्यो जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है ?"
शिविका मे से मधुर शब्द यह सुन पड़ा।
दासी ने उन सैनिक लोगो से यही
—यथा प्रतिध्वनि दुहराती है शब्द को—
प्रश्न किया जो साथ-साथ थे चल रहे।
कानन में पतझड भी कैसा फैल के
भीषण निज आतंक दिखाता था, कड़े
सूखे पत्तो के ही 'खड़-खड़' शब्द से
अपना कुत्सित क्रोध प्रकट था कर रहा।
प्रबल प्रभंजन वेगपूर्ण था चल रहा
हरे-हरे द्रुमदल को खूब लथेड़ता
घूम रहा था, क्रूर सदृश उस भूमि मे।
जैसी हरियाली थी वैसी ही वहाँ—
सूखे काँटे पत्ते बिखरे ढेर-से
बड़े मनुष्यो के पैरों से दीन-सम
जो कुचले जाते थे, हय-पद-वज्र से।
धूल उड़ रही थी, जो घुसकर आँख में
पथ न देखने देती सैनिक वृन्द को,

जिन वृक्षों में डाली ही अवशिष्ट थी
अपहृत था सर्वस्व यहाँ तक, पत्र भो—
एक न थे उनमें, कुसुमों की क्या कथा!
नव वसत का आगम था बतला रहा
उनका ऐसा रूप, जगत-गति है यही।
पूर्ण प्रकृति की पूर्ण नीति है क्या भली,
अवनति को जो सहन करे गंभीर हो
धूल सदृश भी नीच चढे सिर तो नहीं
जो होता उद्विग्न, उसे ही समय में
उस रज-कण को शीतल करने का अहो
मिलता बल है, छाया भी देता वही।
निज पराग को मिश्रित कर उनमे कभी
कर देता है उन्हे सुगधित्त, मृदुल भी।

देव दिवाकर भी असह्य थे हो रहे
यह छोटा-सा झुड सहन कर ताप को,
बढता ही जाता है अपने मार्ग में।
शिविका को घेरे थे वे सैनिक सभी
जो गिनती मे शत थे, प्रण मे वीर थे।
मुगल चमूपति के अनुचर थे साथ में
रक्षा करते थे स्वामी के 'हरम' की।
दासी ने भी वही प्रश्न जब फिर किया—
"क्यो जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है?;'
सैनिक ने बढ करके तब उत्तर दिया—
"अभी यहाँ से दूर निरापद स्थान है,
यह नवाब साहब की आज्ञा है कड़ी—
मत रुकना तुम क्षण भर भी इस मार्ग में
क्योंकि महाराणा की विचरण-भूमि है
वहाँ मार्ग में, कही मिलेगी क्षति तुम्हें
यदि ठहरोगे, रुकता हूँ इससे नही।"

दासी ने फिर कहा—"जरा ठहरो यहीं
क्योकि प्यास ऐसी बेगम को है लगी,
चक्कर-सा मालूम हो रहा है उन्हे।"

सैनिक ने फिर दूर दिखा संकेत से
कहा कि "वह जो झुरमुट-सा है दीखता
वृक्षों का, उस जगह मिलेगा जल, उसी
घाटी तक बस चली-चलो, कुछ दूर है।"

● ● ●

विस्तृत तरु-शाखाओं के ही बीच मे
छोटी-सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था,
कल-कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल को आश्वासन-सा देती हुई।
ठहरा, फिर वह दल उसके ही पुलिन मे
प्रखर ग्रीष्म का ताप मिटाता था वही
छोटा-सा शुचि स्रोत, हटाता क्रोध को
जैसे छोटा मधुर शब्द, हो एक ही।

अभी देर भी हुई नही उस भूमि मे
उन दर्पोद्धत यवनो के उस वृन्द को,
कानन घोषित हुआ अश्व-पद-शब्द से,
'लू' समान कुछ कुछ राजपूत भी आ गये।
लगा झुलसने यवनो का दल तेज से
हुए सभी सन्नद्ध, युद्ध आरम्भ था—
पण प्राणों का लगा हुआ-सा दीखता।
युवक एक जो उनका नायक था वहाँ
राजपूत था; उसका बदन बता रहा
जैसी भौ थी चढी ठीक वैसा कड़ा
चढा धनुष था, वे जो आँखे लाल थी
तलवारो का भावी रंग बता रहीं।
यवन पथिक का झुण्ड बहुत घबरा गया
इन कानन-केसरियो की हुकार से।
कहा युवक ने आगे बढ कर जोर से
"शस्त्र हमें जो दे देगा वह प्राण को
पावेगा प्रतिफल मे, होगा मुक्त भी।"

यवन-चमूनायक भी कुछ कादर न था,
कहा—"मरूँगा करते ही कर्तव्य को—
वीर शस्त्र को देकर भीख न माँगते।"

मचा द्वन्द्व तब घोर उसी रणभूमि मे
दोनों ही के अश्व हुए रथचक्र-से
रणशिक्षा, कैसा, कर-लाघव था भरा
यवन वीर ने भाला निज कर में लिया
और चलाया वेग सहित, पर क्या हुआ
राजपूत तो उसके सिर पर है खड़ा
निज हय पर, कर मे भी असि उन्मुक्त है।
यवन-वीर भी घूम पड़ा असि खीच के
गुथी बिजलियाँ दो मानो रण-व्योम मे
वर्षा होने लगी रक्त के बिन्दु की,
युगल द्वितीया चन्द्र उदित अथवा हुए
धूलि-पटल को जलद-जाल-सा काट के।
किन्तु यवन का तीक्ष्ण वार अति प्रबल था,
जिसे रोकना 'राजपूत' का काम था,
रुधिर-फुहारा-पूर्ण-यवन-कर कट गया
असि जिसमे थी, वेग-सहित वह गिर पड़ा
पुच्छल तारा सदृश, केतु-आकार का।
अभी देर भी हुई नही शिर रुण्ड से
अलग जा पड़ा यवन-वीर का भूमि मे।
बचे हुए सब यवन वही अनुगत हुए
घेर लिया शिविका को क्षत्रिय सैन्य ने।
"जय कुमार श्री अमरसिंह !"—के नाद से
कानन घोषित हुआ, पवन भी त्रस्त हो
करने लगा प्रतिध्वनि उस जय शब्द की।
राजपूत बन्दी गण को लेकर चले।

● ● ●

दिन भर के विश्रात विहग-कुल नीड़ से
निकल-निकल कर लगे डाल पर बैठने।
पश्चिम निधि मे दिनकर होते अस्त थे
विपुल शैल-माला अर्वुदगिरि की घनी—
शान्त हो रही थी, जीवन के शेष में
कर्मयोगरत मानव को जैसी सदा
मिलती है शुभ शाति। भली कैसी छटा

प्रकृति-करों से निर्मित कानन देश की
स्निग्ध उपल शुचि स्रोत सलिल से धो गये,
जैसे चन्द्रप्रभा में नीलाकाश भी
उज्ज्वल हो जाता है छुटी मलीनता।
महाप्राण जीवो के कीर्ति सुकेतु से
ऊँचे तरुवर खडे शैल पर झूमते।
आर्य्य जाति के इतिहासो के लेख-सी
जल-स्रोत-सी बनी चित्र रेखावली
शैल-शिखाओं पर सुन्दर है दीखती।

करि-कर-सम कर-बीच लिये करवाल है
कौन पुरुष वह बैठा तट पर स्रोत के
दोनों आँखे उठ-उठ कर बतला रही
"जीवन-मरण"—समस्या उनमे है भरी।
यद्यपि है वह वीर श्रांत तब भी अभी
हृदय थका है नही, विपुल बल पूर्ण है;
क्योकि कर्मफल-लाभ एक बल है स्वय।
करुणामिश्रित वीरभाव उस बदन पर
अनुपम महिमा-मण्डित शोभित हो रहा
जन्म-भूमि की ओर महा करुणा भरो
यवन शत्रु प्रति कालानल के कोप-सी
दोनों आँखें, तिस पर भी गम्भीरता
हर्ष भरा है अपने ही कर्तव्य का
आजीवन जिसको वह करता आ रहा।
कहो कौन है?—आर्य्यजाति के तेज-सा?
देशभक्त, जननी का सच्चा पुत्र है,
भारतवासी! नाम बताना पड़ेगा
मसि मुख मे ले अहो लेखनी क्या लिखे!
उस पवित्र प्रात स्मरणीय सुनाम को।
नही, नही, होगी पवित्र यह लेखनी
लिखकर स्वर्णाक्षर मे नाम 'प्रताप' का।
कर अपने 'प्रताप' को विस्मृत सो गये
अरे! कृतघ्न बनो मत उसको भूल के
यह महत्त्वमय नाम स्मरण करते रहो।

बठे-बैठे वन-शोभा थे देखते—
अपनी लीला-भूमि, सुगौरव कुञ्ज की।
सालुम्ब्रापति आये, अभिवादन किया।
आर्य्यनाथ ने कहा—"कहो सरदारजी,
समाचार है कैसा अब मेवाड का?"

कृष्णसिह ने कहा—"देव! इस प्रात मे
एक बार फिर आर्य्य-राज्य अब हो गया,
वीर राजपूतो की तलवारे खुली,
चमक रही मेवाड़-गगन मे ज्वलित हो,
भाग रहे है भीत यवन मेवाड़ से।
राजन्! समाचार है सुखमय देश का
अभी यवन का एक वृन्द बदी हुआ
राजकुँवर ने भेजा है उसको यहाँ
दुर्ग-द्वार पर वे बंदी है और भी,
सुनिए, उसमे है नवाब-पत्नी यहाँ।"

आर्य्यनाथ ने कहा—"किया किसने उसे
बंदी? स्त्री को क्षत्रिय देते दुख नही।"

कृष्णसिह ने कहा—"प्रभो उस युद्ध मे
जितने बदी हुए सभी भेजे गये।
अब जो आज्ञा मिले बस वही ठीक है
वही किया जावेगा; पर यह बात भी
ध्यान कीजिए, वह वनिता है शत्रु की।
दिल्लीपति का सैनप हो, आया यहाँ
जो रहीमखाँ अकबर का चिर-मित्र है
उसकी ही परिणीता है यह सुन्दरी
इसका बन्दी रहना नैतिक दृष्टि से
ठीक नही क्या? जब तक ये सब शात हो।"

कहा तमक कर तब प्रताप ने—"क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है!
इस अबला के बल से होगे सबल क्या?

रण मे टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे ? नही, कभी ऐसा नही,
दृढ-प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हे बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे मे उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार-रक्षित दृढ-हृदय सु-नाव को
छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले
घोर सिन्धु मे, क्या बुधजन का काम है ?
परम सत्य को छोड़ न हटते वीर है।
सालुम्ब्राधिपते ! क्या अब होगा यही
क्षुद्रकर्म इस धर्मभूमि मेवाड़ में ?
और 'अमर' ने ही नायक होकर स्वयं
किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म को!
बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइए
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिये।
सैनिक लोगो से मेरा सदेश यह
कहिए, कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दें, चाहे हो शत्रु की
शत्रु हमारे यवन—उन्ही से युद्ध है
यवनीगण से नही हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं
मृगया, डर से दबी शृंगाली-वृन्द की।"

• • •

"सुन्दर मुख की जय होती सर्वत्र ही
विजित, उसे कर सकता कोई भी नही।
रमणी के सुकुमार अंग पर केशरी
सम्हल-सम्हल कर करता प्रेम-प्रकाश है,

प्रिये। तुम्हारे इस अनुपम सौन्दर्य्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केशरी,
दाँत लगा न सका; देखा—गान्धार का
सुन्दर दाख"—कहा नवाब ने प्रेम से।
कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल मे;
खिसक गई डर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौध-सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।
आभूषण भी झन-झन कर बस रह गये।
सुमन-कुंज मे पचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा—"चुप भी रहिए जरा
जिसकी नारी छोड़ी जाकर शत्रु से,
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर।"
अपने हँसते मुख को शीघ्र बढा दिया।
तब नवाब ने पानपात्र निश्शेष कर
अच्छा है दुर्जन-कृत बहुसम्मान से।
सज्जन-कृत अपमान न होता है कभी
हृदय दिखाने को, होता वह भूल से;
किन्तु नीच नर जो करता सम्मान है
उसमें भी उसका घमण्ड है छिप रहा
केवल आडम्बर मे निज अभ्यर्थना
करता है वह अपनी कुत्सित नीति से।"
"बस बस, बाते अब विशेष न बनाइए"
कहा सुन्दरी ने—"यह सब भी ढग है
प्रत्युत्तर की अनुपस्थिति में हास भी
पाद-पूर्त्ति-सा होता है दुष्काव्य मे,
यह थोथा पाण्डित्य न आज बघारिए
होता जो निरुपाय वही क्या सरल है?"[1]
"प्रिये! मर्म की बाते मत ऐसी कहो
इससे होता दुःख—"कहा नव्वाब ने—
"मै जब से सेनापति हो आया यहाँ

सचमुच, बीर प्रताप सदा विजयी रहा
मै होकर निश्चेष्ट देखता था वही—
रण-क्रीड़ा स्वाधीना जननी-भूमि के
वीर पुत्र की, निर्निमेष होकर अहो!
तुर्क देश से लेकर हाँ गान्धार तक
वीर भूमि के शतशः कानन देख कर
वीर कथाओं को सुन कर भी आज तक
प्राप्त न हुई कभी थी मुझे प्रसन्नता;
क्योंकि सभी वे क्रूर और निर्दय मिले
युद्ध-कार्य करते थे अपने स्वार्थ से।
जन्मभूमि के लिए, प्रजा-सुख के लिए
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया?
दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड कर
सूखे पत्ते कौन चबाता है कहो—
मातृ-भूमि की भक्ति, देशहित-कामना,
किसको उत्तेजित करती है, वे कहाँ?
जिस कानन मे पहुँचा युद्ध-विनोद मे
सदा मिला सन्नद्ध, लिये तलवार ही,
गिरि-कन्दर से देख स्वकीय शिकार को
जैसे झपटे सिंह, वही विक्रम लिये
वीर 'प्रताप' दहकता था दावाग्नि-सा
सत्य प्रिये! मै देख शूर-छवि वीर की
होता था निश्चेष्ट, वाह कैसी प्रभा!
कितने युद्धो में मेरी निश्चेष्टता
हुई विजय का कारण वीर 'प्रताप' के,
क्योकि मुग्ध होकर मै उनको देखता।"

"कोरी भक्ति भला होती किस-काम की
कुछ उसका उपयोग अवश्य दिखाइए—"
कहा सुन्दरी ने तन कर कुछ गर्व से—
"सच्चे तुर्क न होते कभी कृतघ्न है।"
"प्रिये! भला किस मुख से मै तलवार अब
लेकर कर में समर करूँ उस वीर से,

मिलती मुझे पराजय भो यदि युद्ध में
तो भी इतना क्षोभ न होता हृदय में।"
कहा, देख कर नत दृग से नव्वाब ने—

"जिसकी महिमा गाते है समकण्ठ से
भारत के नर-नारी, उस सम्राट का
बढा महत्त्व, हुई प्रताप से शत्रुता
सचमुच ऐसा वीर उदार कहाँ मिले।
मै तो अब, फिर जाऊँगा दिल्ली अभी,
चाहे मुभको लोग भले कायर कहे
उस अपयश को सह लूँगा मे भले ही
किन्तु न सैनप-पद अब मेरे योग्य हे।

कहा पास मे और खिसक कर प्रेम से
कमल-लोचना बेगम ने नव्वाब से—

"प्रियतम ! सचमुच यह पार्वत्य प्रदेश भी
अब न मुझे अच्छा लगता है, शीघ्र ही
मै चलना चाहती सुखद काश्मीर को।
कुछ दिन की छुट्टी लेकर सम्राट से,
चलिए जल-परिवर्त्तन करने शीघ्र ही
और हो सके तो मिलकर सम्राट से,
राणा से शुभ संधि करा ही दीजिये।"

"मुग्धे ! इतने पर भी तुम परिचित नही
कुलमानी, दृढ़, वीर महान् 'प्रताप' से !
भला करेगा सधि कभी वह यवन से ?
कई हो चुके है प्रस्ताव मिलाप के
पर प्रताप निज दृढ़ता ही पर अटल है—"
कहा खानखाना ने कुछ गम्भीर हो—
"वामलोचने ! कर्मयोग-रत्त वीर को
मिलती सिद्धि सदा अपने सत्कर्म से
उसके कुछ संयोग स्वयं बन जायँगे
एसे, जिससे उसको मिले अभीष्ट फल।

सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन मे पला हुआ वह वीर है
सच 'प्रताप' को स्वयं मिलेगी सम्पदा
परमपिता की जो होगी शुभ कामना
तो वह मुझे बनावेगा अपना कभी
परिचारक साधन मे इस सत्कार्य्य के।"

● ● ●

तारा-हीरक-हार पहन कर, चद्रमुख—
दिखलाती, उतरी आती थी चाँदनी
(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से
अकबर के साम्राज्य भवन के द्वार से
निकल रही थी लपट सुगन्ध सनी हुई
बसरा के 'गुलाब' से वासित हो रहा,
भारत का सुख शीत पवन, जैसे कही
मिले विलास नवीन विवेकी हृदय से
राज-भवन मे मणिमय दीपाधार सब
स्वयं प्रकाशित होते थे, आलोक भी
फैल रहा था, स्वच्छ सुविस्तृत भवन में
कृत्रिम मणिमय लता, भित्ति पर जो बनी
नव वसन्त-सा उन्हे विमल आलोक ही
मुक्ताफलशालिनी बनाता था वहाँ,
कुसुम-कली की मालायें थी झूमती
तोरण-बंदनवार हरे हरे द्रुमपत्र के।
सुरभि पवन से सब कलियाँ खिलने लगी,
कृश मालाएं गजरे-सी अब हो गईं।

सज्ज सभागृह में सब अपने स्थान पर
बन्दी, चारण, प्रतिहारीगण थे खडे,
ढले हुए सुन्दर साँचे मे शिल्प के
पुतले-जैसे सजे हुये हों भवन में।

पुष्पाधार, सजाये कुसुमित क्यारियाँ,
मौन खडे थे सुन्दर मालाकार-से;
कृत्रिम भँवर न गूँज रहा था त्रास से।
सुन्दर मणिमय मंच मनोरम था लगा,
बैठे थे उपधान सहारे हिन्द के—
अकबर शाहंशाह चिबुक कर पर धरे।
अभिवादन कर, खडे रहे निर्दिष्ट निज—
स्थानो पर सब चतुर शिरोमणि मन्त्रिगण
उस प्रभावशाली सतेज दरबार मे
क्षत्रिय नरपतिगण भी सविनय थे झुके।

तब रहीमखाँ के प्रति रुख करके, चतुर—
अकबर ने कुछ हँस कर पूछा व्यग से—
"कहिए यहाँ आगरे की जलवायु से
स्वास्थ्य हुआ अब ठीक आपका या नही?"

कहा खानखाना ने सिर नीचे किये—
"शहंशाह अब भी कुछ वैसा है नही
जैसा अच्छा होना हूँ मै चाहता,
इसीलिए अब मेरी है यह प्रार्थना
मुझे हुक्म हो तो जाऊँ काश्मीर ही,
क्योकि वही जलवायु मुझे है स्वास्थ्यकर;
यही बताया है हकीम ने भी मुझे।"

अकबर ने फिर कहा—"भला यह तो कहो,
क्योंकर ऐसा स्वास्थ्य तुम्हारा हो गया?"

कहा खानदाना ने फिर कुछ नम्र हो—
'बस हुजूर, मुझसे न! वही कहलाइए
जिसे आपसे कहा नही मै चाहता।
क्षमा कीजिये। यदि आज्ञा होगी कि हाँ,
कहो! मुझे फिर सच कहना ही पड़ेगा।"

अकबर ने तब कहा—"सत्य निर्भय कहो।"

कहा खानखा ने झुक कर—"जिस दिवस
मुझे बनाकर सैनप भेजा आपने

वीरभूमि मेवाड़-विजय के हेतु, हाँ—
उस दिन सचमुच मुझे असीम प्रसन्नता
हुई कि, मै भी देखूँगा उस वीर को,
जो अब तक होकर अबाध्य सम्राट का
करता है सामना बड़े उत्साह से !
सचमुच शाहंशाह एक ही शत्रु वह
मिला आपको है कुछ ऊँचे भाग्य से;
पर्वत की कन्दरा महल है, बाग है—
जगल ही आहार—घास, फल-फूल है
सच्चा हृदय महायक, उसके साथ है।
मुगल-वाहिनी से होता जब सामना
भिड़ जाना सन्मुख उसका कर्त्तव्य था।
सुकुमारी कन्या औ' बालक का कभी
छिन जाता आहार बना जो घास से।
वे भी जब है अश्रु बहाते नही तो
होता है पाषाण-हृदय द्रवमय कभी।
तिस पर भी उसके इस हृदय-महत्त्व का
कैसे मे वर्णन कर सकता हूँ प्रभो।
राजकुँवर ने बेगम को बन्दी किया
फिर भी सादर उसे भेज कर पास मे
मेरे, मुझको कैसा है लज्जित किया,
मनोवेदना से मै व्याकुल हो उठा,
इसीलिये यह रोग हुआ है असल में।
इससे छुटकारे का एक उपाय है—
आज्ञा हो तो मै भी कुछ बिनती करूँ।"
हँसे और बोले अकबर—"हाँ हाँ कहो,
सब मुझको है विदित, हुआ जो-जो वहाँ।"

कहा खानखाना ने—"राणा ने कभी—
किया नही आक्रमण आप के राज्य पर।
अपने छोटे राज्य मात्र से तुष्ट है,
और किसी से भड़क रही हो शत्रुता
तो वह अपने भुजबल से जो कर सके
करे, शिथिल होगा। तो भी बल आपका

बढा रहेगा । ऐसे सज्जन व्यक्ति से
आप क्यों न अपना महत्त्व दिखलाइए ।
सच कहिए, क्या ऐसे उन्नत-हृदय को
दुख देना है अच्छा ईश्वर-नीति में ?
केवल चुप हो जाना हीं है आपका—
सन्धि शाति के मगलघोष-समान ही,
दो महत्त्वमय हृदय एक जब हो गये
फैलेगा फिर वह महान सौरभ यहाँ
जिसके सुखमय गध-प्रेम में मत्त हो,
भारत के नर गावेंगे यश आपका।"
अकबर ने फिर कहा—"बात यह ठीक है,
अब न लड़ाई राणा से उपयुक्त है।
भेजो आज्ञापत्र शीघ्र उस सैन्य को,
सब जल्दी ही चले आयँ अजमेर मे।"

कहा खानखाना ने—"हे उन्नत हृदय—
भारत के सम्राट ! दयामय आपकी
सुयश-लता का बीज उर्वरा-भूमि में
शांति-वारि से सिञ्चित हो, फलवती हो।
अब न काम है जाने का काश्मीर को
इन चरणो की सेवा ही भू-स्वर्ग है।"

●

कानन कुसुम

(संवत् १९६६ से १९७४ तक की स्फुट कवितायें)

प्रभो !

विमल इन्दु की विशाल किरणें
प्रकाश तेरा बता रही है
अनादि तेरी अनन्त माया
जगत् को लीला दिखा रही है

प्रसार तेरी दया का कितना
देखना हो तो देख सागर
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे
तरंगमालायें गा रही है

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना
वो देख सकता है चद्रिका को
तुम्हारे हँसने कि धुन मे नदियाँ
निनाद करती हि जा रही है
विशाल मन्दिर कि यामिनी में
जिसे निरखना हो दीपमाला
तो तारिकाओ कि ज्योति उसका
पता अनूठा बता रही है

प्रभो ! प्रेममय प्रकाश तुम हो
प्रकृति-पद्मिनी के अंशुमाली
असीम उपवन के तुम हो माली
धरा बराबर जता रही है
जो तेरी होवे दया दयानिधि
तो पूर्ण होते सकल मनोरथ
सभी ये कहते पुकार करके
यही तो आशा दिला रही है

•

वन्दना

जयति प्रेम-निधि ! जिसकी करुणा नौका पार लगाती है
जयति महासंगीत ! विश्व-वीणा जिसकी ध्वनि गाती है
कादम्बिनी कृपा की जिसकी सुधा-नीर बरसाती है
भव-कानन की धरा हरित हो जिससे शोभा पाती है
निर्विकार लीलामय ! तेरी शक्ति न जानी जाती है
ओतप्रोत हो तो भी सबकी वाणी गुण-गण गाती है
गद्गद्-हृदय-निःसृता यह भी वाणी दौड़ी जाती है
प्रभु ! तेरे चरणों में पुलकित होकर प्रणति जताती है

नमस्कार

जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है
जिसके है आराम प्रकृति-कानन ही सारे
जिस मंदिर के दीप इन्दु, दिनकर औ' तारे
उस मंदिर के नाथ को, निरुपम निरमय स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व-गृहस्थ को

●

मन्दिर

जब मानते है व्यापी जलभूमि में अनिल में
तारा-शशांक में भी आकाश में अनल में
फिर क्यों ये हठ है प्यारे ! मन्दिर में वह नही है
वह शब्द जो 'नही' है, उसके लिए नही है

जिस भूमि पर हजारों है सीस को नवाते
परिपूर्ण भक्ति से वे उसको वहीं बताते
कहकर सहस्र मुख से जब है वही बताता
फिर मूढ चित्त को है यह क्यो नहीं सुहाता

अपने हि आत्मा को सब कुछ जो जानते हो
परमात्मा में उसमें नहिं भेद मानते हो
जिस पंचतत्त्व से है यह दिव्य देह-मन्दिर
उनमें से ही बना है यह भी तो देव-मन्दिर

उसका विकास सुन्दर फूलों मे देख करके
बनते हो क्यो मधुव्रत आनन्द-मोद भरके
इसके चरण-कमल से फिर मन को क्यो हटाते
भव-ताप-दग्ध हिय को चन्दन नही चढ़ाते

प्रतिमा हि देख करके क्यों भाल में है रेखा
निर्मित किया किसी ने इसको, यही है लेखा
हर-एक पत्थरों मे वह मूर्त्ति ही छिपी है
शिल्पी ने स्वच्छ करके दिखला दिया, वही है

इस भाव को हमारे उसको तो देख लीजे
धरता है वेश वोही जैसा कि उसको दीजे
यों ही अनेक-रूपी बनकर कभी पुजाया
लीला उसी की जग में सबमें वही समाया

मस्जिद, पगोडा, गिरजा, किसको बनाया तूने
सब भक्त-भावना के छोटे-बड़े नमूने
सुन्दर वितान कैसा आकाश भी तना है
उसका अनन्त-मन्दिर, यह विश्व ही बना है

करुण क्रन्दन

करुणा-निधे, यह करुण क्रन्दन भी जरा सुन लीजिये
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिये

हम मानते, हम है अधम, दुष्कर्म के भी छात्र हैं
हम है तुम्हारे, इसलिये फिर भी दया के पात्र हैं

सुख में न तुमको याद करता, है मनुज की गति यही
पर नाथ, पडकर दु:ख में किसने पुकारा है नहीं

सन्तुष्ट बालक खेलने से तो कभी थकता नही
कुछ क्लेश पाता याद पड जाते पिता-माता वही

संसार के इस सिन्धु मे उठती तरगे घोर है
तमसी कुहू की है निशा, कुछ सूझता नहिं छोर है

झंझट अनेकों प्रबल झंझा सदृश है अतिवेग में
है बुद्धि चक्कर में भॅवरसी घूमती उद्वेग में

गुण जो तुम्हारा पार करने का उसे विस्मृत न हो
वह नाव मछली को खिलाने की प्रभो बसी न हो

हे गुणाधार, तुम्ही बने हो कर्णधार विचार लो
है दूसरा अब कौन, जैसे बने नाथ! सम्हार लो

ये मानसिक विप्लव प्रभो, जो हो रहे दित-रात है
कुविचार-क्रूरों के कठिन कैसे कुटिल आघात है

हे नाथ, मेरे सारथी बन जाव मानस-युद्ध में
फिर तो ठहरने से बचेगे एक भी न विरुद्ध मे

●

महाक्रीड़ा

सुन्दरि प्राची, विमल उषा से अपना मुख धोने को है
पूर्णिमा की रात्रि का शशि अस्त अब होने को है

तारकों का निकर अपनी कान्ति सब खोने को है
स्वर्ण-जल से अरुण भी आकाश-पट धोने को है

गा रहे है ये विहंगम किसके आने की कथा
मलय-मारुत भी चला आता है हरने को व्यथा

चन्द्रिका हटने न पाई, आ गई ऊषा भली
कुछ विकसने सी लगी है कंज की कोमल कली

हैं लतायें सब खड़ी क्यों कुसुम की माला लिये
क्यों हिमांशु कपूर सा है तरिका-अवली लिये

अरुण की आभा अभी प्राची में दिखलाई पड़ी
कुछ निकलने भी लगी किरणों की सुन्दर सी लड़ी

करुणा-कुञ्ज

क्लान्त हुआ सब अंग शिथिल क्यों वेष है
मुख पर श्रम-सीकर का भी उन्मेष है
भारी बोझा लाद लिया न सँभार है
छल-छालों से पैर छिले न उबार है

चले जा रहे वेग भरे किस ओर को
मृग-मरीचिका तुम्हे दिखाती छोर को
किन्तु नही हे पथिक ! वहाँ जल है नही
बालू के मैदान सिवा कुछ है नही

ज्वाला का यह ताप तुम्हे झुलसा रहा
मनो-मुकुल मकरन्द-भरा कुम्हला रहा
उसके सिंचन-हेतु न यह उद्योग है
व्यर्थ परिश्रम करो न यह उपयोग है

कुसुम-वाहना प्रकृति मनोज्ञ वसन्त है
मलयज मारुत प्रेम-भरा छविवन्त है
खिली कुसुम की कली अलीगण घूमते

किन्तु तुम्हे विश्राम कहाँ है नाम को
केवल मोहित हुए लोभ से काम को
ग्रीष्मासान है बिछा तुम्हारे हृदय मे
कुसुमाकर पर ध्यान नही इस समय मे

अविरल आँसू-धार नेत्र से बह रहे
वर्षा-ऋतु का रूप नही तुम लख रहे
मेघ-वाहना पवन-मार्ग मे विचरती
सुन्दर श्रम-लव-विन्दु धरा को वितरती

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कही
तुम्हे सुघर ये दृश्य दिखाते है नही
शरद-शर्वरी शिशिर-प्रभजन-वेग में
चलना है अविराम तुम्हे उद्वेग मे

श्रम-कुहेलिका से दृग-पथ भी भ्रान्त है
है पग-पग पर ठोकर, पर नहि शान्त है
व्याकुल होकर, चलते हो क्यो मार्ग मे
छाया क्या है नही कहीं इस मार्ग में

त्रस्त पथिक, देखो करुणा विश्वेश की
खड़ी दिलाती तुम्हे याद हृदयेश की
शीतातप की भीति सता सकती नही
दुख तो उसका पता न पा सकता कही

श्रान्त शान्ति पथिकों का जीवन-मूल है
इसका ध्यान मिटा देना सब भूल है
कुसुमित मधुमय जहाँ सुखद अलिपुञ्ज है
शान्ति-हेतु वह देखो 'करुणा-कुञ्ज' है

•

प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रही,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड में
नील गगन सा शान्त हृदय भी हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से
अहा ! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)—

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें,
खुली आँख, आनन्द-दृश्य दिखला दिया
मनोवेग मधुकर सा फिर तो गूँजके,
मधुर मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा

वर्षा होने लगी कुसुम-मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द में
कैसी छवि ने बाल अरुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग-रञ्जित किया

सद्य:स्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ मे
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया,
विश्व विमल आनन्द भवन सा बन रहा
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था

नव वसंत

पूर्णिमा की रात्रि सुषमा स्वच्छ सरसाती रही
इन्दु की किरणे सुधा की धार बरसाती रही
युग्म याम व्यतीत है आकाश तारो से भरा
हो रहा प्रतिबिम्ब पूरित रम्य यमुना-जल हरा

कूल पर का कुसुम-कानन भी महाकमनीय है
शुभ्र प्रासादावली की भी छटा रमणीय है
है कही कोकिल सघन सहकार को कूजित किये
और भी शतपत्र को मधुकर कही गुंजित किये

मधुर मलयानिल महक की मौज में मदमत्त है
लताललिता से लिपटकर ही महान प्रमत्त है
क्यारियों के कुसुम-कलियों को कभी खिझला दिया
सहज झोंके से कभी दो डाल को हि मिला दिया

घूमता फिरता वहाँ पहुँचा मनोहर कुञ्ज मे
थी जहाँ इक सुन्दरी बैठी महा सुख-पुञ्ज मे
धृष्ट मारुत भी उड़ा अञ्चल तुरत चलता हुआ
माधवी के पत्र-कानो को सहज मलता हुआ

ज्यो उधर मुख फेरकर देखा हटाने के लिये
आ गया मधुकर इधर उसको सताने के लिये
कामिनी इन कौतुको से कब बहलने ही लगी
किन्तु अन्यमनस्क होकर वह टहलने ही लगी

ध्यान मे आया मनोहर प्रिय-वदन सुख-मूल वह
भ्रान्त नाविक ने तुरन्त पाया यथेप्सित कूल वह
नील नीरज नेत्र का तब तो मनोज्ञ विकास था
अग-परिमल-मधुर-मारुत का महान विलास था

मंजरी सी खिल गई सहकार की बाला वही
अलक-अवली हो गई सुमिलिन्द की माला वही
शान्त हृदयाकाश स्वच्छ वसत-राका से भरा
कल्पना का कुसुम-कानन काम्य कलियो से भरा

चुटकियाँ लेने लगी तब प्रणय की कोरी कली
मजरी कम्पित हुई सुन कोकिला की काकली
सामने आया युवक इक प्रियतमे ! कहता हुआ
विटप-बाहु सुपाणि-पल्लव मधुर प्रेम जता छुआ

कुमुद विकसित हो गये जब चन्द्रमा वह सज उठा
कोकिला-कलरव समान नवीन नूपुर बज उठा
प्रकृति और वसंत का सुखमय समागम हो गया
मजरी रसमत्त मधुकर-पुञ्ज का क्रम हो गया

सौरभित सरसिज युगल एकत्र होकर खिल गये
लोल अलकावलि हुई मानो मधुव्रत मिल गये
श्वास मलयज पवन सा आनन्दमय करने लगा
मधुर मिश्रण युग-हृदय का भाव रस भरने लगा

दृश्य सुन्दर हो गये, मन में अपूर्व विकास था
आन्तरिक औ' बाह्य सबमें नव वसंत-विलास था

•

मर्म-कथा

प्रियतम ! वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए
प्रेम-कंज-किजल्क शुष्क कैसे हुए
हम ! तुम ! इतना अन्तर क्यो कैसे हुआ
हा हा प्राण-अधार शत्रु कैसे हुआ
कहे मर्म-वेदना दूसरे से अहो—
"जाकर उससे दुःख-कथा मेरी कहो"
नही कहेंगे, कोप सहेगे धीर हो
दर्द न समझो, क्या इतने बेपीर हो
चुप रहकर कह दूँगा मै सारी कथा
बीता है, हे प्राण ! नई जितनी व्यथा
मेरा चुप रहना बुलवावेगा तुम्हे
मैं न कहूँगा, वह समझावेगा तुम्हे
जितना चाहो, शान्त बनो, गम्भीर हो
खुल न पड़ो, तब जानेंगे, तुम धीर हो
रूखे ही तुम रहो, बूँद रस की झरें
हम तुम जब है एक, लोग बकते फिरें

●

हृदय-वेदना

सुनो प्राण-प्रिय, हृदय-वेदना विकल हुई क्या कहती है
तव दु सह यह विरह रात दिन जैसे सुख से सहती है
मै तो रहता मस्त रात दिन पाकर यही मधुर पीड़ा
वह होकर स्वच्छन्द तुम्हारे साथ किया करती क्रीड़ा

हृदय-वेदना मधुर मूर्त्ति तब सदा नवीन बनाती है
तुम्हे न पाकर भी छाया में अपना दिवस बिताती है
कभी समझकर रुष्ट तुम्हे वह करके विनय मनाती है
तिरछी चितवन भी पा करके तुरत तुष्ट हो जाती है

जब तुम सदय नवल नीरद से मन-पट पर छा जाते हो
पीड़ास्थल पर शीतल बनकर तब आँसू बरसाते हो
मूर्त्ति तुम्हारी सदय और निर्दय दोनों ही भाती है
किसी भाँति भी पा जाने पर तुमको यह सुख पाती है

कभी कभी हो ध्यानवंचिता बड़ी विकल हो जाती है
क्रोधित होकर फिर यह हमको प्रियतम ! बहुत सताती है
इसे तुम्हारा एक सहारा, किया करो इससे क्रीड़ा
मैं तो तुमको भूल गया हूँ पाकर प्रेममयी पीड़ा

●

ग्रीष्म का मध्याह्न

विमल व्योम मे देव दिवाकर अग्नि-चक्र से फिरते है
किरण नही, ये पावक के कण जगती-तल पर गिरते हैं
छाया का आश्रय पाने को जीव-मंडली गिरती है
चण्ड दिवाकर देख सती-छाया भी छिपती फिरती है
प्रिय वसंत के विरह-ताप से धरा तप्त हो जाती है
तृष्णा होकर तृषित प्यास-ही-प्यास पुकार मचाती है
स्वेद धूलि-कण धूप-लपट के साथ लिपटकर मिलते है
जिनके तार व्योम से बँधकर ज्वाला-ताप उगिलते है
पथिक देख आलोक वही फिर कुछ भी देख न सकता है
होकर चकित नही आगे तब एक पैर चल सकता है
निर्जन कानन में तरुवर जो खड़े प्रेत से रहते है
डाल हिलाकर हाथों से वे जीव पकडना चाहते है
देखो, वृक्ष शाल्मली का यह महा भयावह कैसा है
आतप-भीत विहङ्गम-कुल का क्रन्दन इस पर कैसा है
लू के झोके लगने से जब डाल सहित यह हिलता है
कुम्भकर्ण सा कोटर-मुख से अगणित जीव उगिलता है
हरे हरे पत्ते वृक्षो के तापित हो मुरझाते है
देखादेखी सूख सूखकर पृथ्वी पर गिर जाते है
धूल उड़ाता प्रबल प्रभजन उनको साथ उड़ाता है
अपने खड़ खड़ शब्दो को भी उनके साथ बढ़ाता है

●

जलद्-आह्वान

शीघ्र आ जाओ जलद ! स्वागत तुम्हारा हम करे
ग्रीष्म से सन्तप्त मन के ताप को कुछ कम करे
है धरित्री के उरस्थल में जलन तेरे बिना
शून्य था आकाश तेरे ही जलद ! घेरे विना
मानदण्ड समान जो संसार को है मापता
लूह की पंचाग्नि जो दिन रात ही है तापता
जीव जिनके आश्रमो की सी गुहा मे मोद से
वास करते, खेलते है बालवृन्द विनोद से
पत्रहीना वल्लरी जैसी जटा बिखरी हुई
उत्तरीय समान जिन पर धूप है निखरी हुई
शैल वे साधक सदा जीवन-सुधा को चाहते
ध्यान में काली घटा के नित्य ही अवगाहते
धूलिधूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिये
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिये
जल रही छाती, तुम्हारा प्रेम-वारि मिला नही
इसलिये उसका मनोगत-भाव-फूल खिला नही
नेत्र-निर्झर सुख-सलिल से भरें, दुख सारे भगे
शीघ्र आ जाओ जलद ! आनन्द के अंकुर उगे

●

भक्ति-योग

दिननाथ अपने पीत कर से थे सहारा ले रहे
उस शृंग पर अपनी प्रभा मलिना दिखाते ही रहे
वह रूप पतनोन्मुख दिवाकर का हुआ पीला अहो
भय और व्याकुलता प्रकट होती नही किसकी कहो
जिन पत्तियों पर रश्मियाँ आश्रय ग्रहण करती रही
वे पवन ताड़ित हो सदा ही दूर को हटती रही
सुख के सभी साथी दिखाते है अहो संसार मे
हो डूबता उसको बचाने कौन जाता धार मे
कुल्या उसी गिरि-प्रान्त मे बहती रही कलनाद से
छोटी लहरियाँ उठ रही थी आन्तरिक आह्लाद से
पर शान्त था वह शैल जैसे योगमग्न विरक्त हो
सरिता बनी माया उसे कहती कि 'तुम अनुरक्त हो'
वे वन्य वीरुध कुसुम परिपूरित भले थे खिल रहे
कुछ पवन के वश में हुए आनन्द से थे मिल रहे
देखो, वहाँ वह कौन बैठा है शिला पर, शान्त है
है चन्द्रमा सा दीखता आसन विमलविधु कान्त है

स्थिर दृष्टि है जल-बिन्दु-पूरित, भाव मानस का भरा
उन अश्रुकण में एक भी मन में न इस भव से डरा
वह स्वच्छ शरद-ललाट चिन्तित सा दिखाई दे रहा
पर एक चिन्ता थी वही जिसको, हृदय था दे रहा

था बद्ध-पद्मासन, हृदय अरविन्द सा था खिल रहा
वह चिन्त्य मधुकर भी मधुर गुंजार करता मिल रहा
प्रतिक्षण लहर ले बढ़ रहे थे भाव-निधि मे वेग से
इस विश्व के आलोकमणि की खोज मे उद्वेग से

प्रति श्वास आवाहन किया करता रहा उस इष्ट को
जो स्पर्श कर लेता कभी था पुण्य प्रेम अभीष्ट को
परमाणु भी सब स्तब्ध थे, रोमांच भी था हो रहा
था स्फीत वक्षस्थल किसी के ध्यान मे होता रहा

आनन्द था उपलब्ध की सुख-कल्पना में मिल रहा
कुछ दु:ख भी था देर होने से वही अनमिल रहा
दुष्प्राप्य की हो प्राप्ति मे हाँ बद्ध जीवनमुक्त था
कहिये उसे हम क्या कहे, अनुरक्त था कि विरक्त था

कुछ काल तक वह जब रहा ऐसे मनोहर ध्यान में
आनन्द देती सुन पड़ी मजीर की ध्वनि कान में
नव स्वच्छ सन्ध्या तारिका में से अभी उतरी हुई
उस भक्त के ही सामने आकर खड़ो पुतरी हुई

वह मूर्त्ति बोली—'भक्तवर ! क्यो यह परिश्रम हो रहा
क्यों विश्व का आनन्द मदिर आह ! तू यों खो रहा
यह छोड़कर सुख है पड़ा किसके कुहक के जाल मे
सुख-लेख मै तो पढ़ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल में

सुन्दर सुहृद सम्पति सुखदा सुन्दरी ले साथ में
संसार यह सब सौपना है चाहता तव हाथ में
फिर भागते हो क्यों ? न हटता यों कभी निर्भीक है
ससार तेरा कर रहा स्वागत, 'चलो सब ठीक है'

उन्नत हुए भ्रूयुगम फिर तो बंक ग्रीवा भी हुई
फिर चढ गई आपादमस्तक लालिमा दौड़ी हुई
'है सत्य सुन्दरि ! तव कथन, पर कुछ सुनो मेरा कहा'
आनन्द में विह्वल हुए से भक्त ने खुलकर कहा

जब ये हमारे है, भला फिर किसलिये हम छोड़ दें
दुष्प्राप्य को, जो मिल रहा सुखसूत्र उसको तोड़ दें
जिसके बिना फीके रहें सारे जगत-सुख-भोग ये
उसको तुरत ही त्याग करने को बताते लोग ये

उस ध्यान कें दो बूँद आँसू ही हृदय-सर्वस्व हैं
जिस नेत्र में हो वे नही समझो कि वे ही निःस्व है
उस प्रेममय सर्वेश का सारा जगत् औ' जाति है
संसार ही है मित्र मेरा, नाम को न अराति है

फिर, कौन अप्रिय है मुझे, सुख दु ख यह सब कुछ नही
केवल उसी की है कृपा आनन्द और न कुछ कही
हमको रुलाता है कभी, हाँ, फिर हँसाता है कभी
जो मौज मे आता जभी उसके, अहो करता तभी

वह प्रेम का पागल बड़ा आनन्द देता है हमे
हम रूठते उससे कभी, फिर भी मनाता है हमे
हम प्रेम-मतवाले बने, अब कौन मत-वाले बने
मत-धर्म सबको ही बहाया प्रेमनिधि-जल मे घने

आनन्द-आसन पर सुधा-मन्दाकिनी में स्नात हो
हम और वह बैठे हुए है प्रेम-पुलकित-गात हो
यह देख ईर्ष्या हो रही है सुन्दरी! तुमको अभी
दिन बीतने दो दो कहाँ, फिर एक देखोगी कभी

फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमी, हम वह हुए
तब तुम न मुझसे भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गये
यह सुन हँसी वह मूर्त्ति करुणा की हुई कादम्बिनी
फिर तो झड़ी सी लग गई आनन्द के जल की घनी

•

रजनी-गंधा

दिनकर अपनी किरण-स्वर्ण से रञ्जित करके
पहुँचे प्रमुदित हुए प्रतीची पास सँवर के
प्रिय-संगम से सुखी हुई आनन्द मानती
अरुण-राग-रञ्जित कपोल से शोभा पाती

दिनकर-कर से व्यथित बिताया नीरस वासर
वही हुए अति मुदित विहगम अवसर पाकर
कोमल कलरव किया बड़ा आनंद मनाया
किया नीड़ में वास, जिन्हे निज हाथ बनाया

देखो मन्थर गति से मारुत मचल रहा है
हरी-हरी उद्यान-लता मे बिछल रहा है
कुसुम सभी खिल रहे भरे मकरन्द मनोहर
करता है गुञ्जार पान करके रस मधुकर

देखो वह है कौन कुसुम कोमल डाली में
किये सम्पुटित वदन दिवाकर-किरणाली में
गौर अङ्ग को हरे पल्लवों बीच छिपाती
लज्जावती मनोज्ञ लता का दृश्य दिखाती

मधुकर-गण का पुञ्ज नही इस ओर फिरा है
कुसुमित कोमल कुंज बीच वह अभी घिरा है
मलयानिल मदमत्त हुआ इस ओर न आया
इसके सुन्दर सौरभ का कुछ स्वाद न पाया

तिमिर-भार फैलाती सी रजनी यह आई
सुन्दर चन्द्र अमन्द हुआ प्रकटित सुखदाई
स्पर्श हुआ उस लता लजीली से विधु-कर का
विकसित हुई प्रकाश किया निज दल मनहर का

देखो देखो, खिली कली अलि-कुल भी आया
उसे उड़ाया मारुत ने पराग जो पाया
सौरभ विस्तृत हुआ मनोहर अवसर पाकर
म्लान वदन विकसाया इस रजनी ने आकर

कुलबाला सी लजा रही थी जो वासर में
रूप अनूपम सजा रही है वह सुखसर मे
मधुमय कोमल सुरभि पूर्ण उपवन जिससे है
तारागण की ज्योति पड़ी फीकी इससे है

रजनी में यह खिली रहेगी किस आशा पर
मधुकर का भी ध्यान नही है क्या पाया फिर
अपने सदृश समूह तारिका का रजनी-भर
निर्निमेष यह देख रही है कैसे सुख पर

कितना है अनुराग भरा इस छोटे तन मे
निशा-सखी का प्रेम भरा है इसके मन मे
'रजनी-गधा' नाम हुआ है सार्थक इसका
चित्त प्रफुल्लित हुआ प्राप्त कर सौरभ जिसका

●

अरुण अभ्युदय से हो मुदित मन प्रशान्त सरसी में खिल रहा है
प्रथम पत्र का प्रसार करके सरोज अलि-गन से मिल रहा है
गगन में सन्ध्या की लालिमा से किया संकुचित वदन था जिसने
दिया न मकरन्द प्रेमियो को गले उन्ही के वो मिल रहा है
तुम्हारा विकसित वदन बताता, हँसे मित्र को निरख के कैसे
हृदय निष्कपट का भाव सुन्दर सरोज ! तुझ पर उछल रहा है
निवास जल ही में है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते
'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे'—सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है
उन्ही तरङ्गों में भी अटल हो, जो करना बिचलित तुम्हें चाहती
'मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो'—ये भाव तुममें अटल रहा है
तुम्हें हिलावे भी जो समीरन, तो पावे परिमल प्रमोद-पूरित
तुम्हारा सौजन्य है मनोहर, तरंग कहकर उछल रहा है
तुम्हारे केशर से ही सुगन्धित परागमय हो रहे मधुव्रत
'प्रसाद' विश्वेश का हो तुम पर यही हृदय से निकल रहा है

●

मलिना

नव-नील पयोधर नभ में काले छाये
　　भर भर कर शीतल जल मतवाले धाये
लहराती ललिता लता सुबाल सजीली
　　लहि संग तरुन के सुन्दर बनी सजीली
फूलों से दोनों भरी डालियाँ हिलती
　　दोनों पर बैठी खग की जोड़ी मिलती
बुलबुल कोयल हैं मिलकर शोर मचाते
　　बरसाती नाले उछल उछल बल खाते
वह हरी लताओं की सुन्दर अमराई
　　बन बैठी है सुकुमारी सी छविछाई
हर ओर अनूठा दृश्य दिखाई देता
　　सब मोती ही से बना दिखाई देता
वह सघन कुञ्ज सुख-पुञ्ज भ्रमर की आली
　　कुछ और दृश्य है सुषमा नई निराली
बैठी है वसन मलीन पहिन इक बाला
　　पुरइनपत्रों के बीच कमल की माला

उस मलिन वसन में अंगप्रभा दमकीली
ज्यों धूसर नभ में चन्द्रकला चमकीली
पर हाय! चन्द्र को घन ने क्यो है घेरा
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीब अँधेरा
उस रस-सरवर मे क्यों चिन्ता की लहरी
चंचल चलती है भावभरी है गहरी
कल-कमल कोश पर अहो! पड़ा क्यो पाला
कैसी हाला ने किया उसे मतवाला
किस धीवर ने यह जाल निराला डाला
सीपी से निकली है मोती की माला
उत्ताल तरग पयोनिधि मे खिलती है
पतली मृणालवाली नलिनी हिलती है
नहि वेग-सहित नलिनी को पवन हिलाओ
प्यारे मधुकर से उसको नेक मिलाओ
नव चंद अमंद प्रकाश लहे मतवाली
खिलती है, उसको करने दो मनवाली

●

जल-विहारणी

चन्द्रिका दिखता रही है क्या अनूपम सी छटा
खिल रही है कुसुम की कलियाँ सुगन्धों की घटा
सब दिगन्तों में जहाँ तक दृष्टि-पथ की दौड़ है
सुधा का सुन्दर सरोवर दीखता बेजोड़ है
रम्य कानन की छटा तट पर अनोखी देख लो
शान्त है, कुछ भय नही कुछ समय तक मत टलो
अन्धकार घना भरा है लता और निकुंज मे
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाता है उन्हे सुख-पुंज मे
शैल क्रीड़ा का बनाया है मनोहर काम ने
सुधाकण से सिक्त गिरिश्रेणी खड़ी है सामने
प्रकृति का मनमुग्धकारी गूँजता सा गान है
शैल भी सिर को उठाकर खड़ा हरिण समान है
गान में कुछ बीन की सुन्दर मिली झनकार है
कोकिला की कूक है या भृंग का गुंजार है
स्वच्छ-सुन्दर नीर के चचल तरंगो में भली
एक छोटी-सी तरी मनमोहिनी आती चली

पंख फैलाकर विहंगम उड़ रहा आकाश में
या महा इक मत्स्य है, जो खेलता जल-वास में
चन्द्रमण्डल की सभा उस पर दिखाई दे रही
साथ ही में शुक्र की शोभा अनूठी ही रही
पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरंगों मे हिले
मंजु सौरभ-पुंज युग ये कंज कैसे है खिले
या प्रशान्त विहायसी में शोभते है प्रात के
तारिका-युग शुभ्र है आलोक-पूरन गात के
या नवीना कामिनी की दीखती जोड़ी भली
एक विकसित कुसुम है तो दूसरी जैसे कली
जल-विहार विचारकर विद्याधरों की बालिका
आ गई है क्या ? कि ये है इन्दु-कर की मालिका
एक की तो और हो बाँकी अनोखी आन है
मधुर-अधरों में मनोहर मन्द-मृदु मुसक्यान है
इन्दु में उस इन्दु के प्रतिबिम्ब के सम है छटा
साथ मे कुछ नील मेघो की घिरी सी है घटा
नील नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे
बिना स्वातीविन्दु विद्रुम सीप मे मोती रहे
रूपसागर-मध्य रेखा-वलित कम्बुक माल है
कज एक खिला हुआ है, युगल किन्तु मृणाल है
चारु-तारा-वलित अम्बर बन रहा अम्बर अहा
चन्द्र उसमें चमकता है, कुछ नही जाता कहा
कंज कर की उँगलियाँ हैं सुन्दरी के तार मे
सुन्दरी पर एक कर है और ही कुछ तार मे
चन्द्रमा भी मुग्ध मुख-मण्डल निरखता ही रहा
कोकिला का कंठ कोमल राग में ही भर रहा
इन्दु सुन्दर व्योम मध्य प्रसार कर किरणावली
क्षुद्र तरल तरंग को रजताभ करता है छली
प्रकृति अपने नेत्र-तारा से निरखती है छटा
घिर रही है घोर इक आनन्द-घन की सी घटा

●

ठहरो

वेगपूर्ण है अश्व तुम्हारा पथ मे कैसे
कहाँ जा रहे मित्र ! प्रफुल्लित प्रमुदित जैसे
देखो, आतुर दृष्टि किये वह कौन निरखता
दयादृष्टि निज डाल उसे नहिं कोई लखता
'हट जाओ' की हुंकार से होता है भयभीत वह
यदि दोगे उसको सान्त्वना, होगा मुदित सप्रीत वह
उसे तुम्हारा आश्रय है, उसको मत भूलो
अपना आश्रित जान गर्व से तुम मत फूलो
कुटिला भृकुटी देख भीत कम्पित होता है
डरने पर भी सदा कार्य मे रत होता है
यदि देते हो कुछ भी उसे, अपमान न करना चाहिये
उसको सम्बोधन मधुर से तुम्हे बुलाना चाहिये
तनक न जाओ मित्र ! तनिक उसकी भी सुन लो
जो कराहता खाट धरे, उसको कुछ गुन लो
कर्कश स्वर की बोल कान मे न सुहाती है
मीठी बोली तुम्हें नही कुछ भी आती है
उसके नेत्रों में अश्रु है, वह भी बड़ा समुद्र है
अभिमान-नाव जिसपर चढे वह तो अति ही क्षुद्र है

वह प्रणाम करता है, तुम नहिं उत्तर देते
क्यों क्या वह है जीव नही जो रुख नहिं देते
कैसा यह अभिमान, अहो कैसी कठिनाई
उसने जो कुछ भूल किया, वह भूलो भाई
उसका यदि वस्त्र मलीन है, पास बिठा सकते नही
क्या उज्ज्वल वस्त्र नवीन इक उसे पिन्हा सकते नही
कुंचित है भ्रू-युगल बदन पर भी लाली है
अधर प्रस्फुरित हुआ म्यान असि से खाली है
डरता है वह तुम्हे देख, निज कर को रोको
उस पर कोई वार करे तो उसको टोको
है भीत जो कि संसार से, असि नहिं है उनके लिये
है उसे तुम्हारी सान्त्वना नम्र बनाने के लिये

•

बाल-क्रीड़ा

हँसते हो तो हँसो खूब, पर लोट न जाओ
हँसते-हँसते आँखों से मत अश्रु बहाओ
ऐसी क्या है बात? नहीं जो सुनते मेरी
मिली तुम्हें क्या कहो कहीं आनँद की ढेरी
ये गोरे-गोरे गाल हैं लाल हुए अति मोद से
क्या क्रीड़ा करता है हृदय किसी स्वतंत्र विनोद से
उपवन के फल फूल तुम्हारा मार्ग देखते
काँटे ऊँचे नही तुम्हे हैं एक लेखते
मिलने को उनसे तुम दौड़े ही जाते हो
इसमें कुछ आनन्द अनोखा पा जाते हो
माली बूढा बकबक किया करता है, कुछ बस नही
जब तुमने कुछ भी हँस दिया, क्रोध आदि सब कुछ नही
राजा हो या रंक एक ही सा तुमको है
स्नेह-योग्य है वही हँसाता जो तुमको है
मान तुम्हारा महामानियो से भारी है
मनोनीत जो बात हुई तो सुखकारी है
वृद्धों की गल्पकथा कभी होती जब प्रारम्भ है
कुछ सुना नही तो भी तुरत हँसने का आरम्भ है

●

कोकिल

नया हृदय है, नया समय है, नया कुज है
नये कमल-दल-बीच नया किंजल्क-पुज है
नया तुम्हारा राग मनोहर श्रुति सुखकारी
नया कण्ठ कमनीय, वाणि वीणा-अनुकारी
यद्यपि है अज्ञात ध्वनि कोकिल! तेरी मोदमय
तो भी मन सुनकर हुआ शीतल, शांत, विनोदमय
विकसे नवल रसाल मिले मदमाते मधुकर
आलबाल मकरन्द-विन्दु से भरे मनोहर
मंजु मलय-हिल्लोल हिलाता है डाली को
मीठे फल के लिये बुलाता जो माली को
बैठे किसलय-पुंज में उसके ही अनुराग से
कोकिल क्या तुम गा रहे, अहा रसीले राग से
कुमुद-बन्धु उल्लास सहित है नभ में आया
बहुत पूर्व से दौड़ा था, अब अवमर पाया
रुका हुआ है गगन-बीच इस अभिलाषा से
ले निकाल कुछ अर्थ तुम्हारी नव-भाषा से
गाओ नव उत्साह से, रुको न पल-भर के लिये
कोकिल! मलयज पवन में भरने को स्वर के लिये

●

सौन्दर्य

नील नीरद देखकर आकाश में
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है

क्या हुआ जो देखकर कमलावली
मत्त होकर गूँजती भ्रमरावली
कंटकों में जो खिला यह फूल है
देखते ही क्यों हृदय अनुकूल है

है यही सौन्दर्य में सुषमा बडी
लौह-हिय को आँच इसकी ही कडी
देखने के साथ ही सुन्दर बदन
दीख पड़ता है सजा सुखमय सदन

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ
प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ
रस हुआ रसना में उसके बोलकर
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर

लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को
देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को
किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौन्दर्य है
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है

जो पथिक होता कभी इस चाह में
वह तुरत ही लुट गया इस राह में
मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी

देख लो जी भर इसे देखा करो
इस कलम से चित्त पर रेखा करो
लिखते लिखते चित्र वह बन जायगा
सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायगा

•

एकान्त में

आकाश श्रीसम्पन्न था, नव नीरदो से था घिरा
सध्या मनोहर खेलती थी, नील पट तम का गिरा
यह चंचला चपला दिखाती थी कभी अपनी कला
ज्यों वीर वारिद की प्रभामय रत्नवाली मेखला
हर ओर हरियाली विटप-डाली कुसुम से पूर्ण है
मकरन्दमय, ज्यों कामिनी के नेत्र मद से घूर्ण है
यह शैल-माला नेत्र-पथ के सामने शोभा भली
निर्जर प्रशान्त सुशैल-पथ में गिरी कुसुमों की कली
कैसी क्षितिज में है बनाती मेघ-माला रूप को
गज, अश्व, सुरभी दे रही उपहार पावस भूप को
यह शैल-शृङ्ग विराग-भूमि बना सुवारिद-वृन्द की
कैसी झड़ी सी लग रही है स्वच्छ जल के बिन्दु की
स्रोतस्विनी हरियालियों में कर रही कलरव महा
ज्यों हरे घूँघट-ओट में है कामिनी हँसती अहा
किस ओर से यह स्रोत आता है शिखर में वेग से
जो पूर्ण करता वन कणो से हृदय को आवेग से

अविराम जीवन-स्रोत-सा यह बन रहा है शैल पर
उद्देश्य-हीन गँवा रहा है समय को क्यों फैलकर
कानन-कुसुम जो है विकसते स्वच्छ शीतल नीर से
किस कार्य के है वे भला पूछो किसी मति-धीर से
उत्तुङ्ग जो यह शृङ्ग है उसपर खडा तरुराज है
शाखावली की है महा सुषमा सुपुष्प-समाज है
होकर प्रमत्त खड़ा हुआ है यह प्रभञ्जन-वेग में
हाँ ! झूमता है चित्त के आमोद के आवेग में
यह शून्यता बन की बनी बेजोड़ पूरी शान्ति से
करुणा कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति से
चल चित्त चञ्चल वेग को तत्काल करता धीर है
एकान्त में विश्रान्त मन पाता सुशीतल नीर है
निस्तब्धता संसार की उस पूर्ण से है मिल रही
पर जड़ प्रकृति सब जीव में सब ओर ही अनमिल रही

•

दलित कुमुदिनी

अहो, यही कृत्रिम क्रीडासर-बीच कुमुदिनी खिलती थी
हरे लता-कु जो की छाया जिसको शीतल मिलती थी
इन्दु-किरण की फूलछडो जिसका मकरन्द गिराती थी
चण्ड दिवाकर की किरणें भी पता न जिसका पाती थी
रहा घूमता आसपास में कभी न मधुर मृणाल छुआ
राजहंस भी जिस सुन्दरता पर मोहित सा मत्त हुआ
जिसके मधुर पराग-अन्ध हो मधुप किया करते फेरा
मृदु चुम्बन-उल्लास भरी लहरी का जिस पर था घेरा
शीत पवन के मधुर स्पर्श से सिहर उठा करती थी जो
श्यामा का सङ्गीत नवीन सकम्प सुना करती थी जो
छोटी-छोटी स्वर्ण-मछलियो का जिस पर रहता पहरा
स्वच्छ आन्तरिक प्रेम-भाव का रङ्ग चढा जिस पर गहरा
जिसका मधुर मरन्द-स्रोत भी उछल उछल मिलता जल में
सौरभ उसका फैलाता था रम्य सरोवर निर्मल में
जिसका मुग्ध विकास हृदय को अहो मुग्ध कर देता था
सरज पीत केसर भी खिलकर भव्य भाव भर देता था
किसी स्वार्थी मतवाले हाथी से हा ! पद दलित हुई
वही कुमुदिनी, ग्रीष्मताप तापित रज में परिमिलित हुई
छिन्नपत्र मकरन्दहीन हो गई न शोभा प्यारी है
पड़ी कण्टकाकीर्ण मार्ग में कालचक्र गति न्यारी है

निशीथ-नदी

विमल व्योम में तारा-पुञ्ज प्रकट हो करके
　　नीरव अभिनय कहो कर रहे है ये कैसा
प्रेमी के दृगतारा से ये निर्निमेष हैं
　　देख रहे से रूप अलौकिक सुन्दर किसका
दिशा, धरा, तरु-राजि सभी ये चिन्तित से है
　　शान्त पवन स्वर्गीय स्पर्श से सुख देता है
दुखी हृदय में प्रिय-प्रतीति की विमल विभा सी
　　तारा-ज्योति मिली है तम में, कुछ प्रकाश है
कूल युगल में देखो कैसी यह सरिता है
　　चारों ओर दृश्य सब कैसे हरे भरे हैं
बालू भी इस स्नेहपूर्ण जल के प्रभाव से
　　उर्वर है हो रहे, करारे नहीं काटते
पंकिल करते नही स्वच्छशीला सरिता को
　　तरुगण अपनी शाखाओं से इङ्गित करके
उसे दिखाते और मार्ग, वह ध्यान न देकर
　　चली जा रही है अपनी ही सीधी धुन में

उसे किसी से कुछ न द्वेष है, मोह भी नहीं
उपल-खण्ड से टकराने का भाव नही है
पंकिल या फेनिल होना भी नही जानती
पर्ण-कुटीरों को न बहाती भरी वेग से
क्षीणस्रोत भी नही हुई खर ग्रीष्म-ताप से
गर्जन भी है नही, कही उत्पात नही है
कोमल कल-कलनाद हो रहा शान्ति-गीत सा
कब यह जीवन-स्रोत मधुर ऐसा ही होगा
हृदय-कुमुद कब सौरभ से यो विकसित होकर
पूर्ण करेगा अपने परिमल से दिगंत को
शाति, चित्त को अपने शीतल लहरो से कब
शात करेगी हर लेगी कब दु.ख-पिपासा

•

विनय

बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन काम
शका रहे न मन मे नाथ
रहो हरदम तुम मेरे साथ
अभय दिखला दो अपना हाथ
न भूले कभी तुम्हारा नाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

मिटा दो मन की मेरे पीर
करा दो कर्म देव अब धीर
पिला दो स्वच्छ प्रेममय नीर
बने मति सुन्दर लोक ललाम
बना लो हृदय-बीच निज धाम

काट दो ये सारे दुख-द्वन्द्व
न आवे पास कभी छल-छन्द
मिलो अब आके आनँदकन्द
रहें तव पद में आठो याम
बना लो हृदय-बीच निज धाम
करो हमको प्रभु पूरन-काम

●

तुम्हारा स्मरण

सकल वेदना विस्मृत होती
स्मरण तुम्हारा जब होता
विश्वबोध हो जाता है
जिससे न मनुष्य कभी रोता

आँख बंद कर देखे कोई
रहे निराले में जाकर
त्रिपुटी में, या कुटी बना ले
समाधि में खाये गोता

खड़े विश्व-जनता में प्यारे
हम तो तुमको पाते हैं
तुम ऐसे सर्वत्र-सुलभ को
पाकर कौन भला खोता

प्रसन्न है हम उसमें, तेरी—
प्रसन्नता जिसमें होवे
अहो तृषित प्राणों के जीवन
निर्मल प्रेम-सुधा-सोता

नये नये कौतुक दिखलाकर
जितना दूर किया चाहो
उतना ही यह दौड़ दौडकर
चंचल हृदय निकट होता

●

याचना

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे
ग्रहगण सभी हो केन्द्रच्युत लड़कर परस्पर भग्न हों
उस समय भी हम हे प्रभो ! तव पद्मपद में लग्न हों
जब शैल के सब शृङ्ग विद्युद्वृन्द के आघात से
हों गिर रहे भीषण मचाते विश्व में व्याघात से
जब घिर रहे हों प्रलय-घन अवकाश गत आकाश में
तब भी प्रभो ! यह मन खिंचे तब प्रेम-धारा-पाश में
जब क्रूर षड्रिपु के कुचक्रों में पड़े यह मन कभी
जब दुःख की ज्वालावली हो भस्म करती सुख सभी
जब हों कृतघ्नों के कुटिल आघात विद्युत्पात से
जब स्वार्थी दुख दे रहे अपने मलिन छलछात से
जब छोड़कर प्रेमी तथा सन्मित्र सब संसार में
इस घाव पर छिड़कै नमक, हो दुख खड़ा आकार में
करुणानिधे ! हों दुःखसागर में कि हम आनन्द में
मन-मधुप हो विश्वस्त प्रमुदित तव चरण अरविन्द में
हम हों सुमन की सेज पर या कंटकों की झाड़ में
पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में
हम हों कहो इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में
तव प्रेम-पथ में ही चलें, हे नाथ ! तव आलोक में

●

पतित-पावन

पतित हो जन्म से, या कर्म ही से क्यों नही होवे
पिता सबका वही है एक, उसकी गोद में रोवे
पतित पदपद्म मे होवे
तो पावन हो ही जाता है
पतित है गर्त्त में संसार के जो स्वर्ग से खसका
पतित होना कहो अब कौन सा बाकी रहा उसका
पतित ही को बचाने के
लिये, वह दौड़ आता है
पतित हो चाह में उसके, जगत में यह बड़ा सुख है
पतित हो जो नही इसमें, उसे सचमुच बड़ा दुख है
पतित ही दीन होकर
प्रेम से उसको बुलाता है
पतित होकर लगाई धूल उस पद की न अंगों मे
पतित है जो नही उस प्रेमसागर की तरंगो में
पतित हो 'पूत' हो जाना
नहीं वह जान पाता है
'प्रसाद' उसका ग्रहण कर छोड़ दे आचार अनबन है
वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितों का पावन है
पतित होने की देरी है
तो पावन हो ही जाता है

●

खंजन

व्याप्त है क्या स्वच्छ सुषमा सी उषा भूलोक में
स्वर्णमय शुभ दृश्य दिखलाता नवल आलोक में
शुभ्र जलधर एक दो कोई कही दिखला गये
भाग जाने का अनिल-निर्देश वे भी पा गये
पुण्य-परिमल अङ्ग से मिलने लगा उल्लास से
हंस मानस का हँसा कुछ बोलकर आवास से
मल्लिका महँकी, अली-अवली मधुर मधु से छकी
एक कोने की कली भी गन्ध-वितरण कर सकी
बह रही थी कूल में लावण्य की सरिता अहो
हँस रही थी कल-कलध्वनि से प्रफुल्लितगात हो
खिल रहा शतदल मधुर मकरन्द भी पडता चुआ
सुरभि-सचय-कोश सा आनन्द से पूरित हुआ
शरद के हिम-बिन्दु मानो एक में ढाले हुए
दृश्यगोचर हो रहे है प्रेम से पाले हुए
है यही क्या विश्ववपुषी शारदी साकार हो
सुन्दरी है या कि सुषमा का खड़ा आकार हो
कौन नीलोज्ज्वल युगल ये दो यहाँ पर खेलते
है झड़ी मकरन्द की अरविन्द में ये झेलते
क्या समय था, ये दिखाई पड़ गये, कुछ तो कहो
सत्य ! क्या जीवन-शरद के ये प्रथम खजन अहो

●

विरह

प्रियजन दृग-सीमा से जभी दूर होते
ये नयन-वियोगी रक्त के अश्रु रोते
सहचर-सुखक्रीडा नेत्र के सामने भो
प्रति क्षण लगती है नाचने चित्त में भी

प्रिय, पदरज मेघाच्छन्न जो हो रहा हो
यह हृदय तुम्हारा विश्व को खो रहा हो
स्मृति-सुख चपला की क्या छटा देखते हो
अविरल जलधारा अश्रु में भींगते हो

हृदय द्रवित होता ध्यान मे भूत ही के
सब सबल हुए से दीखते भाव जी के
प्रति क्षण मिलते हैं जो अतीताब्धि ही में
गत निधि फिर आती पूर्ण की लब्धि ही मे

यह सब फिर क्या है, ध्यान से देखिये तो
यह विरह पुराना हो रहा जाँचिये तो
हम अलग हुए है पूर्ण से व्यक्त होके
वह स्मृति जगती है प्रेम की नीद सोके

•

रमणी हृदय

सिन्धु कभी क्या बाड़वाग्नि को यों सह लेता
कभी शीत लहरों से शीतल ही कर देता
रमणी-हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता
कौन जानता है, नीचे में, क्या बहता है
बालू मे भी स्नेह कहाँ कैसे रहता है
फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह-सरोवर जैसे
ढकी बर्फ से शीतल ऊँची चोटी जिनकी
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी
ज्वालामुखी-समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते है
स्वच्छ स्नेह अन्तर्निहित, फल्गू-सदृश किसी समय
कभी सिन्धु ज्वालामुखी, धन्य-धन्य रमणी-हृदय

•

हां, सारथे ! रथ रोक दो

हाँ, सारथे ! रथ रोक दो, विश्राम दो कुछ अश्व को
यह कुञ्ज था आनन्द दायक, इस हृदय के विश्व को
यह भूमि है उस भक्त के आराधना की साधिका
जिसको न था कुछ भय यहाँ भवजन्य आधिव्याधि का

जब था न कुछ परिचित सुधा से हृदय वन सा था बना
तब देखकर इस कुञ्ज को कुसुमित हुआ था वह घना
बरसा दिया मकरन्द की झीनी झड़ी उल्लास से
सुरभित हुआ संसार ही इस कुसुम के सुविकास से

जब दौड़ जीवन-मार्ग मे पहली हमारी थी हुई
उच्छ्वासमय तटिनी-तरंगो के सदृश बढ़ती गई
था लक्ष्यहीन नवीन वर्षा के पवन सा वेग में
इस कुञ्ज ही में रुक गया था उस प्रबल उद्वेग मे

जन्मान्तर-स्मृति याद कर औ' भूलकर निज चौकड़ी
मन-मृग रुका गर्दन झुकाकर छोड़कर तेजी बडी
अज्ञात से पदचिह्न का कर अनुसरण आया यहाँ
निज नाभि-सौरभ भूल फूलों का सुरस पाया यहाँ

सुख दु:ख शीतातप भुलाकर प्राण की आराधना
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व ही की साधना
हे सारथे ! रथ रोक दो, स्मृति का समाधिस्थान है
हम पैर क्या, शिर से चले तो भी न उचित विधान है

●

गंगा सागर

प्रिय मनोरथ व्यक्त करे कहो
जगत्-नीरवता कहती 'नही'
गगन में ग्रह गोलक, तारिका
सब किये नत दृष्टि विचार में

पर नही, हम मौन न हो सकें
कह चले अपनी सरला कथा
पवन-संसृति से इस शून्य में
भर उठे मधुर ध्वनि विश्व में

"यह सही, तुम ! सिन्धु अगाध हो
हृदय में बहु रत्न भरे पडे
प्रबल भाव विशाल तरङ्ग से
प्रकट हो उठते दिन रात ही

न घटते-बढ़ते निज—सीम से—
तुम कभी, वह बाड़व रूप की
लपट में लिपटी फिरती नदी
प्रिय, तुम्ही उसके प्रिय लक्ष्य हो

यदि कहो घन पावस-काल का
प्रबल वेग अहो क्षण काल का
यह नही मिलना कहला सके
मिलन तो मन का मन से सही
जगत की नव कल्पित कल्पना
भर रही हृदयाब्धि गँभीर में
'तुम नहीं इसके उपयुक्त हो
कि यह प्रेम महान सँभाल लो'
जलधि ! मै न कभी चाहती
कि 'तुम भी मुझपर अनुरक्त हो'
पर मुझे निज वक्ष उदार मे
जगह दो, उसमें सुख में रहे"

•

प्रियतम

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दु:ख नही
जिसके तुम हो एक सहारा, उसको भूल न जाव कही
निर्दय होकर अपने प्रति, अपनेको तुमको सौप दिया
प्रेम नही, करुणा करने को क्षण भर तुमने समय दिया
अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम
क्रीडा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम
स्मृति को लिये हुए अन्तर मे, जीवन कर देगे नि:शेष
छोडो अब भी दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेष
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो
रक्खो जब तक आँखों मे, फिर और द्वार पर नही ढरो
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे
पुतली बनकर रहें चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे

मोहन

अपने सुप्रेम-रस का प्याला पिला दे मोहन
तेरे मे अपनेको हम जिसमें भुला दें मोहन
निज रूप-माधुरी की चसकी लगा दे मुझको
मुँह से कभी न छूटे ऐसी छका दे मोहन
सौन्दर्य विश्व भर में फैला हुआ जो तेरा
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे मोहन
अस्तित्व रह न जाये हमको हमारे ही में
हमको बना दे तू अब, ऐसी प्रभा दे मोहन
जलकर नही है हटते जो रूप की शिखा से
हमको, पतंग अपना ऐसा बना दे मोहन
मेरा हृदय-गगन भी तव राग में रँगा हो
ऐसी उषा की लाली अब तो दिखा दे मोहन
आनन्द से पुलककर हों रोम रोम भीने
संगीत वह सुधामय अपना सुना दे मोहन

●

भाव-सागर

थोड़ा भी हँसते देखा ज्योंही मुझे
त्योंही शीघ्र रुलाने को उत्सुक हुए
क्यों इर्ष्या है तुम्हें देख मेरी दशा
पूर्ण सृष्टि होने पर भी यह शून्यता
अनुभव करके हृदय व्यथित क्यों हो रहा
क्या इसमें कारण है कोई, क्या कभी
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही
मिलता नही हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नही
कुछ निजस्व सा तुम पर होता भान है
गर्व-स्फीत हृदय होता तव स्मरण मे
अहंकार से भरी हमारी प्रार्थना
देख न शकित होना, समझो ध्यान से
वह मेरे में तुम हो साहस दे रहे
लिखता हूँ तुमको, फिर उसको देख के
स्वयं संकुचित होकर भेज नहीं सका
क्या ? अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नही
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर ! सुनो
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही

●

मिल जाओ गले

देख रहा हूँ, यह कैसी कमनीयता
छाया सी कुसुमित कानन मे छा रही
अरे, तुम्हारा ही यह तो प्रतिविम्ब है
क्यों मुझको भुलवाते हो इनमें ? अजी
तुम्हे नही पाकर क्या भूलेगा कभी
मेरा हृदय इन्हीं काँटों के फूल में
जग की कृत्रिम उत्तमता का बस नही
चल सकता है, बड़ा कठोर हृदय हुआ
मानस-सर मे विकसित नव अरविन्द का
परिमल जिस मधुकर को छू भी गया हो
कहो न कैसे वह कुरबक पर मुग्ध हो
घूम रहा है कानन में उद्देश्य से
फूलो का रस लेने की लिप्सा नही
मधुकर को वह तो केवल है देखता
कही वही तो नही कुसुम है खिल रहा
उसे न पाकर छोड़ चला जाता अहो

उसे न कहो कि वह कुरबक-रस-लुब्ध है
हृदय कुचलने वालों से, अभिमान के
नीच, घमण्डी जीवो से बस कुछ नही
उन्हें घृणा भी कहती सदा नगण्य है
वह दब सकता नही, न उनसे मिल सके
जिसमे तेरी अविकल छवि हो छा रही
तुमसे कहता हूँ प्रियतम ! देखो इधर
अब न और भटकाओ, मिल जाओ गले

•

नहीं डरते

क्या हमने कह दिया, हुए क्यों रुष्ट हमे बतलाओ भी
ठहरो, सुन लो बात हमारी, तनक न जाओ, आओ भी
रूठ गये तुम, नही सुनोगे, अच्छा ! अच्छी बात हुई
सुहृद, सदय, सज्जन मधुमुख थे मुझको अबतक मिले कई
सबको था दे चुका, बचे थे उलाहने से तुम मेरे
वह भी अवसर मिला, कहूँगा हृदय खोलकर गुण तेरे
कहो न कब बिनती थी मेरी सच कहना कि 'मुझे चाहो'
मेरे खौल रहे हृत्सर में तुम भी आकर अवगाहो
फिर भी, कब चाहा था तुमने हमको, यह तो सत्य कहो
हम विनोद की सामग्री थे केवल इससे मिले रहो
तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि 'हम चाह में व्याकुल हैं' यह गर्म साँस अब नही भरो
मिथ्या ही हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नहीं करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे; फिर भी किया, नही डरते

●

महाकवि तुलसीदास

अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा
इस शुभ सत्ता को जिसने अनुभूत किया था
मानवता को सदय राम का रूप दिया था
नाम-निरूपण किया रत्न से मूल्य निकाला
अन्धकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक बाला
दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था
भक्ति-सुधा से जो सन्ताप हरण करता था
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का

राम छोड़कर और की जिसने कभी न आस की
'राम-चरित-मानस'-कमल जय हो तुलसीदास की

•

धर्मनीति

जब कि सब विधियाँ रहे निषिद्ध, और हो लक्ष्मी को निर्वेद
कुटिलता रहे सदैव समृद्ध, और सन्तोष मनावे खेद
वैध क्रम संयम को धिक्कार
अरे तुम केवल मनोविकार
बाँधती हो जो विधि सद्भाव, साधती हो जो कुत्सित नीति
भग्न हो उसका कुटिल प्रभाव, धर्म वह फैलावेगा भीति
भीति का नाशक हो तव धर्म
नही तो रहा लुटेरा-कर्म
दुखी है मानव-देव अधीर—देखकर भीषण शान्त समुद्र
व्यथित बैठा है उसके तीर—और क्या विष पी लेगा रुद्र
करेगा तब वह ताण्डव-नृत्य
अरे दुर्बल तर्कों के भृत्य
गुञ्जरित होगा शृङ्गीनाद, धूसरित भव बेला में मन्द्र
कँपैंगे सब सूत्रों के पाद, युक्तियाँ सोवेंगी निस्तन्द्र
पञ्चभूतों को दे आनन्द
तभी मुखरित होगा यह छन्द
दूर हो दुर्बलता के जाल, दीर्घ निःश्वासों का हो अन्त
नाच रे प्रवञ्चना के काल, दग्ध दावानल करे दिगन्त
तुम्हारा यौवन रहा ललाम
नम्रते ! करुणे ! तुझे प्रणाम

•

गान

जननी जिसकी जन्मभूमि हो; वसुन्धरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हों, पिता परम अविनाशी हो
दम्भ न छूए चरण-रेणु वह धर्म नित्य-यौवनशाली
सदा सशक्त करों से जिसकी करता रहता रखवाली
शीतल मस्तक, गर्म रक्त, नीचा सिर हो, ऊँचा कर भी
हँसती हो कमला जिसके करुणा-कटाक्ष में, तिस पर भी
खुले-किवाड़-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को
मानस शात, सरोज-हृदय हो सुरभि सहित खिल जाने को
जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ हल हो
दुखिया की आँखो का आँसू और मजूरों का कल हो
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों मे
ऐसे युवक चिरञ्जीवी हो, देश बना सुख-राशी हो
और इसलिये आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हो

•

मकरन्द-बिन्दु

तप्त हृदय को जिस उशीर-गृह का मलयानिल
शीतल करता शीघ्र, दान कर शान्ति को अखिल
जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को
स्वयं प्रकाशानुभव-मूर्त्ति देती न क्षोभ जो
प्रकृति सुप्राङ्गण में सदा, मधुक्रीड़ा-कूटस्थ को
नमस्कार मेरा सदा, पूरे विश्व-गृहस्थ को

* * *

है पलक परदे खिंचे बरुनी मधुर आधार से
अश्रुमुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से
चित्त-मन्दिर में अमल आलोक कैसा हो रहा
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य आकार से
मुद मृदङ्ग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल मे
कल्पना-वीणा बजी हर एक अपने तार से
इन्द्रियाँ दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से

* * *

हृदय नहिं मेरा शून्य रहे
तुम नहिं आओ जो इसमें तो, तव प्रतिविम्ब रहे
मिलने का आनन्द मिले नहिं जो इस मन को मेरे
करुणव्यथा ही लेकर तेरी जिये प्रेम के डेरे

* * *

मिले प्रिय, इन चरणों की धूल
जिसमे लिपटा ही आया है सकल सुमंगल-मूल
बड़े भाग्य से बहुत दिनों पर आये हो तुम प्यारे
बैठो, घबराओ मत, बोलो, रहो नही मन मारे
हृदय सुनाना तुम्हें चाहता, गाथाएँ जो बीती
गद्गद कंठ, न कह सकता हूँ, देखी बाजी जीती

* * *

प्रथम, परम आदर्श विश्व का जो कि पुरातन
अनुकरणों का मुख्य सत्य जो वस्तु सनातन
उत्तमता का पूर्ण रूप आनन्द भरा धन
शक्ति-सुधा से सिंचा, शांति से सदा हरा वन
परा प्रकृति से परे नही जो हिलामिला है
सन्मानस के बीच कमल सा नित्य खिला है
चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता
स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन
विश्वशरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन
अणु अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक
नित्य नवल-सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कारक
जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है

* * *

गज समान है त्रस्त, ग्रस्त द्रौपदी सदृश है
ध्रुव सा धिक्कृत और सुदामा सा वह कृश है
बँधा हुआ प्रह्लाद सदृश, कुत्सित कर्मों से
अपमानित गौतमी न थी इतनी मर्मों से

धर्म बिलखता सोचता
हम क्या से क्या हो गये
थक कर कुछ अवतार से
तुम सुख-निधि में सो गये।

●

चित्रकूट

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन मे
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छन्द गगन में
चित्रकूट भी चित्रलिखा-सा देख रहा था
मन्दाकिनी तरङ्ग उसी से खेल रहा था
स्फटिक-शिला-आसीन राम वैदेही ऐसे
निर्मल सर में नील कमल नलिनी हो जैसे
निज प्रियतम के सङ्ग सुखी थी कानन मे भी
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी
मृगशावक के साथ मृगी भी देख रही थी
सरल विलोकन जनकसुता से सीख रही थी
निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी
सच ही हैं श्रीमान भोगते सुख वन में भी
चन्द्रातप था व्योम, तारिका-रत्न जड़े थे
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरुपुञ्ज खड़े थे

शान्त नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी
बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को
हिली आम की डाल, चला ज्यों नवल हिंडोला
'आह कौन है' पञ्चम स्वर से कोकिल बोला
मलयानिल प्रहरी सा फिरता था उस वन में
शान्ति शान्त हो बैठी थी कामद कानन में
राघव बोले देख जानकी के आनन को—
"स्वर्गङ्गा का कमल मिला कैसे कानन को"
'नील मधुप को देख वहीं उस कञ्ज-कली ने
स्वयं आगमन किया'—कहा यह जनक-लली ने

बोले राघव—'प्रिये ! भयावह से इस वन में
शका होती नही तुम्हारे कोमल मन मे'
कह जानकी ने हँसकर—'उसको है क्या डर
जिसके पास प्रवीण धनुर्धर ऐसा सहचर'
कहा राम ने—'अहा ! महल, मन्दिर मनभावन
स्मरण न होते तुम्हे कहो क्या वे अति पावन,
रहते थे झंकारपूर्ण जो तव नूपुर से
सुरभिपूर्ण पुर होता था जिस अन्तःपुर से'
जनकसुता ने कहा—'नाथ ! यह क्या कहते है
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते है
कहो उसे प्रियप्राण ! अभाव रहा फिर किसका
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका'

मधुर मधुर आलाप करते ही पिय-गोद मे
मिटा सकल सन्ताप, वैदेही सोने लगी
पुलकित तनु थे राम, देख जानकी की दशा
सुमन-स्पर्श अभिराम, सुख देता किसको नही
नील गगन सम राम, अहा अंक में चन्द्रमुख
अनुपम शोभाधाम आभूषण सी तारिका

खुले हुए कच-भार बिखर गये थे बदन पर
जैसे श्याम सिवार आसपास हो कमल के
कैसा सुन्दर दृश्य ! लता-पत्र थे हिल रहे
जैसे प्रकृति अदृश्य, बहु कर से पंखा झले
निर्निमेष दृग नील देख रहे थे राम के
जैसे प्रहरी भील खड़े जानकी-वदन के
नैसर्गिक सौन्दर्य देख जानकी-अङ्ग का
नृपचूड़ामणिवर्य राम मुग्ध से हो रहे
'कुछ कहना है आर्य' बोले लक्ष्मण दूर से
'ऐसा ही है कार्य, इससे देता कष्ट हूँ'
राघव ने सस्नेह कहा—'कहो, क्या बात है
कानन हो या गेह, लक्ष्मण तुम चिरबन्धु हो
फिर कैसा संकोच ? आओ, बैठो पास में
करो न कुछ भी सोच, निर्भय होकर तुम कहो'
पाकर यह सम्मान, लक्ष्मण ने सविनय कहा—
"आर्य ! आपका मान, यश, सदैव बढता रहे
फिरता हूँ मै नित्य, इस कानन में ध्यान से
परिचय जिसमें सत्य मिले मुझे इस स्थान का
अभी टहलकर दूर, ज्योही मै लौटा यहाँ
एक विकटमुख क्रूर भील मिला उस राह में
मेरा आना जाना, उठा सजग हो भील वह
मैने शर सन्धान किया जानकर शत्रु को
किन्तु, क्षमा प्रति बार, माँगा उसने नम्र हो
रुका हमारा वार, पूछा फिर—'तुम कौन हो'
उसने फिर कर जोड़ कहा—'दास हूँ आपका
चरण कमल को छोड, और कहाँ मुझको शरण,
निषादपति का दूत हूँ मै प्रेरित आया यहाँ
कहना है करतूत भरत भूमिपति का प्रभो
सजी सैन्य चतुरङ्ग बलशाली ले साथ में
किये और ही ढङ्ग, आते है इस ओर को'
पुलकित होकर राम बोले लक्ष्मण वीर से—
'और नहीं कुछ काम, मिलने आते हैं भरत'

सोते अभी खग-वृन्द थे निज नीड़ में आराम से
ऊषा अभी निकली नही थी रविकरोज्ज्वल-दाम से

केवल टहनियाँ उच्च तरुगण की कभी हिलती रही
मलयज पवन से विवश आपस मे कभी मिलती रही

ऊँचे शिखर, मैदान, पर्णकुटीर, सब निस्तब्ध थे
सब सो रहे, जैसे अभागों के दुखद प्रारब्ध थे

झरने पहाड़ी चल रहे थे, मधुर मीठी चाल से
उड़ते नही जलकण अभी थे उपलखण्ड विशाल से

आनन्द के आँसू भरे थे, गगन मे तारावली
थी देखती रजनी बिदा होते निशाकर को भली

कलियाँ कुसुम की थी लजाई प्रथम स्पर्श शरीर से
चिटकी बहुत जब छेड़छाड़ हुआ समीर अधीर से

थी शान्तिदेवी सी खड़ी उस ब्राह्मवेला में भली
मन्दाकिनी शुभ तरल जल के बीच मिथिलाधिप लली

रजलिप्त स्वच्छ शरीर होता था सरोज-पराग से
जल भी रँगा था श्यामलोज्ज्वल राम के अनुराग से

जलविन्दु थे जो वदन पर, उस इन्दु मन्द प्रकाश में
द्रवचन्द्रकान्त मनोज्ञ मणि के बने विमल विलास में

आकण्ठ मज्जित जानकी चन्द्राभमय जल में खड़ी
सचमुच वदन विधु था शरद-घन बीच जिसकी गति अड़ी

जल की लहरियाँ घेरती बन मेघमाला सी उसे
हो पवन-ताड़ित इन्दु कर मलता निरख करके जिसे

कर स्नान पर्णकुटीर को अपने सिधारी जानकी
तब कञ्जलोचन के जगाने की क्रिया अनुमान की

रविकर-सदृश हेमाभ उँगली से चरण-सरसिज छुआ
उन्निद्र होने से लगे दृगकञ्ज, कम्प सहज हुआ

उस नित्यपरिचित स्पर्श से राघव सजग हो जग गये
होकर निरालस नित्यकृत्य सुधारने में लग गये

फलमूल लेने के लिए तब जानकी तरु-पुञ्ज में
सञ्चारिणी ललिता लता सी खो गई घन कुञ्ज मे

अपने सुकृत-फल के समान मिले उन्हे फल ढेर से
मीठे, नवीन, सुस्वादु, जो संचित रहे थे देर से

हो स्वस्थ प्रातःकर्म से जब राम पर्णकुटीर में
आये टहल मन्दाकिनी-तट से प्रभात-समीर में

देखा कुशासन है बिछा, फल और जल प्रस्तुत वहाँ
है जानकी भी पास, पर लक्ष्मण न दिखलाते वहाँ

• • •

सीता ने तब खोज लिया सौमित्र को
तरु-समीप में, वीर-विचित्र चरित्र को
'लक्ष्मण! आओ वत्स, कहाँ तुम चढ रहे'
प्रेम भरे ये वचन जानकी ने कहे

'आर्ये, होगा स्वादु मधुर फल यह पका
देखो, अपने सौरभ से है यह छका'
लक्ष्मण ने यह कहा और अति वेग से
चले वृक्ष की ओर, चढे उद्वेग से

ऊँचा था तरुराज, सघन वह था हरा
फल फूलों से डाल पात से था भरा
लक्ष्मण तुरत अदृश्य उसी में हो गये
जलद-जाल के बीच बिमल विधु से हुए

टहल रहे थे राम उसी ही स्थान में
कोलहाहल रव पड़ा सुनाई कान में
चकित हुए थे राम, बात न समझ पड़ी
लक्ष्मण की पुकार तबतक यह सुन पड़ी—

'आर्य, आर्य, बस धनुष मुझे दे दीजिये
कुछ भी देने में विलम्ब मत कीजिये'
कहा राम ने—'वत्स, कहो क्या बात है
सुनें भला कुछ, कैसा यह उत्पात है'

लक्ष्मण ने फिर कहा—'देर मत कीजिये
आया है वह दुष्ट मारने दीजिये'
'कौन ? कहो तो स्पष्ट, कौन अरि है यहाँ ?'
कहा राम ने—'सुनें भला, वह है कहाँ'

'दुष्ट भरत आता ले सेना सग मे
रँगा हुआ है क्रूर राजमद-रंग मे
उसका हृद्‌गत भाव और ही आर्य है
आता करने को कुछ कुत्सित कार्य है'

सुनकर लक्ष्मण के यह वाक्य प्रमाद से—
भरे, हँसे तब राम मलीन विषाद से
कहा—'उतर आओ लक्ष्मण उस वृक्ष से
हटो शीघ्र उस भ्रम पूरित विषवृक्ष से'

लक्ष्मण नीचे आकर बोले रोष से—
'वनवासी है हुए आप निज दोष से'
भरत इसी क्षण पहुँचे, दौड़ समीप में
बढ़ा प्रकाश सुभ्रातृस्नेह के दीप में

चरण-स्पर्श के लिए भरत-भुज ज्यों बढ़े
राम-बाहु गल-बीच पड़े, सुख से मढ़े
अहा ! विमल स्वर्गीय भाव फिर आ गया
नील कमल मकरन्द-विन्दु से छा गया ॥

•

भरत

हिमगिरि का उत्तुग शृंग है सामने
खड़ा बताता है भारत के गर्व को
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात मे
बनती है हिम-लता कुसुम-मणि के खिले
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है
सांसारिक सब ताप नही इस भूमि मे
सूर्य-ताप भी सदा सुखद होता यहाँ
हिम-सर मे भी खिले विमल अरविन्द है
कही नही है शोच, कहाँ सकोच है
चन्द्रप्रभा मे भी गलकर बनते नदी
चन्द्रकान्त से ये हिम-खड मनोज्ञ है
फैली है ये लता लटकती शृङ्ग मे
जटा समान तपस्वी हिमगिरि की बनी
कानन इसके स्वादु फलों से है भरे
सदा अयाचित देते है फल प्रेम से
इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका
है जिसके समीप आश्रम ऋषिवर्य का

● ●

अहा ! खेलता कौन यहाँ शिशु सिंह से
आर्यवृन्द के सुन्दर सुखमय भाग्य सा
कहता है उसको लेकर निज गोद मे—
'खोल, खोल, मुख सिंह-बाल, मै देखकर
गिन लूँगा तेरे दाँतो को है भले
देखूँ तो कैसे यह कुटिल कठोर हैं'

● ●

देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहिनी क्रोध से
छडी तानकर बोला बालक रोष से—
'बाधा देगी क्रीडा मे यदि तू कभी
मार खायगी, और तुझे दूँगा नही—
इस बच्चे को; चली जा, अरी भाग जा'

● ●

अहा, कौन यह वीर बाल निर्भीक है
कहो भला भारतवासी ! हो जानते
यही 'भरत' वह बालक है, जिस नाम से
'भारत' सज्ञा पड़ी इसी वर भूमि की
कश्यप के गुरुकुल में शिक्षित हो रहा
आश्रम मे पलकर कानन मे घूमकर
निज माता की गोद मोद भरता रहा
जो पति से भी बिछुड़ रही दुर्दैव-वश
जंगल के शिशुसिंह सभी सहचर रहे
रहा घूमता हो निर्भीक प्रवीर यह
जिसने अपने बलशाली भुजदंड से
भारत का साम्राज्य प्रथम स्थापित किया
वही वीर यह बालक है दुष्यन्त का
भारत का शिर-रत्न 'भरत' शुभ नाम है

●

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यो मचा हुआ है? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा
अथवा तोपो के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा
नहीं; महा संघर्षण से होकर व्यथित
हरिचन्दन दावानल फैलाने लगा
आर्यमंदिरों के सब ध्वंस बचे हुए
धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में—
उनके, जिनके वे थे खुदवाये गये
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ
दुर्दिन-जल-धारा न सम्हाल सकी अहो
बालू की दीवाल मुगल-साम्राज्य की
आर्य-शिल्प के साथ गिरा वह भी
जिसे, अपने कर से खोदा आलमगीर ने
मुगल-महीपति के अत्याचारी, अबल

कर कँपने से लगे। अहो यह क्या हुआ
मुगल-अदृष्टाकाश-मध्य अति तेज से
धूमकेतु से सूर्यमल्ल समुदित हुए
सिंहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश
प्रतिहिंसा पूरित वीरों की मण्डली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग में
मुगल-महीपों के आवासादिक बहुत
टूट चुके है, आम खास के अश भी
किन्तु न कोई सैनिक भी सन्मुख हुआ

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल है
मुख-मण्डल भीषण प्रतिहिंसा पूर्ण है
सूर्यमल्ल मध्याह्न सूर्य सम चण्ड हो
मोतीमस्जिद के प्राङ्गण मे है खड़े
भीम गदा है कर मे, मन मे वेग है
उठा, क्रुद्ध हो सबल हाथ लेकर गदा
छज्जे पर जा पड़ा, कॉपकर रह गई
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ
किन्तु न फिर वह चला चण्डकर नाश को
क्यो जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है

सूर्यमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया
भीषणता रुक कर करुणा सी हो गई।
कहा—'नष्ट कर देगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु ससार की
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायेगी लुप्त। बड़ा आश्चर्य है
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता

अति सर्वत्र अहो वर्जित है, सत्य ही
कही वीरता बनती इससे क्रूरता
धर्म जन्य प्रतिहिंसा ने क्या क्या नही
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प साहित्य का
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के

साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये
तोड़े गये, अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो
हे भारत के ध्वंस शिल्प ! स्मृति से भरे
कितनी वर्षा शीतातप तुम सह चुके
तुमको देख करुण इस वेश में
कौन कहेगा कब किसने निर्मित किया
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये
किस मिट्टी की ईंटे है बिखरी हुईं

●

कुरुक्षेत्र

नील यमुना-कूल में तब गोप-बालक-वेश था
गोप-कुल के साथ में सौहार्द प्रेम विशेष था
बाँसुरी की एक ही बस फूँक तो पर्याप्त थी
गोप-बालों की सभा सर्वत्र ही फिर प्राप्त थी
उस रसीले राग में अनुराग पाते थे सभी
प्रेम के सारल्य ही का राग गाते थे सभी
देख मोहन को न मोहे, कौन था इस भूमि में
रास की राका रुकी थी देख मुख व्रजभूमि में।
धेनुचारण कार्य कालिन्दी-मनोहर-कूल में
वेणुवादन कुञ्ज में, जो छिप रहा था फूल मे
भूलकर सब खेल ये, कर ध्यान निज पितु मात का—
कंस को मारा, रहा जो दुष्ट पीवर गात का

● ●

थी इन्होने ही सही सत्रह कठोर चढ़ाइयाँ
हारकर भागा मगध-सम्राट कठिन लड़ाइयाँ
देखकर दौर्वृत्य यह दुर्दम्य क्षत्रिय-जाति का
कर लिया निश्चित अरिन्दम ने निपात अराति का

वीर वार्हद्रथ बली शिशुपाल के सुन सन्धि को
और भी साम्राज्य-स्थापन की महा अभिसन्धि को
छोड़कर व्रज, बालक्रीड़ा-भूमि, यादव-वृन्द ले
द्वारिका पहुँचे, मधुप ज्यों खोज ही अरविन्द ले
सख्यस्थापन कर सुभद्रा को विवाहा पार्थ से
आप समभागी हुए तब पाण्डवों के स्वार्थ से
वीर वार्हद्रथ गया मारा कठिन रणनीति से
आप सरक्षक हुए फिर पाण्डवो के, प्रीति से
केन्द्रच्युत नक्षत्रमण्डल से हुए राजन्य थे
आन्तरिक विद्वेष के भी छा गये पर्जन्य थे
दिव्य भारत का अदृष्टाकाश तमसाच्छन्न था
मलिनता थी व्याप्त कोई भी कही न प्रसन्न था
सुप्रभात किया अनुष्ठित राजसूय सुरीति से
हो गई ऊषा अमल अभिषेक-जलयुत प्रीति से
धर्मराज्य हुआ प्रतिष्ठित धर्मराज नरेश थे
इस महाभारत-गगन के एक दिव्य दिनेश थे
यों सरलता से हुआ सम्पन्न कृष्ण-प्रभाव से
देखकर वह राजसूय जला हृदय दुर्भाव से
हो गया सन्नद्ध तब शिशुपाल लड़ने के लिये
और था ही कौन केशव सङ्ग अड़ने के लिए
थी बड़ी क्षमता, सही इससे बहुत सी गालियाँ
फूल उतने ही भरे, जितनी बड़ी हों डालियाँ
क्षमा करते, पर लगे काँटे खटकने और को
चट धराशायी किया तब पाप के शिरमौर को

● ●

पांडवों का देख वैभव नीच कौरवनाथ ने
द्यूत-रचना की, दिया था साथ शकुनी-हाथ ने
कुटिल के छल से छले जाकर अकिञ्चन हो गये
हारकर सर्वस्व पाण्डव विपिनवासी हो गये
कष्ट से तेरह बरस कर वास कानन कुञ्ज में
छिप रहे थे सूर्य से जो वीर वारिद-पुञ्ज में
कृष्ण-मारुत का सहारा पा, प्रकट होना पड़ा
कर्म के जल में उन्हे निज दुःख सब धोना पड़ा

आप अध्वर्य्यू हुए, ब्रह्मा युधिष्ठिर को किया
कार्य होता का धनञ्जय ने स्वयं निज कर लिया
धनुष की डोरी बनी उस यज्ञ में सच्ची स्रुवा
उस महारण-अग्नि में सब तेज बल ही घी हुवा

बध्य पशु भी था सुयोधन, भार्गवादिक मंत्र थे
भीम के हुंकार ही उद्गीथ के सब तंत्र थे
रक्त-दुःशासन बना था सोमरस शुचि प्रीति से
कृष्ण ने दीक्षित किया था धनुर्वैदिक रीति से

कौरवादिक सामने, पीछे पृथासुत सैन्य है
दिव्य रथ है बीच मे, अर्जुन-हृदय में दैन्य है
चित्र हैं जिसके चरित, वह कृष्ण रथ के सारथी
चित्र ही से देखते यह दृश्य वीर महारथी

मोहिनी वंशी नही है कंज कर में माधुरी
रश्मि है रथ की, प्रभा जिसमें अनोखी है भरी
शुद्ध सम्मोहन बजाया वेणु से ब्रजभूमि में
नीरधर सी धीर ध्वनि का शख अब रणभूमि मे

नील तनु के पास ऐसी शुभ्र अश्वों की छटा
उड़ रहे जैसे बलाका, घिर रही उन पर घटा
स्वच्छ छायापथ समीप नवीन नीरद-जाल है
या खडा भागीरथी-तट फुल्ल नील तमाल है

छा गया फिर मोह अर्जुन को, न वह उत्साह था
काम्य अन्त:करण मे कारुण्य-नीर-प्रवाह था
'क्यों करें वध वीर निज कुल का सडे से स्वार्थ से
कर्म यह अति घोर है, होगा नही यह पार्थ से'

कृष्ण केवल सारथी ही थे नही रथ के वहाँ
सव्यसाची का मनोरथ भी चलाते थे वहाँ
जानकर यह भाव मुख पर कुछ हँसी सी छा गई
दन्त-अवली नील घन की वारिधारा सी हुई

कृष्ण ने हँसकर कहा—"कैसी अनोखी बात है
रण-विमुख होवें विजय! दिन में हुई कब रात है
यह अनार्यो की प्रथा सीखी कहाँ से पार्थ ने
धर्मच्युत होना बताया एक छोटे स्वार्थ ने

क्यों हुए कादर, निरादर वीर कर्मो का किया
सव्यसाची ने हृदय-दौर्बल्य क्यों धारण किया
छोड़ दो इसको, नही यह वीर जन के योग्य है
युद्ध की ही विजय-लक्ष्मी नित्य उनके भोग्य है
रोकते है मारने से ध्यान निज कुल मान के
यह सभी परिवार अपने पात्र है सम्मान के
किन्तु यह भी क्या विदित है हे विजय ! तुमको सभी
काल के ही गाल में मरकर पडे है ये कभी
नर न कर सकता कभी, वह एकमात्र निमित्त है
प्रकृति को रोके नियति, किसमें भला यह वित्त है
क्या न थे तुम, और क्या मै भी न था, पहले कभी
क्या न होंगे और आगे वीर ये सेनप सभी
आत्मा सबकी सदा थी, है, रहेगी, मान लो
नित्य चेतनसूत्र की गुरिया सभी को जान लो
ईश प्रेरकशक्ति है हृद्यत्र में सब जीव के
कर्म बतलाये गये है भिन्न सारे जीव के
कर्म जो निर्दिष्ट है, हो धीर, करना चाहिये
पर न फल पर कर्म के कुछ ध्यान रखना चाहिये
कर रहा हूँ मै, करूँगा फलग्रहण, इस ध्यान से
कर रहा जो कर्म, वह तो भ्रान्त है अज्ञान से
मारता हूँ मै, मरेंगे ये, कथा यह भ्रान्त है
ईश से विनियुक्त जीव सुयंत्र सा अश्रान्त है
है वही कर्त्ता, वही फलभोक्ता ससार का
विश्व क्रीडा-क्षेत्र है विश्वेश हृदय उदार का
रण-विमुख होगे, बनोगे वीर से कायर कहो
मरण से भारी अयश क्यों दौडकर लेना चहो
उठ खडे हो, अग्रसर हो, कर्मपथ से मत टरो
क्षत्रियोचित धर्म जो है युद्ध निर्भय हो करो"

• •

सुन सबल ये वाक्य केशव केभरे उत्साह से
तन गये डोरे दृगों के, धनुष के, अति चाह से
हो गयी फिर तो धनञ्जय की विजय उस भूमि में
प्रकट है जो कर दिखाया पार्थ ने रणभूमि में

वीर बालक

भारत का सिर आज इसी सरहिन्द में
गौरव मंडित ऊँचा होना चाहता
अरुण उदय होकर देता है कुछ पता
करुण प्रलाप करेगा भैरव घोषणा
पाञ्चजन्य बन बालक-कोमल-कठ ही
धर्म-घोषणा आज करेगा देश में
जनता है एकत्र दुर्ग के सामने

● ●

मान धर्म का बालक-युगल-करस्थ है
युगल बालकों की कोमल ये मूर्त्तियाँ
दर्पपूर्ण कैसी सुन्दर है लग रही
जैसे तीव्र सुगन्ध छिपाये हृदय मे
चम्पा की कोमल कलियाँ हो शोभती

● ●

सूबा ने कुछ कर्कश स्वर में वेग से
कहा—'सुनो बालको, न हो बस काल के
बात हमारी अब भी अच्छी मान लो
अपने लिये किवाड़े खोलो भाग्य के
सब कुछ तुम्हे मिलेगा, यदि सम्राट की
होगी करुणा, तुम लोगो के हाथ है
उसे हस्तगत करो, या कि फेको अभी
किसने तुम्हे भुलाया है? क्यों दे रहे
जानें अपनी, अब से भी यह सोच लो
यदि पवित्र इस्लाम-धर्म स्वीकार है
तुम लोगों को, तब तो फिर आनन्द है
नही, शास्ति इसकी केवल वह मृत्यु है
जो तुमको आशामय जग से अलग ही
कर देगी क्षण भर मे, सोचो, समय है
अभी भविष्यत् उज्ज्वल करने के लिये
शीघ्र समझकर उत्तर दो इस प्रश्न का'

• •

शान्त महा स्वर्गीय शान्ति की ज्योति से
आलोकित हो गया सुवदन कुमार का
पैतृक-रक्त-प्रवाह-पूर्ण धमनी हुई
शरत्काल के प्रथम शशिकला सी हँसी
फैल गई मुख पर 'जोरावरसिंह' के
कहा—'यवन! क्यों व्यर्थ मुझे समझा रहे
वाहगुरू की शिक्षा मेरी पूर्ण है
उनके चरणो की आभा हृत्पटल पर
अंकित है, वह सुपथ मुझे दिखला रही
परमात्मा की इच्छा जो हो, पूर्ण हो'
कहा घूमकर फिर लघुभ्राता से—'कहो,
क्या तुम हो भयभीत मृत्यु के गर्त्त से
गड़ने में क्या कष्ट तुम्हे होगा नहीं'
शिशु कुमार ने कहा—'बड़े भाई जहाँ,
वहाँ मुझे भय क्या है? प्रभु की कृपा से'

• •

निष्ठुर यवन अरे क्या तू यह कह रहा
धर्म यही है क्या इस निम्मंम शास्त्र का
कोमल कोरक युगल तोड़कर डाल से
मिट्टी के भीतर तू कुचला चाहता
हाय धर्म का प्रबल भयानक रूप यह
महाताप को भी उल्लघन कर गया
कितने गये जलाये, वध कितने हुऐ
निर्वासित कितने होकर कब कब नही
बलि चढ़ गये, धन्य देवि धर्मान्धते

● ●

राक्षस से रक्षा करने को धर्म की
प्रभु पाताल जा रहे है युगमूर्त्ति से
अथवा जिनकी नाल नही दिखला रही
ऐसे दो स्थलपद्म खिले सानन्द है
ईंटो से चुन दिये गये आकठ वे
बाल-बराबर भी न भाल पर, बल पड़ा—
जोरावर औ' फतहसिंह के, धन्य है—
जनक और जननी इनकी, यह भूमि भी

● ●

सूबा ने फिर कहा—'अभी भी समय है—
बचने का बालको. निकल कर मान लो
बात हमारी' तिरस्कार की दृष्टि फिर
खुलकर पड़ी यवन के प्रति, वीणा बजी—
'क्यो अन्तिम प्रभु-स्मरण-कार्य में भी मुझे
छेड़ रहे हो ? प्रभु की इच्छा पूर्ण हो'

● ●

सब आच्छादित हुआ यवन की बुद्धि सा
कमल-कोश में भ्रमर गीत सा प्रेममय
मधुर प्रणव गुञ्जरित स्वच्छ लगा, होने
शान्ति ! भयानक शान्ति ! और निस्तब्धता !

●

श्रीकृष्ण-जयन्ती

कंस-हृदय की दुश्चिन्ता सा जगत् में
अन्धकार है व्याप्त, घोर घन है उठा
भीग रहा है नीरद अपने नीर से
मन्थर गति है उनकी कैसी व्योम में
रुके हुए थे, 'कृष्ण-वर्ण' को देख लें—
जो कि शीघ्र ही लज्जित कर देगा उन्हे
जगत् आन्तरिक अन्धकार से व्याप्त है
उसका ही यह वाह्य रूप है व्योम में
उसे उजाले मे ले आने को अभी
दिव्य ज्योति प्रकटित होगी क्या सत्य ही

● ●

सुर-सुन्दरी-वृन्द भी है कुछ ताक में
हो करके चञ्चला घूमती है यहाँ—
झाँक झाँककर किसको है ये देखतीं
छिड़क रहा है प्रेमसुधा क्यों मेघ भी

किसका है आगमन अहो आनन्दमय
मधुर मेघ-गर्जन-मृदङ्ग है बज रहा
झिल्ली वीणा बजा रही है क्यों अभी
तूर्यनाद भी शिखिगण कैसे कर रहे
दौड़ दौड़कर सुमन-सुरभि लेता हुआ
पवन स्पर्श करना किसको है चाहता
तरुण तमाल लिपटकर अपने पत्र में
किसका प्रेम जताता है आनन्द से
रह रहकर चातक पुकारता है किसे—
मुक्त कंठ से, किसे बुलाता है कहो
रहो रहो यह झगडा निबटेगा तभी
छिपी हुई जब ज्योति प्रकट हो जायगी
हाँ, हाँ, नीरद-वृन्द, और तम चाहिये
कोई परदे वाला है यह आ रहा
परदा खोलेगा जो एक नया नहीं—
जगत-रङ्गशाला में, मङ्गलपाठ हो
द्विजकुल-चातक और जरा ललकार दो–
'अरे बालकों इस सोये संसार के
जाग पड़ो, जो अपनी लीला खेल में
तुम्हें बतावेंगे उस गुप्त रहस्य को—
जिसका सोकर स्वप्न देखते हो अभी
मानव-जाति बनेगी गोधन, और जो
बनकर गोपाल घुमावेंगे उन्हें—
वही कृष्ण है आते इस संसार में
परमोज्ज्वल कर देंगे अपनी कान्ति से
अन्धकारमय भव को, परमानन्दमय
कर्म-मार्ग दिखलावेंगे सब जीव को

● ●

यमुने ! अपना क्षीण प्रवाह बढा रखो
और वेग से बहो, कि चरण पवित्र से
सङ्गम होकर नील कमल खिल जायगा
व्रजकानन ! सब हरे रहो, लतिका घनी–

हो होकर तरुराजी से लिपटी रहे
कृष्णवर्ण के आश्रय होकर स्थित रहे
घन ! घेरो आकाश नीलमणि-रङ्ग से
जितना चाहो, पर अब छिपने को नही
नवल ज्योति वह, प्रकटित होगी जो अभी
भव-बन्धन के खुलो किवाड़ो ! शीघ्र ही
परम प्रबल आगमन रोक सकती नहीं
यह शृंखला, तुम्हारे में है जो लगी
दिव्य, अलौकिक हर्षं और आलोक का—
स्वच्छ स्रोत खर वेग सहित बहता रहे
खल-दृग जिसको देख न सके, न सह सकें

● ●

जलदजाल सा शीतलकारी जगत् को
विद्युद्वृन्द समान तेजमय ज्योति वह
प्रकट हुई, पपिहा-पुकार-सा मधुर औ'—
मनमोहन आनन्द विश्व में छा गया
बरस पड़े नव नीरद मोती औ' जुही

●

समर्पण

हृदय ही तुम्हे दान कर दिया।
क्षुद्र था, उसने गर्व किया॥
तुम्हे पाया अगाध गम्भीर।
कहाँ जल बिन्दु, कहाँ निधि क्षीर॥
हमारा कहो न अब क्या रहा?
तुम्हारा सब कब का हो रहा॥
तुम्हें अर्पण; औ' वस्तु त्वदीय?
छीन लो छीन ममत्व मदीय॥

●

परिचय

उषा का प्राची में आभास,
सरोरुह का सर बीच विकास ॥
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
गगन मण्डल मे अरुण विलास ॥
रहे रजनी मे कहाँ मिलिन्द ?
सरोवर बीच खिला अरविन्द ।
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
मधुर मधुमय मोहन मकरन्द ॥
प्रफुल्लित मानस बीच सरोज,
मलय से अनिल चला कर खोज ।
कौन परिचय ? था क्या सम्बन्ध ?
वही परिमल जो मिलता रोज ॥
ाग से अरुण घुला मकरन्द ।
मिला परिमल से जो सानन्द ।
वही परिचय, था वह सम्बन्ध
"प्रेम का मेरा तेरा छन्द ॥"

●

झरना

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
मनोहर झरना।

कठिन गिरि कहाँ विदारित करना
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी

कल्पनातीत काल की घटना
हृदय को लगी अचानक रटना
देखकर झरना।

प्रथम वर्षा से इसका भरना
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना

कर गई प्लावित तन मन सारा
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा
हृदय से झरना—

बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय बन्या ने किया पसारा
कर गई प्लावित तन मन सारा

प्रेम की पवित्र परछाईं में
ललसा हरित विटप झाँईं में
बह चला झरना।

तापमय जीवन शीतल करना
सत्य यह तेरी सुघराई में
प्रेम की पवित्र परछाईं में ॥

●

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में।

जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त,

भटकता है भ्रम के बन मे,
विश्व के कुसुमित कानन मे।

जब लेता हूँ आभारी हो,
बल्लरियी से दान
कलियो की माला बन जाती,
अलियों का हो गान,

विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति! तेरे आँगन मे।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार,

चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

●

प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रहीं
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से।
अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ।

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया मुझे,
खुली आँख, आनन्द दृश्य दिखला दिया।
मनोवेग मधुकर सा फिर तो गूँज के
मधुर मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।

वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की,
प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में
कैसी छबि ने बाल अरुण सी प्रकट हो
शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया।

सद्यःस्नात हुआ मै प्रेम सुतीर्थ में,
मन पवित्र उत्साह-पूर्ण सा हो गया,
विश्व, विमल आनन्द-भवन सा हो गया,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।

●

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे है सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार।
भीग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार,
अरुण किरण सम, कर से छू लो, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।

धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुख अपार,
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नही तुम्हारा द्वार,
धो डाले है इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार।
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश,
मेरे ऐसे धूल कणों से, कब तेरे पद को अवकाश !
पैरो ही से लिपटा लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार,
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।।

•

रूप

ये बंकिम भ्रू युगल, कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र चपल मद से भरे,
अरुण राग रजित कोमल हिम खण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी।

धवल स्मिति जैसे शारद घन बीच में—
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
चपला-सी है, ग्रीवा हंसी सी बढी।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रही।

मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु मे।
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही—
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता—
चीनाशुक बनकर लिपटी है अङ्ग मे।

अस्त-व्यस्त है वह भी ढँक ले कौन-सा—
अङ्ग, न जिसमे कोई दृष्टि लगे उसे।
सिंचे हुए वे सुमन सुरभि मकरन्द से—
पङ्ख तितलियो के करते है व्यजन से।

•

दो बूँदें

शरद का सुन्दर नीलाकाश,
निशा निखरी, था निर्मल हास,
बह रही छाया पथ मे स्वच्छ
सुधा सरिता लेती उच्छ्वास।
पुलक कर लगी देखने धरा,
प्रकृति भी सकी न आँखें मूँद,
सुशीतलकारी शशि आया,
सुधा की मनो बड़ी सी बूँद।

● ●

हरित किसलयमय कोमल वृक्ष,
झुक रहा जिसका पाकर भार,
उसी पर रे मतवाले मधुप!
बैठकर करता तू गुंजार।
न आशा कर तू अरे! अधीर,
कुसुम रज—रस ले लूँगा गूँद,
फूल है नन्हा सा नादान,
भरा मकरन्द एक ही बूँद।

पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी में घिर चुकी,
अब उसके कुछ बचे अंश आकाश मे
भूले भटके पथिक सदृश है घूमते।
अर्ध रात्रि में खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो बिछल पड़ा था, वह चपल—
मलयानिल भी अस्त व्यस्त है घूमता
उसे स्थान ही कहीं ठहरने को नही।
मुक्त व्योम में उडते उड़ते डाल से,
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी—
निकल निकल कर भूल या कि अनजान मे,
लगती है खोजने किसी को प्रेम से।
क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक सा चन्द्र लुढ़ककर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अत है।
रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी॥

•

वसन्त की प्रतीक्षा

परिश्रम करता हूँ अविराम, बनाता हूँ क्यारी औ कुंज।
सींचता दृग-जल से सानन्द, खिलेगा कभी मल्लिका-पुंज।

न काँटों की है कुछ परवाह, सजा रखता हूँ इन्हे सयत्न।
कभी तो होगा इनमें फूल, सफल होगा यह कभी प्रयत्न।

कभी मधु राका देख इसे, करेगी इठलाती मधुहास।
अचानक फूल खिल उठेगें, कुंज होगा मलयज-आवास।

नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा-मकरन्द।

मूक हो मतवाली ममता, खिले फूलो से विश्व अनन्त।
चेतना बने अधीर मिलिन्द, आह वह आवे विमल वसत ॥

●

वसन्त

तू आता है फिर जाता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,
जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसन्त क्यों तू आता है?
पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है फिर जाता है।
बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म व्यथा,
वह डाल डाल पर जाता है फिर ताल ताल पर गाता है।
मलयज मन्थर गति आता है,
तू आता है फिर जाता है।
जीवन की सुख दुख आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,
विकसित रसाल मुसक्याता है, कर-किसलय हिला बुलाता है।
हे वसन्त क्यो तू आता है?
तू आता है फिर जाता है।

•

किरण

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,—
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती सी तुम कौन ?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुंघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—
उषा के चंचल में अश्रान्त।

भला उस भोले मुख को छोड़,
और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य,
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधु धारा सी तरल,
विश्व मे बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक !

सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का सकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?

चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमनमन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

•

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा,
वृक्ष-पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है,
अमृत सदृश नश्वर काया मे।

अखिल विश्व के कोलाहल से,
दूर सुदूर निभृत निर्जन मे।
गोधूली के मलिनाञ्चल में,
कौन जङ्गली बैठा वन मे।

शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी,
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में,
वीणा का भी बुरा हाल है।

किसके तममय अन्तरतम में,
झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती,
चपला ले विश्राम सो रही।

किसके अन्त:करण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता;
फिर तुषार की वर्षा होती।

विषयशून्य किसकी चितवन है,
ठहरी पलक अलक में आलस!
किसका यह सूखा सुहाग है,
छिना हुआ किसका सारा रस।

निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा है स्थान धरा में,
अपने ही चरणों में गिरता।

किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है॥

●

बालू की वेला

आँख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला ।
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन में ?—न हो भीड़ का जब रेला ।
दूर ! कहाँ तक दूर ? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैने खेला ।
कहते हो 'कुछ दु.ख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम ।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस किसको किसने झेला ?
आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार, रहो ।
गलबाही दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला ।
निठुर इन्ही चरणों में मै रत्नाकर हृदय उलीच रहा ।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की वेला ॥

●

चिह्न

इस अनन्त पथ के कितने ही, छोड़ छोड़ विश्राम-स्थान,
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान।

मानवता के निर्जन बन में जड़ थी प्रकृति शान्त था व्योम,
तपती थी मध्याह्न-किरण सी प्राणो की गति लोम विलोम।

आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास,
दूर क्षितिज में जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास।

द्रुतगति से था दौड़ लगाता, चक्कर खाता पवन हताश,
विह्वल सी थी दीन वेदना, मुँह खोले मलीन अवकाश।

हृदय एक नि:श्वास फेककर खोज रहा था प्रेम-निकेत,
जीर्ण काण्ड वृक्षों के हँसकर रूखा सा करते संकेत।

बिखर चुकी थी अम्बरतल में सौरभ की शुचितम सुख धूल,
पृथ्वी पर थे बिकल लोटते शुष्क पत्र मुरझाये फूल।

गोधूली की धूसर छवि ने चित्रपटी ली सकल समेट,
निर्मल चिति का दीप जलाकर छोड़ चला यह अपनी भेंट।

मधुर आँच से गला बहावेगा शैलों से निर्झर लोक,
शान्ति सुरसरी की शीतल जल लहरी को देता आलोक।

नव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद,
स्वर्ण रत्न की तरल कांति, शिशु का स्मित या माता की गोद।

इसके तल के तम अंचल में इनकी लहरों का लघु भान,
मधुर हँसी से अस्त व्यस्त हो, हो जायेगी, फिर अवसान॥

●

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।
गिरि संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नही था उसमें मन की बात न कहता था।
इसे जाह्नवी सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है,
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है।
जला करेगा वक्षस्थल पर बहा करेगा लहरी में,
नाचेंगी अनुरक्त बीचियाँ रंजित प्रभा सुनहरी में,
तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति क्या उसको गान सुनावेगी।
देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन मे अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व समभागी हो।
किसी माधुरी स्मित सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को॥

•

अर्चना

वीणे ! पंचम स्वर में बज कर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम इस भवन में।
आश्रय ले मेरे वक्षस्थल मे तनिक।
लज्जे ! जा, बस अब न सुनूँगी एक भी—
तेरी बातों में से; तूने दुःख दिया,
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये।
यह कैसा संकोच, मन ! तुझे क्या हुआ !
बड़ी बड़ी अभिलाषाये इस हृदय ने
संचित की थी इस छोटे भाण्डार में,
लज्जावती लता सा होकर सकुचित—
जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन मन्दिर मे नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमे।

स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित है; प्रियतम के गले लगी नही।
प्रियतम ! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—
जिसमे वांछित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन ! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नही कर सका तुम्हे ! सब व्यर्थ है।
बनो न इतने निर्दय सखे ! प्रसन्न हो।
हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी दया।
तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम—यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।

●

विखरा हुआ प्रेम

अरुणोदय मे चंचल होकर, व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
मायामयी सुप्ति में सोकर, अति अधीर हो अर्धक्षेम से,
टुकड़े टुकड़े कर फेका था जीवन का निगूढ आनन्द,
नील निशा के शून्य गगन मे लो फैलाकर फिर छल छन्द,
बनकर तारा निकर मनोहर उदय हुआ वह उसी नियम से।
रिक्त हुए हम व्यर्थ फेंककर विकल हुए तम अतुल विषम से।

प्रणयी प्रणत बनूँ मै क्योंकर, दुर्बलता निज समझ, क्षोभ से,
जीवन मदिरा कैसे रोकर, भरूँ पात्र मे तुच्छ लोभ से-
हाय! मुझे निष्किञ्चन क्यो कर डाला रे! मेरे अभिमान,
वही रहा पाथेय, तुम्हारे इस अनन्त पथ का अनजान,
बूँद बूँद से सीची, पर ये, भीगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥

•

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी ?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी ?
रिक्त हो रही मधु से सौरभ सूख रहा है आतप है;
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखुड़ियाँ बिखरावेगी ?
लम्बी विश्व कथा में सुख की निद्रा सी इन आँखो में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादबिनी छटा लखकर;
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेगी ?
बढ़ उमंग-सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता;
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी ?

●

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यों परिचित हो गये ? न थे जब चाहते—
हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था
स्वयं दिखा कर सुन्दर हृदय मिला लिया

दूध और पानी सा, अव फिर क्या हुआ—
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते ?
भरा हुआ था नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया ?

शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर तुम्हे। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु-धरणी सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी आशा कानन को यही ?

चञ्चल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,
मेरी जीवन मरण समस्या हो गई।
डरते थे इसको, होते थे संकुचित
'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।'

•

असन्तोष

हरित वन कुसुमित है द्रुम-वृन्द;
बरसता है मलयज मकरन्द।
स्नेह मय सुधा दीप है चन्द,
खेलता शिशु होकर आनन्द।
क्षुद्र गृह किन्तु हुआ सुख मूल; उसी मे मानव जाता भूल।
नील नभ मे शोभन विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर, परम उदार।
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ,
बात जँजती कुछ नही यथार्थ।
जहाँ सुख मिला न उससे तृप्ति, स्वप्न सी आशा मिली सुषुप्ति।
प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुषमा का सरल विनोद,
विश्व गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार।
तुम्हारा मुक्तामय उपहार हो रहा अश्रुकणों का हार।

भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु सा तैर गया उस पार।
न हो जब मुझ को ही संतोष, तुम्हारा इसमें क्या है दोष ?

●

अनुनय

उसी स्मृति-सौरभ में मृगमन मस्त रहे
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये ।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओ से
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये ।
हो जो अवकाश तुम्हे ध्यान कभी आवे मेरा
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिये ।
क्रोध से, विषाद से, दया से पूर्व प्रीति ही से
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये ॥

●

प्रियतम !

क्यों जीवनधन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र।
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नही।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कही॥
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौप दिया।
प्रेम नही, करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।
अब से भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम।
क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम ?
स्मृति को लिये हुए अन्तर मे, जीवन कर देंगे निःशेष।
छोड़ो, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेष॥
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।
रक्खो जब तक आँखों में, फिर और ढार पर नही ढरो॥
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे।
पुतली बन कर रहे चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे॥

●

कहो ?

शिथिल शयन सम्भोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे,
प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यों होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने में, उससे कुछ न कहा जाता,
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता ॥
ऊँचे चढे हुए वीणा के तार मधुप से गूँज रहे,
पर्दा रखते है सुर पर वे मनमाने से बोल रहे।
जीवनधन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
वाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो ?

●

निवेदन

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं।।
दौड़ दौड़ कर थका हुआ है, पड़ कर प्रेम-पिपासा में।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग-मरीचिका आशा मे।।
मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत! दिखला जाओ।
अपनी आँखो के आँसू से इसको भी नहला जाओ।।
डरो नहीं, जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा।।

●

प्यास

हृदय की दारुण ज्वाला से,
हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखती प्यासी आँखें थी
रस भरी आँखों को मदघूर्ण॥
प्यास बढती ही जाती थी,
बुझाने की इच्छा थी बड़ी।
दिया उन हाथों ने प्याला,
अचञ्चल चित्त हुआ उस घड़ी॥
राग रञ्जित थी वह पेया,
उसे पीते पीते रुक गये।
प्रश्न मेरा यह उनसे था,
पूछने से वे प्रमुदित हुए॥
नशीली आँखों सदृश कहो,
तुम्हारी ही, इसमें है नशा?
"गुलाबी हल्का सा" बोले,
स्तब्ध हो रही मोह की निशा॥

मौन थे सुनकर मेरा प्रश्न,
"सदा यह बनो रहेगी भली।"
कँटीला था गुलाब चैती,
उठी चटचटा उसी की कली॥
उषा आभास चन्द्रिका मे,
पवन परिमल-परिपूरित सङ्ग॥
बढ़ रही थी प्राची में वह,
बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग॥
कहा व्याकुल हो मैने भी,
तुम्हारे कोमल कर से वही—
चाहता पीना मै प्रियतम,
नशा जिसका उतरे ही नहीं॥
हृदय की बात नवीन कली—
सदृश हम खोल कह चुके हाय!
फुल्ल मल्लिका सदृश वह भी,
चुप रहे जीवनधन मुसक्याय॥

•

पी ! कहां ?

डाल पर बोलता है पपीहा—
'हो भला प्राणधन, तुम कही—? हा !'
आ मिलो हो जहाँ।
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
प्यास से मर रहे दीन चातक
क्यों बना चाहते प्राण-घातक ?
श्यामघन ! हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
नभ-हृदय मे घिरी मेघमाला
चञ्चला कर रही है उजाला ॥
देख लूँ, हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
जलमयी हो रही यह धरा है।
कण्ठ फिर भी न होता हरा है ॥
प्यास में जल रहा।
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
"प्यास कैसी तुम्हारी ? पपीहा !
कम न हो कर बढ़ी जा रही हा ?"
लो, वही कह रहा—
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

●

पाईंबाग

सरसों के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर।
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने सुखला कर।।
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में।
परिमलपूरित पवन-कंठ से, लगने की अभिलाषा मे।।
अतल सिन्धु में लगा लगा कर जीवन की बेडी बाजी।
व्यर्थ लगाने को डुब्बी हाँ, होगा कौन भला राजी।।
मिले नही जो वांछित मुक्ता अपना कठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यो, बस केवल मर जाने को!
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर विकसेंगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह भेरे।।
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबाग बना लोगे प्रिय! इस मन को आकर।

•

प्रत्याशा

मन्द पवन बह रहा अँधेरी रात है।
आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो—
स्थित हूँ, प्रत्याशा मे मै तो प्राणधन!
शिथिल विपञ्ची मिली विरह संगीत से
बजने लगी उदास पहाड़ी रागिनी।
कहते हो—"उत्कण्ठा तेरी कपट है।"
नहीं नही उस धुँधले तारे को अभी,—
आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन-धन! मै देख रहा हूँ सत्य ही।
दिखलाई पड़ता है जो तम-व्योम में,
हिचको मत निस्सङ्ग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वयं हट जायँगे—
वे सब, आओ, मत संकोच करो यहाँ।
सुलभ हमारा मिलना है—कारण यही—
ध्यान हमारा नही तुम्हें जो हो रहा।
क्योंकि तुम्हारे हम तो करतलगत रहे
हाँ, हाँ, औरों की भी हो सम्वर्धना।

किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन !
होड़ लगाओ नही, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से।
हृदय हमारा नही हिलाने योग्य है।
चन्द्र-किरण--हिम-विन्दु--मधुर-मकरन्द से
बनी सुधा, रख दी है हीरक-पात्र मे।
मत छलकाओ इसे, प्रेम परिपूर्ण है।

●

स्वप्नलोक

स्वप्नलोक मे आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कण्ठा मे पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।
देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये
कलियों की माला विरचित की थी कि, हाँ
जब तक तुम आओगे ये खिल जायँगी।
ये सब खिलने लगीं, न हमको ज्ञात था।
आँख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रञ्जित कोमल बादल नभ में छा गये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।
हाय कली थी एक हृदय के पास ही
माला में, वह गड़ने लगी, न खिल सकी
मै व्याकुल हो उठा कि तुमको अंक में
लेलूँ, तुमने झोरी फेकी सुमन की
मस्त हुईं आँखें, सोने को जग पड़े
सुप्त सकल उद्वेग मधुरतम मोह में।।

●

दर्शन

जीवन-नाव अँधेरे अन्धड़ में चली।
अद्भुत परिवर्त्तन यह कैसा हो गया।
निर्मल जल पर सुधा भरी है चन्द्रिका,
बिछल पड़ी, मेरी छोटी सी नाव भी।
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम में—
गूँज रही है, परिमल पूरित पवन भी—
खेल रहा है जल लहरी के सङ्ग में।
प्रकृति भरा प्याला दिखलाकर व्योम मे—
बहकाती है, और नदी उस ओर ही—
बहती है। खिड़की उस ऊँचे महल की—
दूर दिखाई देती है, अब क्यों रुके—
नौका मेरी, द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किंतु किसी के मुख की छवि-किरणें घनी,
रजत रज्जु सी लिपटी नौका से वही,
बीच नदी में नाव किनारे लग गई।
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा॥

●

मिलन

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलो का स्वर विपञ्ची नाद भी
चन्द्रिका, मलयज पवन, मकरन्द औ'
मधुप माधविकाकुसुम से कुञ्ज में
मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे
आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ।
तुंगतरल तरग ऐसी उठ रही—
शीतकर शत शत उदय होने लगे।
तारिकायें नील नभ में आज ये,
फूल की झालर बनी है शोभती।
गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहे,
अन्तरिक्ष विशाल मे है मिल रही।
चन्द्र-कर पीयूष वर्षा कर रहा।
दृष्टि-पथ मे सृष्टि है आलोकमय;
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।
हृदय-वीणा कर रही प्रस्तार अब,
तीव्र पञ्चम तान की उल्लास से।
बेसुरा पिक पा नही सकता कभी,
इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता।

•

आशालता

तुम्हारी करुणा ने प्राणेश!
बनाकर नव मनमोहन वेश॥
दीनता को अपनाया,
उसी से स्नेह बढाया;
लता अज्ञात बढ चली साथ।
मिला था करुणा का शुभ हाथ॥

नित्य की सन्ध्या और प्रभात।
स्वर्णमय जब होता रवि गात॥
व्योम ने रङ्ग खिलाया,
विश्व ने व्यर्थ नहाया,
स्वर्णघट में जल भर कर कान्त।
दीनता लाती थी अश्रान्त॥

दया का स्पर्श मात्र अभिराम।
बनाता उसे, सुरभि का धाम॥
उसी जल से नहलाया,
मधुप गण को बुलवाया,
निछावर करते थे जो प्राण।
बिना फूलों के पाये घ्राण॥

बहुत दिन तक सिञ्चन का कार्य ।
हुआ करता अविरल अनिवार्य ।।
युगल ही अकुर आया,
लता ने और न पाया,
गई करुणा भी इक दिन ऊब ।
कहा अनखाकर उसने खूब ।।

"तुम्हारी आशालता सिंचाव ।
बहुत ले चुकी, न देती दाँव ।।
सीचकर क्या फल पाया,
फूल भी हाथ न आया"
नील नीरद माला की दृष्टि ।
दीनताकी, करती थी वृष्टि ।।

●

सुधासिंचन

बहुत दिन से था हृदय निराश;
और अब तो है समय नही।
व्यथा मै सब कह दूँगा आज—
सुनो प्रियतम ! रुक जाव यही ॥
मचलता है यह मन, जो प्राण !
सम्हालूँगा मै इसे नहीं।
कहे देता हूँ दूँगा छोड़—
भाग्य पर, इसको जाय कही ॥
तुम्हारा शीतल सुख—परिरम्भ,
मिलेगा और न मुझे कही।
विश्व भर का भी हो व्यवधान,
आज वह बाल बराबर नही ॥
स्फूर्ति से बदले सारी क्लान्ति
शान्ति मे भ्रान्ति न रहे कही।
हृदय-क्षत मलयज से खिल जाय
सुमन भी समता पावे नही ॥
रागिनी गावे तुङ्ग तरङ्ग
लहर सी, हृदय पयोधि यही।
घटा से निकले बस नवचन्द्र;
सुधा से सीची जाय मही ॥

•

तुम !

जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
　　परम प्रकाश हो, स्वयं ही पूर्ण काम हो !
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम
　　खेद भय रहित, अभेद, अभिराम हो।
कारण तुम्ही थे, अब कर्म हो रहे हो तुम्ही,
　　धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो,
रमणीय आप महामोदमय धाम तो भी,
　　रोम रोम रम रहे कैसे तुम राम हो ?

बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान, अनुमान के भी
　　आये जो पतङ्ग तुम्हें देखने जले गये;
बलिहारो माधुरी अनन्त कमनीयता की,
　　रूपवाले लोटने को पैरों के तले गये।
शंका लगी होने किसी को तो कोई सपने सा
　　जपने लगा है आप भूल में चले गये;
छलने के लिए तो स्वाँग बहुरूपिए के
　　तुमने अनेक लिए तुमही छले गये।

सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरन्द सा अनूप है,
मृदु मलयानिल सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिमकाल में ज्यों धूप है।
मान है तुम्हारा, अभिमान है हमारा; यह
'नही नही' करना भी 'हाँ' का प्रतिरूप है;
घूँघट की ओट में छिपा है भला कैसे कभी,
फूटकर निखर बिखरता जो रूप है।

हो कर अतृप्त तुम्हे देखने को नित्य नया
रूप दिये देता हूँ पुराना छोडने के लिए;
तुम्हे भी न होता परितोष कभी मेरे जान,
बनते ही जाते हो रहस्य जोड़ने के लिए।
कंज कामना की आँखे आलस से बन्द सोईं
चन्द उपहारो से भी मुँह मोड़ने के लिए,
बन्धन मे बँधता प्रतिज्ञा की प्रतीति किये,
तुम हँस देते, बस, उसे तोड़ने के लिए।

दीन दुखियो को देख आतुर अधीर अति
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो;
थके श्रमी जीवों के पसीने भरे सीने लग
जीने को सफल करने के लिए सोते चलो।
भूले, भोले बालकों के इस विश्व खेल में भी
लीला ही से हार और श्रम सब खोते चलो;
सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुषमा से मुख
सेवा सबकी हो, तो प्रसन्न तुम होते चलो।

•

हृदय का सौंदर्य

नदी की विस्तृत वेला शान्त,
अरुण मडल का स्वर्ण विलास;
निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।

एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीड़ा के सब छंद;
सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य;
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास।

अरुण हो सकल विश्व अनुराग
करुण हो निर्दय मानव चित्त;
उठे मधु लहरी मानस में,
कूल पर मलयज का हो वास।

•

प्रार्थना

देख लो अपनी आँखों से,
दृश्य रमणीय रूप का आज।
प्राणधन ! सच तुमको है शपथ,
तुम्हारा यह अभिनव है साज ॥
उषा सौदर्यमयी मधु कान्ति
अरुण यौवन का उदय विशेष।
सहज सुषमा मदिरा से मत्त,
अहा ! कैसा नैसर्गिक वेश !
देखकर जिसे एक ही बार,
हो गए हम भी हैं अनुरक्त।
देख लो तुम भी यदि निज रूप,
तुम्ही हो जाओगे आसक्त !
दृष्टि फिर गई तुम्हारी, किया—
सृष्टि ने मधु धारा में स्नान।
बह चली मंदाकिनी मरन्द—
भरी, करती कोमल कल गान ॥
प्रार्थना अन्तर की मेरी—
यही जन्मान्तर की हो उक्ति।
"जन्म हो, निरखूँ तव सौदर्य
मिले इंगित से जीवनमुक्ति ॥"

●

होली की रात

बरसते हो तारों के फूल
छिपे तुम नील पटी में कौन ?
उड़ रही है सौरभ की धूल
कोकिला कैसे रहती मौन।

चाँदनी धुली हुई है आज
बिछलते है तितली के पंख।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती है तान असंख।

तरल हीरक लहराता शान्त
सरल आशा सा पूरित ताल।
सिताबी छिड़क रहा विधु कान्त
बिछा है सेज कमलिनी जाल।

पिये, गाते मनमाने गीत
टोलियाँ मधुपों की अविराम।
चली आती, कर रही अभीत
कुमुद पर बरजोरी विश्राम।

उड़ा दो मत गुलाल सी हाय
अरे अभिलाषाओं की धूल।
और ही रंग नही लग लाय
मधुर मंजरियाँ जावें झूल ॥

विश्व मे ऐसा शीतल खेल
हृदय में जलन रहे, क्या बात !
स्नेह से जलती ज्वाला झेल
बना ली हाँ, होली की रात ॥

●

झील में

झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-बनशाली तट की कान्त।
चन्द्रमा नभ मे हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥

तृप्ति मे आशा बढती थी,
चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त।
गगन मे सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥

निभृत था, पर हम दोनों में
वृत्तियाँ रह न सकी फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
"मिलेगा कब ऐसा एकान्त?"

हाथ में हाथ लिया मैने,
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल
हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त॥

झील, झाईं, नभ, शशि, तारा,
विटप इगित करते अश्रान्त।
तारिका तरल झलकती थी,
अष्टमी के शारदशशि प्रान्त॥

●

रत्न

मिल गया था पथ में वह रत्न ।
किन्तु मैने फिर किया न यत्न ।।

पहल न उसमे था बना,
चढ़ा न रहा खराद ।
स्वाभाविकता मे छिपा,
न था कलंक विषाद ।।

चमक थी, न थी तड़प की झोंक ।
रहा केवल मधु स्निग्धालोक ।।
मूल्य था मुझे नहीं मालूम ।
किन्तु मन लेता उसको चूम ।।

उसे दिखाने के लिए,
उठता हृदय कचोट ।
और रुके रहते सभय,
करे न कोई खोट ।।

बिना समझे ही रख दे मूल्य ।
न था जिस मणि के कोई तुल्य ।।
जान कर के भी उसे अमोल ।
बढ़ा कौतूहल का फिर तोल ।।

मन आग्रह करने लगा,
लगा पूछने दाम।
चला आँकने के लिए,
वह लोभी बे काम॥

पहन कर किया नही व्यवहार।
बनाया नहीं गले का हार॥

•

कुछ नहीं

हँसी आती है मुझको तभी,
जब कि यह कहता कोई कही—
अरे सच, वह तो है कंगाल,
अमुक धन उसके पास नही।

सकल निधियो का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास,
उसे आवश्यकता ही नही।

और तुम लेकर फेंकी वस्तु,
गर्व करते हो मन में तुच्छ,
कभी जव ले लेगा वह उसे,
तुम्हारा तब सब होगा नही।

तुम्ही तब हो जाओगे दीन,
और जिसका सब संचित किए,
साथ बैठा है सब का नाथ,
उसे फिर कमी कहाँ की रही ?

शान्त रत्नाकर का नाविक,
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदु हास,
और तुम कहते हो कुछ नही।

●

आदेश

कौन कहता है कानों, में
किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे
इसी में बनते है विद्वान॥
शुद्ध मानस की लहरी लोल,
पंक्तियाँ पावन लिखी विचित्र।
छोड़ ममता पढ ले इसको,
यही है शुभ आदेश महान॥
तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहि-मित का यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन-घट मे,
द्वन्द्व का विष मत कर तू पान॥
प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान॥
दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तव सम्मान॥

●

देवबाला

दूर कृत्रिमते ! यहाँ मत आ री,
यहाँ एकत्रित सरलता सारी।
न छूना इसको नव कुहक शीला,
चचले ! यह तो विमल विधु लीला ॥

सात रंगों का इन्द्रधनु क्या है,
छिपेगा क्षण मे, कभी ठहरा है।
नई कोंपल पर किरण माला सी,
खेलती है यह देवबाला सी ॥

सुवासित जल भी बिगड जाता है,
सुमन सौरभ क्या न उड़ जाता है।
शिशिर बूँदो में चमक रहती है,
ताप रविकर का न सह सकती है ॥

सुरसरी की यह विमल धारा है,
स्नेह नभ की यह नवल तारा है।
शील निधि का यह सुढर मोती है,
मधुरिमा इतनी कहाँ होती है ?

●

कसौटी

तिरस्कार कालिमा कलित है,
अविश्वास सी पिच्छल है।
कौन कसौटी पर ठहरेगा ?
किसमें प्रचुर मनोबल है ?

तपा चुके हो विरह वह्नि में,
काम जँचाने का न इसे।
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम !
तुमको शंका केवल है ॥

बिका हुआ है जीवन धन यह
कब का तेरे हाथो में।
बिना मूल्य का, है अमूल्य यह
ले लो इसे, नही छल है ॥

कृपा कटाक्ष अलम् है केवल,
कोरदार या कोमल हो।
कट जावे तो सुख पावेगा,
बार बार यह विह्वल है ॥

सौदा कर लो बात मान लो,
फिर पीछे पछता लेना।
खरी वस्तु है, कही न इसमें
बाल बराबर भी बल है ॥

●

अतिथि

हृदय गुफा थी शून्य,
रहा घर सूना।
इसे बसाऊँ शीघ्र,
बढ़ा मन दूना॥
अतिथि आ गया एक,
नही पहचाना।
हुए नहीं पद शब्द,
न मैने जाना॥
हुआ बड़ा आनन्द,
बसा घर मेरा।
मन को मिला विनोद,
कर लिया घेरा॥
उसको कहते "प्रेम"
अरे अब जाना।
लगे कठिन नख रेख,
तभी पहचाना॥
अतिथि रहा वह किन्तु
ना घर बाहर था।
लगा खेलने खेल,
अरे, नाहर था॥

•

सुधा में गरल

सुधा में मिला दिया क्यों गरल।
पिलाया तुमने कैसा तरल ॥
माँगा होकर दीन,
कंठ सींचने के लिए;
गर्म झील का मीन,
निर्दय, तुमने कर दिया ॥

सुना था तुम हो सुन्दर! सरल।
सुधा में मिला दिया क्यों गरल ॥
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली ॥
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज छोर में चन्द्र था।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये।
हमें जाने की आज्ञा मिली।
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली ॥

विजन बन, आधी रजनी गई।
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गई॥
थो मुझको अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गई कौमुदी—
राह मे ही; वह भी है नई।
विजन बन आधी रजनी गई॥

●

उपेक्षा करना

किसी पर मरना यही तो दुःख है !
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है;
यही प्रार्थना हमारी ।
हमारे उर में न सुख पाओगे;
मिला है किसको कहाँ जाओगे ?
चपल यह चाल तुम्हारी ।
स्वच्छ आलोकित दीप बलता है,
पखयुत कीड़ा सतत जलता है,
वही है दशा हमारी ।
मोह या बदला ! कौन कह सकता,
प्रेम या पीड़ा ! कौन सह सकता;
न हो वह दशा तुम्हारी ।
जलन छाती की बड़ी सहता हूँ,
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ;
बड़ी हो दया तुम्हारी ।
तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो;
तुम्हे है शपथ हमारी ॥

●

वेदने ठहरो !

सुखद थी पीड़ा, हृदय की क्रीड़ा,
प्राण में भरी भयानक भक्ति।
मनोहर मुख था, न मुझको दुख था;
रही विप्रयोग में न विरक्ति।

वेदना मिलती, औषधी घुलती,
मिलन का स्वप्न कराता भान।
नवल निद्रा का, मधुर तन्द्रा का,
व्यथा आरम्भ, वही अवसान।

न मुझसे अडना, कहाँ का लड़ना;
प्राण है केवल मेरा अस्त्र।
वेदने ठहरो! कलह तुम न करो;
नहीं तो कर दूँगा निःशस्त्र॥

●

धूल का खेल

धूप थी कड़ी पवन था उष्ण;
धूलि की भी थी कमी नही।
भूल कर विश्व, खेल में व्यस्त;
रहे हम उस दिन कभी कही॥

विमल उल्लास, न वह कथनीय;
न बाधा उसमें कही रही।
न था उद्‌देश्य, न था परिणाम;
मिलेगा वह आनन्द कही॥

शरद की शान्त नदी के खेल
सदृश होता अनुभूत वही।
खेल की नाव जहीं ले जाय,
रुकावट तो थी कही नही॥

प्रलोभन पुञ्ज समादर सहित;
दिये थे तुमने कौन नही।
अक में लिया, वक्ष था शीत
तुम्हारा, हिम से बढ़ा कही॥

उष्ण निश्वास हुआ सहसा;
तुम्हारा पहले रहा नही।
तुम्हारी गोद न अच्छी लगी;
उतरने को मचला तब ही ॥

धूल का खेल, खेलने लगे;
किन्तु वह क्रीड़ा ही न रही।
बोझ हो गया, सरल आनन्द;
मिलेगा फिर अब हमे कही ?

●

बिन्दु

रे मन !

न कर तू कभी दूर का प्रेम।
निष्ठुर ही रहना, अच्छा है, यही करेगा क्षेम॥

देख न,

यह पतझड़ बसन्त एकत्रित मिला हुआ संसार।
किसी तरह से उदासीन ही कट जाना उपकार॥

या फिर,

जिसे चाह तू, उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर॥

लेकिन

परदेसी की प्रीति उपजती अनायास ही आय।
नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूँ क्या हाय॥

●

बिन्दु

आज इस घन की अँधियारी में,
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी में ?
हँस कर बिजली सी चमका कर हमको कौन रुलाता,
बरस रहे हैं ये दोनों हग कैसे हरियाली में ?

●

बिन्दु

हृदय में छिप रहे इस डर से
उसको भी तो छिपा लिया था, नही प्रेम रस बरसे ॥
लगे न स्नेह कभी इसको भी बिछल पड़े न सुपथ से ।
मुक्त आवरण हो देखे न मनोहर कोई रथ से ॥
पर कैसी अपरूप छटा लेकर आये तुम प्यारे ।
हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे ॥

●

बिन्दु

सुमन, तुम कली बने रह जाओ,
ये भौरे केवल रस-लोभी इन्हे न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते॥
फूल जाते किस आशा पर कहो न क्या फल पाते।
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम रस क्यो बरबस हो खोते।
कितनों ही को देखा तुम सा, हँसते है फिर रोते॥
सूखी पंखड़ियों को देखो, इन्हे भूल मत जाओ।
मिला विकसने का प्रसाद यह, सोचो मन में लाओ॥

●

बिन्दु

अमा को करिये सुन्दर राका।
फैले नव प्रकाश जीवनधन ! तव मुखचन्द्र-विभा का ।।
मेरे अन्तर में छिप कर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय—मरुत हो, फहरे प्रेम पताका ।।

●

बिन्दु

आया देखो विमल बसन्त।
समय सुहाया कैसा आया सुन्दर—तर श्रीमन्त।
मन-रसाल की मुकुल माल जीवन धन, कैसी आज—
कोमल बनी, अहा! देखो तो अच्छा बना समाज।
मलयानिल पर बैठे आओ धीरे धीरे नाथ।
हँसते आओ सुमन सभी खिल जायें जिसके साथ।
मत झुकना, हम स्वयं खड़े है माला लेकर राज!
कोकिल प्राण पंचमी स्वर-लहरी में गाता आज॥

●

बस गयी एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

ये सब स्फुलिङ्ग है मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न है केवल
मेरे उस महा मिलन के।

शीतल ज्वाला जलती है
इंधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ साँस चल चल कर
करती है काम अनिल का।

बाडवज्वाला सोती थी
इस प्रणयसिंधु के तल में
प्यासी मछली सी आँखें
थी विकल रूप के जल में।

बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।

छिल छिल कर छाले फोड़े
मल मल कर मृदुल चरण से
धुल धुल कर बह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलको का लगना।

इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलको की उलझन मे
आँसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास पवन मे।

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीडा।

सुख आहत शान्त उमंगें
बेगार साँस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में।

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

अवकाश भला है किसको,
सुनने को करुण कथाएँ
बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी है सुप्त व्यथाएँ

आँसू ॥ ३०५॥

जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
उडती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी ?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।

मेरे क्रन्दन मे बजती
क्या वीणा, जो सुनते हो
धागो से इन आँसू के
निज करुणापट बुनते हो।

रो रोकर सिसक सिसक कर
कहता मै करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मै बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरदमाला,
पा कर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।

घिर जाती प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आ कर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुस्क्याता था आँगन मे
हाँ, कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में ?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर !
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मग के ।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढाये ।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मै इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यों स्वप्न सबेरे ।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको ।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आती
मिलती है गले लहर से ।

मै अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को ।

निर्झर सा झिर झिर करता
माधवी कुन्ज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र मुग्ध माया में।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछा कर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।

घन मे सुन्दर बिजली सी
बिजली मे चपल चमक सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी

प्रतिमा में सजीवता सी
बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

माना कि रूप सीमा है
सुन्दर ! तव चिर यौवन में
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ?

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ?

तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
कालापानी वेला सी
है अञ्जन रेखा काली।

अंकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।

कोमल कपोल पाली में
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं में बल देखा।

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने की मुद्रा ऐसे ?

विकसित सरसिज वन-वैभव
मधु-ऊषा के अचल में
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल मे !

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलयसे पुरइन के
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?

थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि सर की नव लहरी ?

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी !

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

वह रूप रूप ही केवल
या रहा हृदय भी उसमें
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर मुझमें।

मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थीं उनकी अलकें
पी ली मधु मदिरा किसने
थीं बन्द हमारी पलकें।

ज्यो ज्यों उलझन बढती थी
बस शान्ति विहँसती बैठी
उस बन्धन मे सुख बँधता
करुणा रहती थी ऐंठी।

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाँही डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती—
मधुपों की तान निराली।

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलों के अधर विहँसते
मकरन्द भार से दब कर
श्रवणो मे स्वर जा बसते।

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोके
मुख चन्द्र चाँदनी जल से
मै उठता था मुँह धोके।

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र हृदय मे होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भींगा होता।

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्ज में मेरे
चाँदनी शिथिल अलसायी
सुख के सपनों से तेरे।

लहरों में प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पी कर
लुढ़का दी तुमने प्याली।

किञ्जल्क जाल है बिखरे
उड़ता पराग है रूखा
है स्नेह सरोज हमारा
विकसा, मानस में सूखा।

छिप गयी कहाँ छू कर वे
मलयज की मृदुल हिलोरें
क्यों घूम गयी हैं आ कर
करुणा कटाक्ष की कोरें।

विस्मृति है, मादकता है
मूर्च्छना भरी है मन में
कल्पना रही, सपना था
मुरली बजती निर्जन में।

हीरे सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिमशीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह से जलने।

अलियों से आँख बचा कर
जब कंज संकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक एक को रोते।

जल उठा स्नेह, दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

नीरव मुरली, कलरव चुप
अलिकुल थे बन्द नलिन में
कालिन्दी बही प्रणय की
इस तममय हृदय पुलिन मे।

कुसुमाकर रजनी के जो
पिछले पहरों में खिलता
उस मृदुल शिरीष सुमन सा
मै प्रात धूल में मिलता।

व्याकुल उस मधु सौरभ से
मलयानिल धीरे धीरे
निश्वास छोड़ जाता है
अब विरह तरङ्गिनि तीरे।

चुम्बन अकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता
मै कोरी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।

श्यामल अंचल धरणी का
भर मुक्ता आँसू कन से
छूँछा बादल बन आया
मै प्रेम प्रभात गगन से।

विष प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी नयन में
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में।

कामना सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी छाई
रतनाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाईं।

छायानट छवि-परदे मे
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या-कुहुकिनि-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता।

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते
थे, उतरे हुए नशे से।

अम्बर असीम अन्तर में
चञ्चल चपला से आकर
अब इन्द्रधनुष सी आभा
तुम छोड़ गये हो जाकर।

मकरन्द मेघ माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।

है हृदय शिशिरकण पूरित
मधु वर्षा से शशि! तेरी
मन मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा
मै सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आँसू धारा

मधु मालतियाँ सोती है
कोमल उपधान सहारे
मै व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे।

निष्ठुर ! यह क्या छिप जाना ?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

जब शान्त मिलन सन्ध्या को
हम हेम जाल पहनाते
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते।

अब छुटता नही छुड़ाये
रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा !

कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्ति बन तेरी
खिचती है हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी।

मणि दीप लिये निज कर में
पथ दिखलाने को आये
वह पावक पुञ्ज हुआ अब
किरनों की लट बिखराये।

चढ़ गयी और भी ऊँची
रूठी करुणा की वीणा
दीनता दर्प बन बैठी
साहस से कहती पीड़ा

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर—छक कर मेरी
अब लाल आँख दिखलाकर
मुझको ही तुमने फेरी।

नाविक! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया।

उस पार कहाँ फिर जाऊँ
तम के मलीन अञ्चल में
जीवन का लोभ नहीं, वह
वेदना छद्म मय छल में।

प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है।
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड़ रहा है।

अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूँगा मै क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

तिरती थी तिमिर उदधि में
नाविक! यह मेरी तरणी
मुख चन्द्र किरण से खिंचकर
आती समीप हो धरणी।

सूखे सिकता सागर में
यह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता
मथ डाला किस तृष्णा से
तल में बड़वानल जलता।

निश्वास मलय में मिल कर
छाया पथ छू आयेगा
अन्तिम किरणें बिखरा कर
हिमकर भी छिप जायेगा।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कही तुम्हें तो
ग्रहपथ में टकराऊँगा।

इस यान्त्रिक जीवन मे क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती थी ज्योति भरी सी।
तेरी सजीवता ममता।

है चन्द्र हृदय मे बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अगारे।

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतंग से मिलता
जलने की दीन दशा मे
वह फूल सदृश हो खिलता!

इस गगन यूथिका वन में
तारे जूही से खिलते
सित शतदल से शशि तुम क्यों
उनमें जाकर हो मिलते?

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरंद भरी खिल जायें
तोड़ी जाये बेमन की।

यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
चुपचाप चू पडे जीते!

सब सुमन मनोरथ अञ्जलि
बिखरा दी इन चरणों में
कुचलो न कीट सा, इनके
कुछ है मकरन्द कणों मे।

निर्मोह काल के काले—
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुख मय जीवन रेखा।

दुख सुख में उठता गिरता
ससार तिरोहित होगा
मुड़ कर न कभी देखेगा
किसका हित अनहित होगा।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल से।

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा
सन्ध्या की घन अलकों में।

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुख दोनो ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे।

अवकाश असीम सुखों से
आकाश तरंग बनाता
हँसता सा छायापथ में
नक्षत्र समाज दिखाता।

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती।

धरणी दुख माँग रही है
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।

इतना सुख जो न समाता
अन्तरिक्ष में, जल थल में
उनकी मुट्ठी में बन्दी
था आश्वासन के छल में।

दुख क्या था उनको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे
सोते में चुम्बन लेकर
जब रोम तनिक सा जागे।

सुख मान लिया करता था
जिसका दुख था जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन में।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख द्रुम दल हिलने से
श्रृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।

हो उदासीन दोनों से
दुख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें।

चढ जाय अनन्त गगन पर
वेदना जलद की माला
रवि तीव्र ताप न जलाये
हिमकर का हो न उजाला।

नचती है नियति नटी सी
कन्दुक-क्रीड़ा सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

सन्ध्या की मिलन प्रतीक्षा
कह चलती कुछ मनमानी
ऊषा की रक्त निराशा
कर देती अन्त कहानी।

"विभ्रम मदिरा से उठकर
आओ तम मय अन्तर में
पाओगे कुछ न, टटोलो
अपने बिन सूने घर मे।

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे—आओगे
इस बढी व्यथा को मेरी
रोओगे अपनाओगे।"

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहो भुवन मे
सुख कही न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में।

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों मे निद्रा
बनकर सपना होता है।

निशि, सो जावें जब उर में
ये हृदय व्यथा आभारी
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी।

तुम स्पर्श हीन अनुभव सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम-लता सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।

सपनो की सोनजुही सब
बिखरें, ये बन कर तारा
सित सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गङ्गा की धारा

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में
विस्मृति का नील नलिन रस
बरसो अपाङ्ग के घन से।

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी
तम तुहिन बरस दो कन कन
यह पगली सोये अब भी।

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ सा
चिन्ता छुट जाय विपद की।

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

रजनी की रोई आँखे
आलोक बिन्दु टपकाती
तम की काली छलनाएँ
उनको चुप चुप पी जाती।

सुख अपमानित करता सा
जब व्यङ्गय हँसी हँसता है
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता है।

अपने आँसू की अञ्जलि
आँखों में भर क्यो पीता
नक्षत्र पतन के क्षण मे
उज्ज्वल होकर है जीता।

वह हँसी और यह आँसू
घुलने दे—मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे।

चुन चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जन-रञ्जन-करी कथाएँ।

जब नील निशा अञ्चल में
हिमकर थक सो जाते हैं
अस्ताचल की घाटी में
दिनकर भी खो जाते हैं।

नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गङ्गा की धारा में
बिजली बन्दी होती जब
कादम्बिनी की कारा में।

मणिदीप विश्व-मन्दिर की
पहने किरणों को माला
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

उत्ताल जलधि वेला मे
अपने सिर शैल उठाये
निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती में जलन छिपाये।

सकेत नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये
जब सोती गहन गुफा मे
चञ्चल लट को छिटकाये।

वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व वेदना बाला
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला!

इस व्यथित विश्व पतझड़ की
तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे! सदा सुहागिनि
मानवता सिर की रोली।

जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला सी।

जगद्वन्दों के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला
किरणों के केसर रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

तेरे प्रकाश में चेतन—
ससार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

उसमें धुँधली छायाएँ
परिचय अपना देती हैं
रोदन का मूल्य चुकाकर
सब कुछ अपना लेती है।

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय को
कल्याणी शीतल ज्वाला।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन· है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खड़ी अमरता।

वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन मे
फिर मधुर भावनाओ का
कलरव हो इस जीवन मे।

मेरी आहो मे जागो
सुस्मित मे सोने वाले
अधरो से हँसते हँसते
आँखो से रोने वाले।

इस स्वप्नमयी ससृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मगल किरणो से रञ्जित
मेरे सुन्दरतम जागो।

अभिलाषा के मानस मे
सरसिज सी आँखे खोलो
मधुपों से मधु गुञ्जारो
कलरव से फिर कुछ बोलो।

आशा का फैल रहा है
यह सूना नीला अञ्चल
फिर स्वर्ण-सृष्टि सी नाचे
उसमे करुणा हो चंचल

मधु ससृति की पुलकावलि
जागो, अपने यौवन मे
फिर से मरन्द उद्‌गम हो
कोमल कुसुमो के वन मे।

फिर विश्व माँगता होवे
ले नभ की खाली प्याली
तुम से कुछ मधु की बूँदें
लौटा लेने को लाली।

फिर तम प्रकाश झगड़े में
नवज्योति विजयिनी होती
हँसता यह विश्व हमारा
बरसाता मंजुल मोती।

प्राची के अरुण मुकुर मे
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूँ
अपनी आँखों का तारा।

कुछ रेखाएँ हों ऐसी
जिनमें आकृति हो उलझी
तब एक झलक! वह कितनी
मधुमय रचना हो सुलझी।

जिसमें इतराई फिरती
नारी निसर्ग सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता।

आँखों का निधि वह मुख हो
अवगुण्ठन नील गगन सा
यह शिथिल हृदय ही मेरा
खुल जावे स्वय मगन सा।

मेरी मानसपूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो
झरता अनन्त यौवन मधु
अम्लान स्वर्ण शतदल हो।

कल्पना अखिल जीवन की
किरनो से दृग तारा की
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धारा की।

वेदना मधुर हो जावे
मेरी निर्दय तन्मयता
मिल जावे आज हृदय को
पाऊँ मैं भी सहृदयता।

मेरी अनामिका सङ्गिनि!
सुन्दर कठोर कोमलते!
हम दोनों रहें सखा ही
जीवन-पथ चलते चलते।

ताराओं की वे राते
कितने दिन—कितनी घड़ियाँ
विस्मृति में बीत गईं वे
निर्मोह काल की कड़ियाँ।

उद्वेलित तरल तरंगें
मन की न लौट जावेंगी
हाँ, उस अनन्त कोने को
वे सच नहला आवेंगी।

जल भर लाते है जिसको
छूकर नयनो के कोने
उस शीतलता के प्यासे
दीनता दया के दोने।

फेनिल उच्छ्वास हृदय के
उठते फिर मधुमाया मे
सोते सुकुमार सदा जो
पलकों की सुख-छाया में।

आँसू वर्षा से सिंचकर
दोनों ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी मे
जीवन द्रव अमल भरा हो।

जैसे सरिता के तट पर
जो जहाँ खड़ा रहता है
विधु का आलोक तरल पथ
सन्मुख देखा करता है।

जागरण तुम्हारा त्यों ही
देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूँदों से भी
हर लेता सब पंकिलता।

इस छोटी सी सीपी में
रत्नाकर खेल रहा हो
करुणा की इन बूँदों में
आनन्द उँड़ेल रहा हो।

मेरे जीवन का जलनिधि
बन अंधकार उर्मिल हो
आकाशदीप सा तब वह
तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

है पडी हुई मुँह ढक कर
मन की जितनी पीडाएँ
वे हँसने लगें सुमन सी
करती कोमल क्रीड़ाएँ।

तेरा आलिंगन कोमल
मृदु अमरबेलि सा फैले
धमनी के इस बंधन मे
जीवन ही हो न अकेले।

हे जन्म जन्म के जीवन
साथी ससृनि के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख मे।

जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।

सपनों की सुख छाया में
जब तन्द्रालस संसृति है
तुम कौन सजग हो आई
मेरे मन में विस्मृति है!

तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर जीवनसगिनि
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने ! अश्रुमयि रङ्गिनि !

जब तुम्हे भूल जाता हूँ
कुड्मल किसलय के छल मे
तब कूक हूक सी बन तुम
आ जातीं रंगस्थल मे।

बतला दो अरे न हिचको
क्या देखा शून्य गगन में
कितना पथ हो चल आई
रजनी के मृदु निर्जन मे !

सुख तृप्त हृदय कोने को
ढँकती तमश्यामल छाया
मधु स्वप्निल ताराओं की
जब चलती अभिनय माया।

देखा तुमने तब रुक कर
मानस कुमुदो का रोना
शशि किरणो का हँस हँसकर
मोती मकरन्द पिरोना।

देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने को ललचाना
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ उठ कर गिर जाना।

मुँह सिये, झेलती अपनी
अभिशाप ताप ज्वालाएँ
देखी अतीत के युग की
चिर मौन शैल मालाएँ।

जिनपर न वनस्पति कोई
श्यामल उगने पाती है
जो जनपद परस तिरस्कृत
अभिशप्त कही जाती है।

कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी
फिर देखा उड़ जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।

फिर उन निराश नयनों की
जिनके आँसू सूखे हैं
उस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं।

सूखी सरिता की शय्या
वसुधा की करुण कहानी
कूलों में लीन न देखी
क्या तुमने मेरी रानी?

सूनी कुटिया कोने में
रजनी भर जलते जाना
लघु स्नेह भरे दीपक का
देखा है फिर बुझ जाना।

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

●

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर !

शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर ठहर !

उठ उठ गिर गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार—
भर जाती अपनी तरल-सिहर !

तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर !

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे !
आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप-चाँप कर उन्हे नही—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिह्न सी बन कर यही पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे; पहचानो तो मै हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्ही अधरो से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो।

❀ ❀

तुम हो कौन और मै क्या हूँ ?
इसमे क्या है धरा, सुनो,
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

•

मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन-इतिहास—
यह लो, करते ही रहते है अपना व्यङ्ग्य-मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती!
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मै।
भूले अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मै स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया?
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यो मेरी कन्था की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नही कि औरों की सुनता मै मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म कथा?
अभी समय भी नही—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

•

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुञ्ज !
जगत नश्वरता से लघु त्राण, लता, पादप सुमनों के पुञ्ज !
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे ससार।

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुञ्जों मे तल्लीन, दर्शनो के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के सवाद।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करती थी सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव सुलभ दुलार।
दु:ख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक सवाद, तथागत आया तेरे द्वार।

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति जल की वह शीतल बाढ, जगत की ज्वाला करती शात ।
तिमिर का हरने को दुख भार, तेज अमिताभ अलौकिक कात ।
देव कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियो से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव बन्ध, तुम्हे है यह पूरा अधिकार ।

अरी बरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार ।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मो का व्यापार ।
विश्व मानवता का जय घोष, यही पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र ।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि चन्द्र ।

अरी बरुणा की शात कछार !
तपस्वो के विराग की प्यार !

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार ।
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार ।
आज कितनी शताब्दियो बाद, उठी ध्वसो मे वह झंकार ।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार ।*

---

* मूलगन्ध कुटी विहार के उपलक्ष में ।

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी।
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँत घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु सी पड़े दिखाई,
दुख सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम विश्राम क्षितिज वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

●

हे सागर सङ्गम अरुण नील !

अतलान्त महा गंभीर जलधि—
तज कर अपनी यह नियत्त अवधि,

लहरों के भीषण हासो में,
आकर खारे उच्छ्वासो में

युग युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील।

पिङ्गल किरनों सी मधु-लेखा,
हिमशैल बालिका को तूने कब देखा !

कलरव सगीत सुनाती,
किस अतीत युग की गाथा गाती आती।

आगमन अनन्त मिलन बनकर—
बिखराता फेनिल तरल खील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील !

आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,

देवलोक की अमृत कथा की माया—
छोड़ हरित कानन की आलस छाया—

विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना—

निस्सीम व्योम तल नील अक में—
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील ?
हे सागर सङ्गम अरुण नील !

●

उस दिन जब जीवन के पथ में,

छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अनजाने निकट नगर में,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,

लोगों की आँखे ललचाईं,
स्वयं माँगने को कुछ आईं,
मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना सञ्चित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगी ठिठोली;
हृदयों ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,

छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता;
स्वयं चकित सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन !

उस दिन जब जीवन के पथ मे,

मधु-मङ्गल की वर्षा होती,
काँटो ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन ।

•

बीती विभावरी जाग री!

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,

लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—

तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!

●

ऊषा सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है।

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन—
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगराई है।

लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
सागर का उद्वेलित अञ्चल।
है पोंछ रहा आँखे छलछल,
किसने यह चोट लगाई है?

●

आह रे, वह अधीर यौवन !

मत्त मारुत पर चढ़ उद्भ्रान्त,
बरसने ज्यों मदिरा अश्रान्त—
सिन्धु बेला सी घन मंडली,
अखिल किरनों को ढँक कर चली,
भावना के निस्सीम गगन,
बुद्धि चपला का क्षण नर्तन—
चूमने को अपना जीवन,
चला था वह अधीर यौवन !

आह रे, वह अधीर यौवन !

अधर में वह अधरो की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों मे आलिङ्गन मयी—
वेदना लिये व्यथाएँ नयी,
टूटते जिससे सब बन्धन,
सरस सीकर से जीवन-कन,
बिखर भर देते अखिल भुवन,
वही पागल अधीर यौवन !

आह रे, वह अधीर यौवन !

मधुर जीवन के पूर्ण विकास,
विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम विकास,
ठहर, भर आँखो देख नयी—
भूमिका अपनी रगमयी,
अखिल की लघुता आई बन—
समय का सुन्दर वातायन,
देखने को अदृष्ट नर्तन।
अरे अभिलाषा के यौवन !
आह रे, वह अधीर यौवन !!

•

तुम्हारी आँखों का बचपन !

खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस हँस कर मन,
आह रे, वह व्यतीत जीवन !

तुम्हारी आँखों का बचपन !

साथ ले सहचर सरस वसन्त,
चंक्रमण करता मधुर दिगन्त,
गूँजता किलकारी निस्वन,
पुलक उठता तब मलय-पवन।

तुम्हारी आँखो का वचपन !

स्निग्ध संकेतों में सुकुमार,
बिछल, चल थक जाता तब हार,
छिड़कता अपना गीलापन,
उसी रस में तिरता जीवन।

तुम्हारी आँखों का बचपन !

आज भी है क्या नित्य किशोर—
उसी क्रीड़ा में भाव विभोर—
सरलता का वह अपनापन—
आज भी है क्या मेरा धन !

तुम्हारी आँखों का बचपन !

●

अब जागो जीवन के प्रभात !

वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात !

अब जागो जीवन के प्रभात !

तम-नयनो की तारायें सब—
मुँद रही किरण दल मे है अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात !

अब जागो जीवन के प्रभात !

रजनी की लाज समेटी तो,
कलरव से उठ कर भेंटो तो,
अरुणांचल में चल रही वात !
जागो अब जीवन के प्रभात !

●

कोमल कुसुमो की मधुर रात !

शशि-शतदल का यह सुख विकास,
जिसमें निर्मल हो रहा हास,
उसकी साँसों का मलय वात !

कोमल कुसुमो की मधुर रात !

वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल-घूँघट ढँक रहा दन्त,
कँप कँप चुप चुप कर रही बात

कोमल कुसुमो की मधुर रात !

नक्षत्र-कुमुद की अलस माल,
वह शिथिल हँसी का सजल जाल—
जिसमे खिल खुलते किरन पात।

कोमल कुसुमो की मधुर रात !

कितने लघु-लघु कुड्मल अधीर,
गिरते बन शिशिर-सुगन्ध-नीर,
हो रहा विश्व सुख-पुलक गात।

●

कितने दिन जीवन जल-निधि में—

विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी, कूल चूमने चल कर
उठती गिरती सी रुक रुक कर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में !

कितनी मधु-संगीत-निनादित
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गावेगी वञ्चित !
पागल सी इस पथ निरवधि में !

दिनकर हिमकर तारा के दल
इसके मुकुर वक्ष मे निर्मल
चित्र बनायेगें निज चंचल !
आशा की माधुरी अवधि में !

●

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?

जब सावन-घन सघन-बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे !

सुरधनु रंजित नवजलधर से—
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जव सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली—
बरस रही थी जब हरियाली—
रस जलकन मालती मुकुल से—
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

●

लहर ॥ ३५३ ॥

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे !

जिससे कन कन मे स्पन्दन हो,
मन मे मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—
वह जीवन गीत सुना जा रे !

खिच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमे अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मिति का चित्र बना जा रे !

•

जग को सजल कालिमा रजनी मे मुखचन्द्र दिखा जाओ।
हृदय अँधेरी झोली इसमें ज्योति भीख देने आओ।
प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक मीड ठहरा जाओ।
प्रेम वेणु की स्वर लहरी में जीवन गीत सुना जाओ।

●　　●

स्नेहालिङ्गन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन धन ! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो।

●

वसुधा के अंचल पर
यह क्या कन कन सा गया बिखर ?
जल शिशु की चञ्चल कीड़ा सा,
जैसे सरसिज दल पर।

लालसा निराशा मे ढलमल
वेदना और सुख मे विह्वल
यह क्या है रे मानव जीवन ?
कितना है रहा निखर।

मिलने चलते जब दो कन,
आकर्षण-मय चुम्बन बन,
दल के नस नस मे बह जाती—
लघु लघु धारा सुन्दर।

हिलता डुलता चञ्चल दल,
ये सब कितने हैं रहे मचल ?
कन कन अनन्त अम्बुधि बनते !
कब रुकती लीला निष्ठुर !

तब क्यो रे फिर यह सब क्यों ?
यह रोष भरी लाली क्यो ?
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर।
वसुधा के अंचल पर !

•

अपलक जगती हो एक रात !

सब सोये हों इस भूतल में,
अपनी निरीहता सम्बल में
चलती हो कोई भी न बात !

पथ सोये हों हरियाली मे,
हों सुमन सो रहे डाली में,
हो अलस उनीदो नखत पाँत !

नीरव प्रशान्ति का मौन बना,
चुपके किसलय से बिछल छना;
थकता हो पंथी मलय-वात।

वक्षस्थल में जो छिपे हुए—
सोते हों हृदय अभाव लिए—
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

•

जगती की मंगलमयी ऊषा बन,
करुणा उस दिन आई थी।
जिसके नव गैरिक अंचल की प्राची में भरी ललाई थी।

भय-सकुल रजनी बीत गई,
भव की व्याकुलता दूर गई,
घन-तिमिर-भार के लिए तड़ित् स्वर्गीय किरण बन आई थी।

खिलती पँखुरी पकज-वन की,
खुल रही आँख ऋषि पत्तन की,
दुख की निर्ममता निरख कुसुम-रस के मिस जो भर आई थी।

कल-कल नादिनि बहती बहती—
प्राणी दुख की गाथा कहती—
वरुणा द्रव होकर शान्ति-वारि शीतलता सी भर लाई थी।

पुलकित मलयानिल कूलों में
भरता अञ्जलि था फूलों में
स्वागत था अभया वाणी का निष्ठुरता लिये बिदाई थी।

उन शान्त तपोवन कुन्जों में,
कुटियो, तृण-वीरुध पुन्जों में,
उटजों में था आलोक भरा कुसुमित लतिका झुक आई थी।

मृग मधुर जुगाली करते से,
खग कलरव मे स्वर भरते से,
विपदा से पूछ रहे किसकी पदध्वनि सुनने में आई थी।

प्राची का पथिक चला आता,
नभ पद-पराग से भर जाता,
वे थे पुनीत परमाणु दया ने जिनसे सृष्टि बनाई थी।

तम की तारुण्यमयी प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,
इस ब्यथित विश्व की चेतनता गौतम सजीव बन आई थी।

उस पावन दिन की पुण्यमयी,
स्मृति लिये धरा है धैर्यमयी,
जब धर्म चक्र के सतत प्रवर्तन की प्रसन्न ध्वनि छाई थी।

युग-युग की नव मानवता को,
विस्तृत वसुधा की विभुता को,
कल्याण संघ की जन्मभूमि आमन्त्रित करती आई थी।

स्मृति-चिह्नों की जर्जरता में,
निष्ठुर कर की बर्बरता मे,
भूले हम वह सन्देश न जिसने फेरी धर्म दुहाई थी।*

●

---

* मूलगन्ध कुटी विहार के समारोहोत्सव में मंगलाचरण के रूप में गाया गया।

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

सागर लहरों सा आलिङ्गन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल वैभव है सीमा विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अकरुण वसुधा से एक झलक
वह स्मृत मिलने को रहा ललक
जिसके प्रकाश मे सकल कर्म
बनते कोमल उज्ज्वल उदार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

फैलाती है जब उषा राग
जग कहता है उसका विराग
वञ्चकता, पीडा, घृणा, मोह
मिलकर बिखेरते अंधकार;
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

ढल विरल डालियाँ भरी मुकुल
झुकती सौरभ रस लिये अतुल
अपने विषाद विष मे मूर्च्छित
काँटों से बिंध कर बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार

जीवन रजनी का अमल इन्दु
न मिला स्वाती का एक बिन्दु
जो हृदय सीप में मोती बन
पूरा कर देता लक्षहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

●

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार—
वह चित्र ! रंग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार प्यार !

केवल स्मितिमय चाँदनी रात,
तारा किरनो से पुलक गात,
मधुपों मुकुलों के चले घात,
आता है चुपके मलय वात,
सपनो के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूँद चार !

तब लहरो सा उठ कर अधीर
तू मधुर व्यथा सा शून्य चीर,
सूखे किसलय सा भरा पीर
गिर जा पतझड़ का पा समीर।
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार !

●

अरे कही देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को?

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण सा हृदय गला कर
जीवन सन्ध्या को नहला कर
रिक्त जलधि भरने वाले को?

रजनी के लघु लघु तम कन में
जगती की ऊष्मा के वन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन मे
छिप, मुझसे डरने वाले को?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या वह कँपने
देख मौन मरने वाले को?

●

शशि सी वह सुन्दर रूप विभा
चाहे न मुझे दिखलाना।
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना।

संसार स्वप्न बनकर दिन सा
आया है नही जगाने,
मेरे जीवन के सुख निशीथ!
जाते जाते रुक जाना।
हाँ, इन जाने की घड़ियों
कुछ ठहर नहीं जाओगे?
छाया पथ में विश्राम नही,
है केवल चलते जाना।

मेरा अनुराग फैलने दो,
नभ के अभिनव कलरव में,
जाकर सूनेपन के तम में—
बन किरन कभी आ जाना।

●

अरे आ गई है भूली सी—
यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया मै रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को।

वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड अलग सब से हो,
झाडखण्ड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको।

आशा से अंकुर झूलेगे
पल्लव पुलकित होगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किन को?

सिहर भरी कँपती आवेगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर—
मानस नयन नलिन को।

जवा कुसुम सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।

अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिडकेगा कन कन
निशि में मधुर तुहिन को।

इस एकान्त सृजन मे कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से है
दे देने दो इनको।

●

निरथक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मधु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को।

जीवन-रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर में आँसू बन,
वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा की इस हरियाली को।

निदय हृदय में हूक उठी क्या,
सोकर पहली चूक उठी क्या,
अरे कसक वह कूक उठी क्या,
झंकृत कर सूखी डाली को?

प्राणों के प्यासे मतवाले—
ओ झंझा से चलने वाले।
ढलें और विस्मृति के प्याले,
सोच न कृति मिटने वाली को।

•

ओ री मानस की गहराई !
तू सुप्त, शान्त कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यो पूरित जल—
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चंचल—
यह विश्व बना है परछाईं !
तेरा विषाद द्रव तरल तरल
मूर्छित न रहे ज्यो पिये गरल
सुख-लहर उठा री सरल सरल
लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई !
हँस, झिलमिल हो लें तारा गन,
हँस खिले कुञ्ज मे सकल सुमन,
हँस, बिखरे मधु मरन्द के कन,
बन कर ससृति के तव श्रम कन,
—सब कह दे 'वह राका आई !'
हँस ले भय शोक प्रेम या रण,
हँस ले काला पट ओढ मरण,
हँस ले जीवन के लघु लघु क्षण,
देकर निज चुम्बन के मधुकण,
नाविक अतीत की उतराई !

मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त,
विरल मृदुल दलवाली डालो से उलझा समीर जब व्यस्त,
प्यार भरे श्यामल अम्बर मे जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्य शिथिल बिछली पड़ती है वहन कर रहा है उसे समीर
तब क्यो तू अपनी आँखो में जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता,
वञ्चित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?
किसी नयन की नील निशा मे क्या कर चुका क्षणिक विश्राम?
क्या झंकृत हो जाते है उन स्मृति किरणों के टूटे तार?
सूने नभ में स्वर तरग का फैलाकर मधु पारावार,
नक्षत्रों से जब प्रकाश की रश्मि खेलने आती है,
तब कमलो की सी तव सन्ध्या क्यों उदास हो जाती है?

•

अन्तरिक्ष मे अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नही अभी तो प्राची की मधुशाला ।

सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगडाई नीडों में अलस विहग मृदुगात,

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी ! तू चल पडता लेकर टूटा प्याला ।

गूँज उठी तेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना ।'

दुख सुख के दोनो डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने मे कर देगा तू रात,

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जग कर देखे अपने सुख का सपना !

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन पतङ्ग
जीवन कितना ? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुज से कण कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यो न उठे उमग ?

है ऊँचा आज मगध शिर—
पदतल मे विजित पडा गिर,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर
क्यो गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयो का अभिमान भग ?

इन प्यासी तलवारो से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारो से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का ?
शासन रे मानव मन का !
गिरि भार बना सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग

यह महादम्भ का दानव—
पीकर अनङ्ग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव
तज विजय पराजय का कुढंग

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नही थिरकते है तुरंग

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला—
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में,
आलस, मद नत पलको में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण भंगुर है तरग।

फिर निर्जन उत्सव शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधु बाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न यहाँ मृदंग।

इस नील विषाद गगन में—
सुख चपला सा दुख घन में,
चिर विरह् नवीन मिलन मे,
इस मरु-मरीचिका-वन मे—
उलझा है चञ्चल मन कुरंग।

आँसू कन कन ले छल छल—
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में है चञ्चल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड का पीड़ा से नर्त्तन,
लय सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्त्तन,
चल रहा यही कब से कुढग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन रंग ?

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधुपान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कटक मिलते है प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग।

•

शेरसिंह का शस्त्र समर्पण

"ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
अब तो न लेश मात्र।
लालसिंह ! जीवित कलुष पञ्चनद का
देख, दिये देता है
सिंहों का समूह नख दन्त आज अपना।"
"अरी रण-रङ्गिनी !
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी !
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुर्मद दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी—
निकल, चली जा तू प्रतारण के कर से।"
"अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या ?
तोपें मुँह खोले खड़ी देखती थी त्रास से
चिलियान वाला में।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समर वीर कर मे तू नाचती
लप-लप करती थी—जीभ जैसे यम की !

उठी तू न लूट त्रास भय के प्रचार को,
दारुण निराशा भरी आँखो से देखकर
दृप्त अत्याचार को
एक पुत्र-वत्सला दुराशामयी विधवा
प्रगट पुकार उठी प्राण भरी पीड़ा से--
और भी;

जन्मभूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त होकर कराहती थी
कैसे फिर रुकती ?"
"आज विजयी हो तुम
और है पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की--
एक छलना है !
वीरभूमि पञ्चनद वीरता से रिक्त नही।
काठ के हो गोले जहाँ
आटा बारूद हो

और पीठ पर हो दुरन्त दशनो का त्रास
छाती लड़ती हो भरी आग, बाहु बल से
उस युद्ध में तो बस मृत्यु ही विजय है।
सतलज के तट पर मृत्यु श्यामसिंह की—
देखी होगी तुमने भी वृद्ध वीर मूर्ति वह
तोड़ा गया पुल प्रत्यावर्तन के पथ में
अपने प्रवञ्चकों से।

लिखता अदृष्ट था विधाता वाम कर से।
छल मे विलीन बल—बल मे विषाद था—
विकल-विलास का।

यवनों के हाथो से स्वतत्रता को छीन कर,
खेलता था यौवन-विलासी मत्त पञ्चनद—
प्रणय विहीन एक वासना की छाया में।
फिर भी लड़े थे हम निज प्राण पण से।

कहेगी शतद्रु-शत-संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव—
स्वत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।
जीना जानते थे,
मरने को मानते थे सिक्ख।
किन्तु आज उनकी अतीत वीर गाथा हुई—
जीत होती जिसकी
वही है आज हारा हुआ।"

"ऊर्जस्वित रक्त और उमङ्ग भरा मन था
जिन युवको के मणिबन्धो मे अबन्ध बल
इतना भरा था
जो उलटता शतघ्नियो को।

गोले जिनके थे गेंद
अग्निमयी क्रीड़ा थी
रक्त की नदी मे सिर ऊँचा छाती सीधी कर
तैरते थे।

वीर पञ्चनद के सपूत मातृभूमि के
सो गये प्रतारणा की थपकी लगी उन्हे
छल-बलिवेदी पर आज सब सो गये।
रूप भरी, आशा भरी, यौवन अधीर भरी,
पुतली प्रणयिनी का बाहुपाश खोलकर,
दूध भरी दूध सी दुलार भरी माँ की गोद,
सूनी कर सो गये।

हुआ है सूना पञ्चनद।
भिक्षा नही माँगता हूँ
आज इन प्राणो की
क्योकि, प्राण जिसका आहार, वही इसकी
रखवाली आप करता है, महाकाल ही,

शेर पञ्चनद का प्रवीर रणजीत सिंह
आज मरता है देखो;
सो रहा है पञ्चनद आज उसी शोक मे।
यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।"

●

पेशोला की प्रतिध्वनि

अरुण करुण बिम्ब !

वह निर्धूम भस्म रहित ज्वलन पिण्ड !
विकल विवर्तनों से
विरल प्रवर्तनों में
श्रमित नमित सा—
पश्चिम के व्योम मे है आज निरवलम्ब सा।
आहुतियाँ विश्व की अजस्र ले लुटाता रहा—
सतत सहस्र कर माला से—
तेज ओज बल जो वदान्यता कदम्ब-सा।
पेशोला की उर्मियाँ है शान्त, घनी छाया में—
तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी मे।
झोपड़े खडे है बने शिल्प ये विषाद के—
दग्ध अवसाद से।
धूसर जलद खड भट पड़े हैं,
जैसे विजन अनन्त में।
कालिमा बिखरती है सन्ध्या के कलंक सी,
दुन्दुभि-मृदङ्ग-तूर्य शान्त स्तब्ध, मौन है।
फिर भी पुकार सी है गूँज रही व्योम में—

"कौन लेगा भार यह ?
कौन विचलेगा नही ?
दुर्बलता इस अस्थिमास की—
ठोक कर लोहे से, परख कर बज्र से,
प्रलयोल्का खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थि पुञ्ज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से।
कौन लेगा भार यह ?
जीवित है कौन ?
साँस चलती है किसकी
कहता है कौन ऊँची छाती कर, मै हूँ—
—मै हूँ—मेवाड़ मे,

अरावली श्रृंग सा समुन्नत सिर किस का ?
बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो ?

आह, इस खेवा की !—
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ मे
अन्धकार पारावार गहन नियति सा —
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो।

खीच ले चला है—
काल-धीवर अनन्त में,
साँस, सफरी सी अटकी है किसी आशा मे।
आज भी पेशोला के—
तरल जल मंडलो में,
वही शब्द घूमता सा—
गूँजता विकल है।
किन्तु वह ध्वनि कहाँ ?
गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की
वही मेवाड़ !
किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ?"

●

नृत्यशीला शशव की स्फूर्तियाँ
दौड कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगी।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजडित मधु भार से।
हँसती अनग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीडा के मधु अभिषेक में
नत शिर देख मुझे।

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका मे।
पलकें मदिर भार से थी झुकी पडती।

नन्दन की शत शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ आकर चूम रही अरुण अधर मेरा
जिसमे स्वयं ही मुस्कान खिल पडती।

नूपुरों की झनकार घुली मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या संगीत को।
कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मै
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती,
जिसमे थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद मे
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।''

''आँखें खुली;
देखा मैने चरणो में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,
और थे प्रणत वही गुर्ज्जर-महीप भी।
वह एक सन्ध्या थी।''

"श्यामा सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त में
चमक रही थी लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी
बहती थी धीरे धीरे सरिता
उस मधु यामिनी मे
मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
मधुर मरन्द-विन्दु उसमे मिलाता था।

चाँदनी के अचल मे।
हरा भरा पुलिन अलस नीद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य सी परखने को मुझको
तारिकाएँ झाँकती थी।
शत शतदलों की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी भीनी रोम मे
बहाती लावण्य धारा।

स्मर शशि किरणे,
स्पर्श करती थी इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अंग पर।
अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्ज्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के,
तिरते थे—
मेरी अँगडाइयों की लहरो मे
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का
कितना सोहाग था, कैमा अनुराग था ?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी सी
गुर्ज्जर के थाले मे मरन्द वर्षा करती मै।"

"और परिवर्तन वह !
क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई
नीले मेघ माला सी

नियति-नटी थी आइ सहसा गगन में
तड़ित विलास सी नचाती भौहे अपनी।"

"पावक-सरोवर में अवभृथ स्नान था
आत्म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
सती के पवित्र आत्म गौरव की पुण्य-गाथा
गूँज उठी भारत के कोने कोने जिस दिन;

उन्नत हुआ था भाल
महिला-महत्त्व का।

दृप्त मेवाड़ के पवित्र बलिदान का
ऊर्जित आलोक
आँख खोलता था सब की।
सोचने लगी थी कुल-बधुएँ, कुमारिकाएँ
जीवन का अपने भविष्य नये सिर से,

उसी दिन
बीधने लगी थी विषमय परतंत्रता।

देव-मन्दिरों की मूक घण्टा-ध्वनि
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से।

मै भी थी कमला,
रूप-रानी गुजरात की।
सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मै जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।
देखे तो प्रचण्ड रूप-ज्वाला सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह ! कैसी वह स्पर्द्धा थी ?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की वाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,

मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी ।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे ,
मैंने समझा था यही ।
वह अतिरञ्जित सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी ।
किन्तु था हृदय कहाँ ?
वैसा दिव्य
अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की ।

"अभिनय आरम्भ हुआ
अन्हलवाडा मे अनल चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर मे
गुर्ज्जरेश मेरी उन इगितो मे नाच उठे ।
नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नही करते
धैर्य किसका नही हरते ये ?
वही अस्त्र मेरा था ।
एक झिटके मे आज
गुर्जर स्वतंत्र साँस लेता था सजीव हो ।

क्रोध सुलतान का दग्ध करने लगा
दावानल बन कर
हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का ।
बालको की करुण पुकारे, और वृद्धो की
आर्त्तवाणी,
क्रन्दन रमणियो का,
भैरव संगीत बना, ताण्डव-नृत्य सा
होने लगा गुर्जर मे ।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से
फाँद पडी मै भी उस देश की विपत्ति मे ।
वही कमला हू मै ।

देख चिर सङ्गिनी रणाङ्गण मे, रङ्ग मे ,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे
बाधा, विघ्न, आपदाएँ,
अपनी ही क्षुद्रता मे टलती-बिचलती ।
हँसते वे देख मुझे
मै भी स्मित करती ।

किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता मे ?
सबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश मे
छोड़ना पड़ा ही उसे ।
निर्वासित हम दोनो खोजते शरण थे,
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने मे आगे था ।

"वह दुपहरी थी,
लू से झुलसाने वाली, प्यास से जलाने वाली ।
थके सो रहे थे तरुछाया मे हम दोनो
तुर्को का एक दल आया झंझावात सा ।
मेरे गुर्ज्जरेश !
आज किस मुख से कहू ?
सच्चे राजपूत थे,
वह खड्ग लीला खड़ी देखती रही मै वही
गत-प्रत्यागत में और प्रत्यावर्तन मे
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मै ।
वाह री नियति !
उस उज्ज्वल आकाश मे
पद्मिनी की प्रतिकृति सी किरणो मे बन कर
व्यङ्ग-हास करती थी ।

एक क्षण भ्रम के भुलावे मे डाल कर
आज भी नचाता वही,
आज सोचती हू जैसे पद्मिनी थी कहती—
"अनुकरण कर मेरा"
समझ सकी न मै ।

पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहिनी सी दृप्त मूर्ति धारण कर
सन्मुख सुलतान के
मारने की, मरने की--अटल प्रतिज्ञा हुई।
उस अभिमान मे
मैने ही कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—

"ले चलो मै गुर्जर की रानी हू, कमला हूँ"
वाह री! विचित्र मनोवृत्ति मेरी!
कैसा वह तेरा व्यग्य परिहास-शील था?
उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।

रूप यह!
देखे तो तुरुष्कपति मेरा भी
यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान और कितनी अभूतपूर्व?
बन्दिनी मै बैठी रही
देखती थी दिल्ली कैसी विभव विलासिनी।
यह ऐश्वर्य की दुलारी, प्यारी क्रूरता की
एक छलना सी, सजने लगी थी सन्ध्या में।
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी।
खोलकर ताराओ की विरल दशन पंक्ति
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मै
सुलतान ही के उस निर्मम हृदय मे,
नारी मै!
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की!

साहस उमड़ता था वेग पूर्ण ओघ सा
किन्तु हलकी थी मैं,

तृण बह जाता जैसे
वैसे मै विचारो मे ही तिरती सी फिरती।
कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की।

आज साक्षात होगा कितने महीनों पर
लहरी-सदृश उठती सी गिरती सी मै
अद्भुत ! चमत्कार !! दृप्त निज गरिमा मे
एक सौदर्यमयी वासना की आँधी सी
पहुँची समीप सुलतान के।

तातारी दासियो ने मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनों पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला मे रही कठिन कृपाणी जो
चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का रुधिर पान करने को।
किन्तु छिन गई वह
और निरुपाय मै तो ऐंठ उठी डोरी सी,
अपमान-ज्वाला में अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वही मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला।
उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त्त से सोचने लगी थी मै—
"जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है!"
चारों ओर लालसा भिखारिणी सी माँगती थी—
प्राणो के कण-कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण रो उठे अकिंचन जो—
"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है ?
विश्व-भर से मै जिसे छाती में छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही :—

अपना दल-अंचल पसार कर बन-राजी,
माँगती है जीवन का बिन्दु बिन्दु ओस सा
क्रन्दन करता सा जलनिधि भी
माँगता है नित्य मानो जरठ भिखारी सा
जीवन की धारा मीठी मीठी सरिताओ से।
व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से
भोर मे ही माँगता है
"जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा भरी।
जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है।"
रो उठी मै रोष भरी बात कहती हुई
"मार कर भी क्या मुझे मरने न दोगे तुम ?
मानती हूँ शक्तिशाली तुम सुलतान हो
और मै हूँ बन्दिनी।
राज्य है बचा नही,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझमे रही नही
इतनी मै रिक्त हूँ ?"
क्षोभ से भरा था कठ फिर चुप हो रही।
शक्ति प्रतिनिधि उस दृप्त सुलतान की
अनुनय भरी वाणी गूँज उठी कान मे।
"देखता हूँ मरना ही भारत की नारियों का
एक गीत-भार है!
रानी तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओ में
पद्मिनी को खो दिया है
किन्तु तुमको नही!
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से!
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी मे
सुन न सकोगी, न विचार ही करोगी तुम
ठहरो विश्राम करो।"
अति द्रुत गति से
कब सुलतान गये
जान सकी मै न, और तब से
यह रंगमहल बना सुवर्ण पींजरा।

"एक दिन, सध्या थी;
मलिन उदास मेरे हृदय पटल सा
लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से।
यमुना प्रशान्त मन्द मन्द निज धारा में,
करुण विषाद मयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद सी।
बैठी हुई कालिमा की चित्र-पटी देखती
सहसा मै चौक उठी द्रुत पद-शब्द से

सामने था
शैशव से अनुचर
मानिक युवक अब
खिच गया सहसा
पश्चिम-जलधि-कूल का वह सुरम्य चित्र
मेरी इन दुखिया अँखड़ियो के सामने।
जिसको बना चुका था मेरा वह बालपन
अद्भुत कुतूहल औ' हँसी की कहानी से।
मैने कहा :—
"कैसे तू अभागा यहाँ पहुँचा है मरने ?"
"मरने तो नही यहाँ जीवन की आशा में
आ गया हूँ रानी !—भला
कैसे मै न आता यहाँ ?"
कह, वह चुप था।
छुरे एक हाथ में
दूसरे से दोनों हाथ पकड़े हुए वही
प्रस्तुत थी तातारी दासियाँ।

सहसा सुलतान भी छिखाई पड़े,
और मै थी मूक गरिमा के इन्द्रजाल में।

"मृत्यु दंड !"
वज्र-निर्घोष सा सुनाई पड़ा भीषणतम—
मरता हैं मानिक !

गूँज उठा कानों मे—
"जीवन अलभ्य है; जीवन सौभाग्य है।"[1]

उठी एक गर्व सी
किन्तु झुक गई अनुनय की पुकार मे
"उसे छोड दीजिए"—निकल पड़ा मुँह से।

हँसे सुलतान, और अप्रतिम होती मै
जकडी हुई थी अपनी ही लाज-शृङ्खला मे।

प्रार्थना लौटाने का उपाय अब कौन था ?
अपने अनुग्रह के भार से दबाते हुए
कहा सुलतान ने—
"जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा है।"

हाय रे हृदय ! तूनें
कौडी के मोल बेचा जीवन का मणि-कोष
और आकाश को पकडने की आशा में
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में।

"अन्तर्निहित थी
लालसाएँ, वासनाएँ जितनी अभाव मे
जीवन की दीनता मे और पराधीनता मे
पलने लगी वे चेतना के अनजान में।
धीरे धीरे आती है जैसे मादकता
आँखों के अजान में, ललाई मे ही छिपती ;
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की।
किन्तु किस युग से वासना के विन्दु रहे सीचते
मेरे सवेदनो को।
यामिनी के गूढ अन्धकार मे
सहसा जो जाग उठे तारा से
दुर्बलता को मानती सो अवलम्ब मै
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल सी भूमि पर।
बिखरे प्रलोभनो को मानती सी सत्य मै
शासन की कामना मे झूमी मतवाली हो।

एक क्षण, भावना के उस परिवर्तन का
कितना अजित था ?
जीवित है गुर्ज्जरेश ! कर्णदेव !
भेजा संदेश मुझे "शीघ्र अन्त कर दो
जीवन की लीला।"
लालसा की अर्द्ध कृति सी !
उस प्रत्यावर्तन में प्राण जो न दे सके, हाँ
जीवित स्वयं हैं।

जियें फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में ?
बन्दिनी हुई मै अबला थी;
प्राणों का लोभ उन्हे फिर क्यों न बचा सका ?
प्रेम कहाँ मेरा था ?
और मुझमे भी कैसे कहूँ शुद्ध प्रेम था।
मानिक कहता है, आह, मुझे मर जाने को।
रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की,
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को।

लोभ मेरा मूर्तिमान प्रतिशोध था बना
और सोचती थी मै, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुल्तान पद तल मे।
कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान मे
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग मन्दिर के व्योम मे
क्षीणगन्ध निरवलम्ब।
किन्तु मै समझती थी, यही मेरा जीवन है।
यह उपहार है, यह शृङ्गार है।
मेरी रूप माधुरी का।
मणि नूपुरो की बीन बजी, झनकार से
गूँज उठी रगशाला इस सौन्दर्य की
विश्व था मनाता महोत्सव अभिमान का

आज विजयी था रूप
और साम्राज्य था नृशश क्रूरताओ का
रूप माधुरी की कृपा-कोर को निरखता
जिसमे मदोद्धत कटाक्ष की अरुणिमा
व्यंग करती थी विश्व भर के अनुराग पर।
अवहेलना से अनुग्रह थे बिखरते।
जीवन के स्वप्न सब बनते बिगड़ते थे
भवे बल खाती जब;
लोगो की आदृष्ट लिपि लिखी पढी जाती थी
इस मुसक्यान के, पद्मराग-उद्गम से
बहता सुगन्ध की सुधा का सोता मन्द मन्द।
रत्न राजि, सीची जाती सुमन-मरन्द से
कितनी ही आँखो की प्रसन्न नील ताराएँ
बनने को मुकुर-अचचल, निस्पन्द थी।
इन्ही मीन दृगो का चपल सकेत बन
शासन, कुमारिका से हिमालय-शृङ्ग तक
अथक अबाध और तीव्र मेध-ज्योति सा
चलता था—
हुआ होगा बनना सफल जिसे देखकर
मंजु मीन-केतन अनंग का।
मुकुट पहनते थे सिर, कभी लोटते थे—
रक्त दिग्ध धरणी मे रूप की विजय में।
हरमे सुलतान की
देखती सशंक दृग कोरों से
निज अपमान को।"
"बेच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे;
उसी मानवता के आत्म सम्मान को।"
जीवन मे आता है परखने का
जिसे कोई एक क्षण,
लोभ, लालसा या भय, क्रोध, प्रतिशोध के
उग्र कोलाहल में,
जिसकी पुकार सुनाई ही नही पड़ती।

सोचा यह उस दिन;
जिस दिन अधिकार-क्षुब्ध उस दास ने,
अन्त किया छल से काफूर ने
अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुलतान का।
आँधी मे नृशंसता की रक्त-वर्षा होने लगी
रूप वाले, शील वाले, प्यार से पले हुए
प्राणी राज-वश के
मारे गये।
वह एक रक्तमयी सन्ध्या थी।
शक्तिशाली होना अहोभाग्य है
और फिर
वाधा-विघ्न-आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल विरोध करने मे कैसा सुख है ?—
इसका भी अनुभव हुआ था भली भाँति मुझे
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।

जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने;
आजीवन दास ने, रक्त से रँगे हुए;
अपने ही हाथों पहना है राज का मुकुट।

अन्त कर दास राजवंश का,
लेकर प्रचड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने, खुसरू के नाम से
शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प है।

उसी दिन जान सकी अपनी मै सच्ची स्थिति
मै हूँ किस तल पर ?
सैकड़ों ही वृश्चिकों का डंक लगा एक साथ
मै जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने।
खुसरू ने !!
उद्धत प्रभुत्व का
वात्याचक्र ! उठा प्रतिशोध-दावानल में
कह गया अभी अभी नीच परिवारी वह।

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमे पवित्रता की छाया भी पडी नही।
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,
अपना अस्तित्व है पुकारते,
नश्वर ससार मे
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि है चाहते।"
"लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतन्त्र हो बिखरते है।
एक माया-स्तूप सा
हो रहा है लोप इन आँखो के सामने।
देख कमलावती !
ढुलक रही है हिम-विन्दु सी
सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची सी
छिपकर चारो ओर व्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती सकेत है व्यग्य उपहास मे।
ले चली बहाती हुई अन्ध के अतल मे
वेग भरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले काले पङ्ख ढकते हैं अन्ध तम से।
पुण्य ज्योति हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में।

•

कामायनी (श्रद्धा)

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते

श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु (१०-१५१-४)

जयशङ्कर प्रसाद

कामायनी - १८-८-४

निवेदन

कामायनी के आदि संस्करण की प्रतिच्छवि रूप में प्रस्तुत इस तथावत पुनर्मुद्रण को ग्रहण करने की सहृदय कृपा करें इसके स्वरूप का अभिप्राय बताने वाली आगामी पंक्तियों को आरात्रिक रूप मानते वाग्देवता प्रसादपूर्बक क्षमा करें।

पूज्य पिताजी द्वारा प्रयुक्त वर्तनी का यहाँ यथावत् व्यवहार है। यद्यपि उनके पंचमाक्षरी-सन्धि के वे नियम यान्त्रिक सशय में मुद्रणाधीन त्रुटियो की आशका से आचीर्ण न हो सके जिन्हे आश्वस्त-सुविधा की दशा मे पालित होना है। मुझे स्मरण है, आदिसस्करण के समय भी यह प्रश्न उठा था और यन्त्र की विवशता के कारण इस नियम के अपवाद की उपेक्षा हुई। आदि सस्करण मे व्यवहृत कुछ टाइपो का इस पुनर्मुद्रण में यथावत् व्यवहार शक्य नही हुआ क्योकि आज उनके कुछ दूसरे रूप ही प्रचलित है जैसे अ, झ, ल आदि।

विराम और समास-चिह्नो के अवस्थान पर कही कही मतभेद हैं और मतभेद के अनुपात में सहज अर्थान्तर और अन्विति-परक भेद स्वाभाविक है। किन्तु, कामायनी में वैसे चिह्नो का अवस्थान स्यात् सहज और निर्विवाद न रहेगा · उसे अर्थानुकूलन का एक समवायी आरोपण कहना भी अनुचित न होगा। युक्तायुक्त प्रसंगविश्लेषणोपरि वैसे चिह्नो के न्यास पूर्वक सामान्य पठन-पाठन और अध्ययन-अध्यापन के लिये अन्य संस्करण योजित किये जा सकते है जो विद्वानो के मन्तव्य-सग्रहतया आपर्यन्त अनुत्तर निर्णय पर निर्भर है किन्तु स्वाध्याय के अर्थ भी वे कहाँ तक उपादेय होंगे यह अभी नही कहा जा सकता।

ऐसा कथन तथ्य का अपलाप है कि पूज्य पिताजी स्वास्थ्य को अशक्यता से उस आदि संस्करण के मुद्रणकाल मे चिह्नों के दोषों एवं अभावों पर ध्यान नहीं दे पाये। और, अनेक त्रुटियाँ तब से चली आ रही है। वस्तुत, अन्तिम प्रूफ और किन्ही सर्गो के तो दो दो प्रूफ स्वत देख कर उन्होंने मुद्रणादेश दिये · उन कतिपय रक्षित प्रूफ-कापियों को अद्यापि देखा जा सकता है जो इसकी साक्षी है।

वास्तविकता यह है कि इन चिह्नों को वे बहुधा लिपि के अलंकरण प्राय और काव्य के स्वच्छन्द प्रवाह पर अंकुश रूप मानते थे। उनकी धारणा थी कि शब्दों को स्वयं बोलना चाहिये कि हमें कहा रुकना है, किस रूप में उपस्थित होना है, किस से जुडना है और कहाँ से पृथक होना है पश्चिमीय "पंक्चुयेशनो" की बैसाखी भारती काव्य-भाषा के लिये अनिवार्यत आवश्यक नही। परन्तु आज पक्चुयेशनों के अभाव मे अध्ययन-अध्यापन मे यदा कदा कठिनाई का अनुभव किया जा रहा है · कही कहीं उनके अवस्थान-दोष से अर्थान्तर भी हो जाते है और वहाँ कामायनी की पक्ति "प्रकट हुआ था दोष उसी से जो सबको गुणकारी था" सार्थक होने लगती है।

आदि संस्करण के सशोधन-पत्र की अन्तिम पक्ति मे काव्य-शालीनता और सहृदय-गौरव के उचितावस्थान पूर्वक इस प्रसग को अपने ढग से परिभाषित करते उन्हे कहना पडा "कुछ और भी पदच्छेद अनुस्वार तथा विराम-चिह्नो की त्रुटियाँ रह गई है जिन्हे सुधार लीजिये।" यह बात उस सहृदय-पक्ष की दृष्टि से कही गई जिसे चिह्नो की त्रुटियाँ प्रतीत होती हो, न कि कवि-पक्ष से ऐसा कहते चिह्न-न्यास और अर्थ-ग्रहण के लिये सहृदय-पक्ष को उसी प्रकार स्वतन्त्र रखा गया जिस प्रकार आमुख की अन्तिम पक्ति द्वारा कल्पना कवि के एकनिष्ठ अधिकार की वस्तु कही गई है।

कामायनी ने, अपने भाव-चार मे मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक-इतिहास का चिन्तन और मानवता के विकास पर विचार, युगपत् किये · फिर तो स्वाभाविक था कि संवर्त्त और विवर्त्त की सन्ध्या कामायनी के कथानक

को जन्म देती। प्राय बीस वर्षों का समय काव्य-स्वरूप के उपादान-संचयन में लगा। "इन्दु" मे प्रकाशित निबन्ध "भक्ति" (किरण ८ फाल्गुन संवत् १९६६ ईसवीय १९०९) के पूर्व "श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवेहि" की विवेचना अग्रसर हो चुकी थी—जहाँ कहा गया है—"मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है तब उसके चित्त मे नाना भाव उत्पन्न होते है और उन्ही भावो के पर्यालोवचन मे उसके हृदय मे एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है उसे लोग चिन्ता कहते है।" यहाँ कामायनी का उद्बोधन-पर्व किंवा उपोद्घात ही है—"चिन्ताप्रकृतसिद्धार्थां उपोद्घातप्रचक्षते" प्राय: बीस वर्षो के अनवरत और व्यापक मनन-चिन्तन द्वारा कामायनी के उपादान प्रस्तुत हुये और श्रीपचमी सवत् १९८४ (ईसवीय १९२७) से कामायनी लिपि-विग्रह धारण करने लगी जहाँ, अकस्मात् ही चिन्ता से काव्यारंभ नही हो गया : उसके पूर्वरग मे कुछ यस्मात् कस्मात् भी है। अस्तु, विविध सरणियो और भूमिकाओ मे सचरण करते श्रुतियो आदि के जो सवाद मिले वे कामायनी की पाण्डुलिपि में अग्रस्थानीय हुये जिन्हें सन्दर्भ-सकेत के रूप मे ही लिया जा सकता है, वहाँ कामायनी की कथा, उसके चरित्रों, और उन चरित्रो मे निहित साकेतिक सहज-स्फूर्ति प्रतिबिम्बित है। स्वाध्यायी के लिये इस सन्दर्भ-सकेत का महत्त्व कुछ अधिक होना चाहिये पाठक के लिये भले ही अल्प हो। सुतराम्, अग्रवर्त्ती पृष्ठों में उसका लिपि-पाठ और मुद्रण-पाठ परस्पर सम्मुख दे दिया गया है।

आदिसंस्करण के सशोधन-पत्र द्वारा इगित त्रुटियों का यथास्थल मार्जन कर लिया गया है · कही-कही पाण्डुलिपि से भी सहायता लेनी पड़ी यथा पृष्ठ ४१९ की तेरहवी पक्ति मे "हाहाकार" का पाण्डुलिपीय रूप रखा गया है। पृष्ठ ४२६ की तेरहवी पक्ति पाण्डुलिपि मे "वाष्प बना उडता जाता था" है, जब कि आदि सस्करण में उड़ता के स्थान पर उजड़ा है। किन्तु, पाठ विकलता से बचने का भरसक यत्न किया गया है। ऐसे कतिपय स्थल पृष्ठात टिप्पणियो मे सकेतित है।

तन्मेमन शिवसकल्पमस्तु

हुताशनी वै० २०३२ · **रत्नशंकर प्रसाद**

श्रद्धा देवा यजमाना वायु गोपा उपासते
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु (१०-१५१-४)°
कामायनी—कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका—सायण
इलामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम् (१-३१-११)°
सरस्वती साधयन्ती धिय न इला देवी भारती विश्वतूर्ति
तिस्रो देवी स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्र पान्तु शरण निषद्य ! (२-३-८)°
आ नो यज्ञ भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती
तिस्रो देवी बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपस. सदन्तु (१०-११०-८)°
यदा वै श्रद्धधात्यथमनुते, नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्धधदेवमनुते (छान्दोग्य)
—अ० ७ खण्ड १८ ।

ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत
श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रान्स आत्मवान् ११
तत्रश्रद्धामनो पत्नी होतार समयाचत—१४
} भागवत ९ स्कन्ध—१ —अध्याय

श्रद्धा देवो वै मनु —(शतपथ १ अध्याय ४ ब्राह्मण) —१५
'मनवहवै प्रात ' इत्यादि जलप्रलय की कथा शतपथ के ८ अध्याय—१ ब्राह्मण में है ।
प्रजापति पर रुद्र का क्रोध—(शतपथ ६ प्रपाठक २ ब्राह्मण)
किलताकुलीऽइति हासुर ब्रह्मावासतु —(१४, शतपथ १ अध्याय ४ ब्राह्मण)
कही कही इला के साथ महीदेवी का नाम भी आया है—
"इला सरस्वती मही तिस्त्रोदेवीर्मयोभुव । बर्हि सीदन्त्वस्त्रिध." (५–५–८)°
इससे स्पष्ट है कि इला पृथ्वी के अर्थ में नही प्रयुक्त है किन्तु मेधावाहिनी देवी है ।

असौ वे लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमोराजा संभवति (९—षष्ठे द्वितीय ब्राह्मण) बृहदारण्यक

तथा मनुषस्य मनोरिडामेतन्नामधेया पुत्री शासनी धर्मोपदेशिकर्त्रीमकृण्वन् कृतंवत —सायण— १–३१–११°

नोऽस्मदीयाँधियं बुद्धि याग वा साधयन्ती निर्वर्तयन्ती सरस्वतीइडैतन्नामिका देवी भारती च विश्वतूर्तिर्विश्वानितूर्णानियस्याः सा तादृशी सर्वविषयगतावाक् । एतदुभयविशेषणं २–३–८—सायण°

° = ऋग्वेद ।

•

आमुख

आर्य साहित्य मे मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदो से लेकर पुराण और इतिहासो में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण मे, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप मे मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्राय: लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम-युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हे आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कह कर अलग कर दिया जाता है; क्योकि उन चरित्रों के साथ भावनाओ का भी बीच बीच मे संबंध लगा हुआ सा दीखता है। घटनाएँ कही अतिरंजित सी भी जान पडती है। तथ्य-संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओ में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किन्तु उनमे भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ

से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रगो की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरंजित सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती है। सम्भवत इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियो का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा, जिससे कि उन अर्थो का अपनी वर्त्तमान रुचि से सामजस्य किया जाय।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने मे समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते है। उसके मूल मे क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरतन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषो की और पुरुषार्थो की अभिव्यक्ति होती रहती है।

जल-प्लावन भारतीय इतिहास मे एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवो की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। 'मनवे वै प्रात.' इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवे अध्याय में मिलता है। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव,

निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्त्तक मनु हुए। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्ही के वशज हैं। शतपथ ब्राह्मण मे उन्हे श्रद्धादेव कहा गया है, 'श्रद्धादेवो वै मनु·' (का० १ प्र० १)। भागवत मे इन्ही वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

"ततो मनु श्राद्धदेव· सज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।"

(९-१-११)

छांदोग्य उपनिषद् मे मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। "यदावै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धन् मनुते" यह कुछ निरुक्त की सी व्याख्या है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनो का नाम ऋषियो की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त मे सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, "कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका"। श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। मनु प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करनेवाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओ के नायक है—"मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे, यदनुकृत्येमा: प्रजा यजन्ते" (५-१ शतपथ)। इनके संबंध में वैदिक साहित्य मे बहुत-सी बातें बिखरी हुई मिलती हैं; किन्तु उनका क्रम स्पष्ट नहीं है। जल प्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवे अध्याय से आरम्भ होता है; जिसमे उनकी

नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश मे पहुँचने का प्रसग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते है। "अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्—तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववससर्ग। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति। (८–१)"

श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश मे उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुरोहित के मिल जाने से इन्होने पशु-बलि की। "किलाताकुली—इति हासुरब्रह्मावासतु। तौ होचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुः—आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतु.—मनो! बाजयाव त्वेति।"

इस यज्ञ के बाद मनु मे जो पूर्व परिचित देव प्रवृत्ति जाग उठी; उसने इड़ा के सम्पर्क मे आने पर उन्हे श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इड़ा के संबंध मे शतपथ मे कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई और उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने पूछा कि "तुम कौन हो?" इड़ा ने कहा, "तुम्हारी दुहिता हूँ।" मनु ने पूछा कि "मेरी दुहिता कैसे?" उसने कहा, "तुम्हारे दही, घी इत्यादि के हवियों से ही मेरा पोषण हुआ है।" "ता ह" मनुरुवाच—"का असि" इति। "तव दुहिता" इति। "कथं भगवति? मम दुहिता" इति। (शतपथ ६ प्र० ३ ब्रा०)।

इड़ा के लिए मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से

वे कुछ खिचे। ऋग्वेद मे इडा का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका मनुष्योका शासन करनेवाली कही गयी है। "इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्" (१-३१-११ ऋग्वेद) इडा के सम्बन्ध मे ऋग्वेद मे कई मत्र मिलते है—"सरस्वती साधयन्ती धिय न इडा देवी भारती विश्वतूर्ति. तिस्रो देवी: स्वधयार्बाहिरेदमच्छिद्र पान्तु शरण निषद्य।" (ऋग्वेद—२—३—८) "आनो यज्ञ भारतीतूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्वर्हिरेद स्योनं सरस्वती स्वपस सदन्तु।" ऋग्वेद—१०–११०—८) इन मत्रो में मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती की प्रतिनिधि भारती, सरस्वती के साथ इडा का नाम आया है। लौकिक सस्कृत में इड़ा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है। गो भू वाचस्त्विड़ा इला"। (अमर) इस इड़ा या वाक् के साथ मनु या मन के एक और विवाद का भी शतपथ मे उल्लेख मिलता है जिसमे दोनो अपने महत्त्व के लिए झगड़ते है। "अथातोमनसश्च" इत्यादि (४ अध्याय ५ ब्राह्मण) ऋग्वेद में इड़ा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। पिछले काल मे सम्भवत: इड़ा को पृथ्वी आदि से सम्बद्ध कर दिया गया हो, किन्तु ऋग्वेद ५—५—८ मे इड़ा और सरस्वती के साथ मही का अलग उल्लेख स्पष्ट है। "इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव" से मालूम पड़ता है कि मही से इड़ा भिन्न है। इड़ा को मेघसवाहिनी नाड़ी भी कहा गया है।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा

पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा। 'तद्वै देवानां आग आस' (७-४—शतपथ) इस अपराध के कारण उन्हें दण्ड, भोगना पडा। तंरुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध" (७-४-शतपथ) इडा देवताओं की स्वसा थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी। इसीलिए यज्ञो मे इडा कर्म होता है। यह इडा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने मे सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज मे, दु ख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु" (ऋग्वेद १०—१५१—४) इन्ही सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा-सृष्टि हुई है। हाँ 'कामायनी' की कथा-श्रृखला मिलाने के लिए कही कही थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम मे ले आने का अधिकार, मै नही छोड सका हूँ।

चिन्ता

अवयव की दृढ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें सचार।

चिंता-कातर बदन हो रहा
पौरुष जिसमे ओत प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

बँधी महा-बट से नौका थी
सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही।

निकल रही थी मर्म वेदना,
करुणा विकल कहानी सी;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती सी पहचानी सी।

"ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कप सी मतवाली!

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा!

इस ग्रह कक्षा की हलचल! री
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली, बहरी!

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी!
अरी आधि, मधुमय अभिशाप!
हृदय-गगन में धूमकेतु सी,
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।

मनन करावेगी तू कितना?
उस निश्चित जाति का जीव;
अमर मरेगा क्या? तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव।

आह! घिरेगी हृदय लहलहे
खेतो पर करका-घन सी,
छिपी रहेगी अंतरतम मे
सब के तू निगूढ धन सी।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे है कितने नाम!
अरी पाप है तू, जा, चल, जा
यहाँ नही कुछ तेरा काम!

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिंता करता हूँ मै जितनी
उस अतीत की, उस सुख की;
उतनी ही अनत में बनती
जाती रेखायें दुख की।

आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम
असफल हुए, विलीन हुए;
भक्षक या रक्षक, जो समझो,
केवल अपने मीन हुए।

अरी आँधियो ! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना,
वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।

मणि-दीपो के अंधकारमय
अरे निराशापूर्ण भविष्य !
देव-दम्भ के महा मेध मे
सब कुछ ही बन गया हविष्य।

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जयनाद;
काँप रहे है आज प्रतिध्वनि
बन कर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में।

वे सब डूबे; डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार;
उमड रहा है देव सुखो पर
दु ख जलधि का नाद अपार।"

"वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ?
स्वप्न रहा या छलना थी!
देव सृष्टि की सुख विभावरी
ताराओ की कलना थी।

चलते थे सुरभित अञ्चल से
जीवन के मधुमय निश्वास;
कोलाहल में मुखरित होता
देव जाति का सुख-विश्वास।

सुख, केवल सुख का वह संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना;
छायापथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल, वैभव, आनंद अपार;
उद्वेलित लहरो सा होता, उस
समृद्धि का सुख-सञ्चार।

कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
अरुण किरण सी चारो ओर,
सप्त सिंधु के तरल कणों मे,
द्रुम दल में, आनंद-विभोर।

शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति थी
पद-तल मे विनम्र विश्रात;
कँपती धरणी, उन चरणो से
होकर प्रतिदिन ही आक्रात!

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि,

गया, सभी कुछ गया, मधुरतम
सुर बालाओं का शृंगार;
उषा ज्योत्स्ना सा यौवन-स्मित
मधुप सदृश निश्चिंत विहार।

ककण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतो में
स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगंत पूरित था,
अंतरिक्ष आलोक-अधीर;
सब में एक अचेतन गति थी,
जिससे पिछड़ा रहे समीर।

वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
अंग भंगियो का नर्त्तन,
मधुकर के मरंद-उत्सव सा
मदिर भाव से आवर्त्तन।

सुरा सुरभिमय बदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।

विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये;
आह! जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल में गले, गये।"

चिन्ता ॥४२१॥

"अरी उपेक्षा भरी अमरते !
री अतृप्ति ! निर्बाध विलास !
द्विधा-रहित अपलक नयनों की
भूख भरी दर्शन की प्यास !

बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,
पुलक स्पर्श का पता नहीं;
मधुमय चुंबन कातरतायें
आज न मुख को सता रहीं।

रत्न सौध के वातायन, जिनमें
आता मधु-मदिर समीर;
टकराती होगी अब उनमें
तिमिंगिलो की भीड़ अधीर।

देव कामिनी के नयनों से
जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी, अब वहाँ हो रही
प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।

वे अम्लान कुसुम सुरभित,
मणि-रचित मनोहर मालायें,
बनी शृंखला, जकड़ी जिनमे
विलासिनी सुर बालायें।

देव - यजन के पशु यज्ञो की
वह पूर्णाहुति की ज्वाला,
जलनिधि में बन जलती कैसी
आज लहरियो की माला!

उनको देख कौन रोया यों
अंतरिक्ष में बैठ अधीर!
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर!

हाहाकार हुआ क्रंदनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर;
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव
बार बार होता था क्रूर।

दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकंपन,
झझा के चलते झटके।

अधकार में मलिन मित्र की
धुँधली आभा लीन हुई;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा
स्तर-स्तर जमती पीन हुई।

पचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यो खोया प्रात।

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिगन के हेतु अशेष।

उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला - मुखियों के निश्वास;
और सकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी,
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

बढ़ने लगा विलास वेग सा
वह अति भैरव जल संघात;
तरल तिमिर से प्रलय पवन का
होता आलिंगन प्रतिघात।

बेला क्षण क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ,
उदधि डुबाकर अखिल धरा को
बस मर्यादा हीन हुआ।

करका क्रंदन करती गिरती
और कुचलना था सब का,
पंचभूत का यह तांडवमय
नृत्य हो रहा था कब का।"

"एक नाव थी, और न उसमे
डाँड़े लगते, या पतवार;
तरल तरंगो मे उठ गिर कर
बहती पगली बारम्बार!

लगते प्रबल थपेडे, धुँधले
तट का था कुछ पता नही;
कातरता से भरी निराशा
देख नियति पथ बनी वही।

लहरें व्योम चूमती उठती;
चपलायें असंख्य नचती।
गरल जलद की खडी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचती।

चपलायें उस जलधि, विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थी
ज्यों विराट बाड़व ज्वालाये
खड-खंड हो रोती थी।

जलनिधि के तल वासी जलचर
विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी
कौन! कहाँ! कब! सुख पाते?

घनीभूत हो उठे पवन, फिर
श्वासों की गति होती रुद्ध;
और चेतना थी बिलखाती,
दृष्टि विफल होती थी क्रुद्ध ।

उस विराट आलोड़न मे, ग्रह
तारा बुद-बुद से लगते ।
प्रखर प्रलय पावस मे जगमग,
ज्योतिरिंगणों से जगते ।

प्रहर दिवस कितने बीते, अब
इसको कौन बता सकता !
इनके सूचक उपकरणो का,
चिन्ह न कोई पा सकता ।

काला शासन-चक्र मृत्यु का
कब तक चला न स्मरण रहा,
महा मत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा ।

किन्तु उसी ने ला टकराया
इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से ।

आज अमरता का जीवित हूँ
मै वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अक का
अधम पात्र मय सा विष्कभ !"

"ओ जीवन की मरु मरीचिका,
कायरता के अलस विषाद!
अरे पुरातन अमृत ! अगतिमय
मोहमुग्ध जर्जर अवसाद।

मौन! नाश! विध्वस! अँधेरा!
शून्य बना जो प्रगट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते!
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल,
तू अनंत में लहर बनाती
काल-जलधि की सी हलचल।

महा-नृत्य का विषम सम, अरी
अखिल स्पंदनो की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अंधकार के अट्टहास सी,
मुखरित सतत चिरंतन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण मे तू,
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

जीवन तेरा क्षुद्र अश है
व्यक्त नील घन-माला मे,
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला मे।"

पवन पी रहा था शब्दों को
निर्जनता की उखडी साँस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि
बनी हिम-शिलाओं के पास।

धू-धू करता नाच रहा था
अनस्तित्व का तांडव नृत्य;
आकर्षण विहीन विद्युत्कण
बने भारवाही थे भृत्य।

मृत्यु सदृश शीतल निराश ही
आलिंगन पाती थी दृष्टि,
परम व्योम से भौतिक कण सी
घने कुहासों की थी वृष्टि।

वाष्प बना उजड़ा[1] जाता था
या वह भीषण जल-संघात,
सौर चक्र मे आवर्तन था
प्रलय निशा का होता प्रात।

---

१ पाण्डुलिपि मे—उडता। "सुधा" आश्विन—१९८५ (अक्टूबर १९२८) में यह सम्पूर्ण सर्ग "मनु की चिन्ता" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है—वहाँ भी उजडा नही "उडता" है।

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल मे अंतर्निहित हुई।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से;
जगी वनस्पतियाँ अलसाईं
मुख धोती शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अँगड़ाई[1]
बार बार जाती सोने।

---

१. पाण्डुलिपि में—अंगराई।

सिंधु सेज पर धरा बधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति मे
मान किये सी ऐंठी सी।

देखा मनु ने वह अतिरंजित
विजन विश्व का नव एकात;
जैसे कोलाहल सोया हो
हिम शीतल जड़ता सा श्रात।

इन्द्रलील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।

वह विराट था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

"विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे है
किसके शासन मे अम्लान?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
जिसमे ये सब विकल रहे;
अरे! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे!

विकल हुआ सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये है
सब परिवर्तन के पुतले,
हाँ—कि गर्व-रथ मे तुरंग सा;
जितना जो चाहे जुत ले।"

"महानील इस परम व्योम मे,
अंतरिक्ष मे ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से सधान !

छिप जाते है और निकलते
आकर्षण मे खिंचे हुए,
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मै कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान"—
मंद[1] गँभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

---

१ पाण्डुलिपि में—मन्द्र।

"यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सदय हृदय मे अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही
आशा बनकर प्राण समीर!

यह कितनी स्पृहणीय बन गई
मधुर जागरण सी छविमान;
स्मिति को लहरों सी उठती है
नाच रही ज्यों मधुमय तान।

जीवन! जीवन! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह।

मै हूँ, यह वरदान सदृश क्यो
लगा गूँजने कानों में।
मै भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

यह सकेत कर रही सत्ता
किसकी सरल विकास-मयी;
जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलास-मयी ?

तो फिर क्या मै जिऊँ और भी,—
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"

एक यवनिका हटी, पवन से
प्रेरित माया पट जैसी;
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी
हरी भरी फिर भी वैसी।

स्वर्ण शालियो की कलमें थी
दूर दूर तक फैल रही;
शरद इंदिरा के मदिर की
मानो कोई गैल रही।

विश्व-कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल सतोष निदान,
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा मे सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड़ रही जिसके चरणो में
नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धारायें
बिखराती जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुसक्यान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।

शिला-संधियों मे टकरा कर
पवन भर रहा था गुजार,
उस दुर्भेद्य अचल दृढता का
करता चारण सदृश प्रचार।

संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढे रंग बिरंगी छींट
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।

विश्व मौन, गौरव, महत्व की
प्रतिनिधियों से भरी विभा,
इस अनन्त प्रांगण में मानो
जोड़ रही है मौन सभा।

वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जड़ता सी जो शांत रही;
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव मे भ्रांत रही।

उसे दिखातीं जगती का सुख,
हँसी, और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।

थी अनन्त की गोद सदृश जो
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय;
उसमें मनु ने स्थान बनाया
सुन्दर स्वच्छ और वरणीय।

पहला संचित अग्नि जल रहा
पास मलिन द्युति रवि कर से;
शक्ति और जागरण चिन्ह् सा
लगा धधकने अब फिर से।

जलने लगा निरंतर उनका
अग्निहोत्र सागर के तीर;
मनु ने तप में जीवन अपना
किया समर्पण होकर धीर।

सजग हुई फिर से सुर संस्कृति,
देव यजन की वर माया
उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत;
लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शांत।

पाक यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियो को चुनन,
उधर वन्हि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने।

शुष्क डालियो से वृक्षों की
अग्नि अर्चियाँ हुईं समिद्ध;
आहुति की नव धूम गंध से
नभ कानन हो गया समृद्ध।

और मोचकर अपने मन में,
जैसे हम है बचे हुए,
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कही दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

दुख का गहन पाठ पढ कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई मे
मग्न अकेले रहते थे।

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ,
एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड मे कर वास रहा।[1]

फिर भी धडकन कभी हृदय में
होती, चिंता कभी नवीन,
योहीं लगा बीतने उनका
जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे
अंधकार की माया में;
रंग बदलते जो पल-पल में
उस विराट की छाया में।

अर्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते
प्रकृति सकर्मक रही समस्त;
निज अस्तित्व बना रखने मे
जीवन आज हुआ था व्यस्त।

तप में निरत हुए मनु, नियमित—
कर्म लगे अपना करने।
विश्व रंग में कर्मजाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने।

---

१. पाण्डुलिपि में—एक सजीव तपस्या का मानो पतझड में राज्य रहा।

उस एकांत नियति शासन में
चले विवश धीरे धीरे;
एक शांत स्पंदन लहरों का
होता ज्यों सागर तीरे।

विजन जगत की तंद्रा में
तब चलता था सूना सपना,
ग्रह पथ के आलोक वृत्त से
काल जाल तनता अपना।

प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती संदेश-विहीन;
एक विराग-पूर्ण संसृति में
ज्यों निष्फल आरंभ नवीन।

धवल मनोहर चंद्र बिम्ब से
अंकित सुंदर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

नीचे दूर दूर विस्तृत था
उर्मिल सागर व्यथित अधीर,
अंतरिक्ष मे व्यस्त उसी सा
रहा चन्द्रिका - निधि गंभीर।

खुली उसी रमणीय दृश्य मे
अलस चेतना की आँखे;
हृदय कुसुम की खिली अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।

व्यक्त नील में चल प्रकाश का
कंपन सुख बन बजता था;
एक अतीद्रिय स्वप्न लोक का
मधुर रहस्य उलझता था।

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान;
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वंद्व सुखद करके अनुमान।

आशा ॥४४५॥

दिवा रात्रि या—मित्र वरुण की
बाला का अक्षय शृंगार;
मिलन लगा हँसने जीवन के
उर्मिल सागर के उस पार।

तप से सयम का सचित बल
तृषित और व्याकुल था आज;
अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीर तम, सूना राज।

धीर समीर परस से पुलकित
विकल हो चला श्रांत शरीर।
आशा की उलझी अलकों से
उठी लहर मधुगन्ध अधीर।

मनु का मन था विकल हो उठा
सवेदन से खा कर चोट;
संवेदन! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।

"आह! कल्पना का सुन्दर यह,
जगत मधुर कितना होता!
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता—सोता।

सवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता;
फिर अभाव असफलताओं की
गाथा कौन कहाँ बकता।

कब तक और अकेले? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो?
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

[1]"तम के सुंदरतम रहस्य, हे
काति किरण रजित तारा!
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिंदु, भरे नव रस सारा।

---

१ नवज्योति—मई १९२८ में प्रकाशित।

आतप तापित जीवन सुख की
शांतिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना, देते
तुम कितना मधुमय संदेश !

आह शून्यते ! चुप होने में
तू क्यों इतनी चतुर हुई;
इद्रजाल जननी ! रजनी तू
क्यों अब इतनी मधुर हुई ?

[1]"जब कामना सिंधु तट आयी
ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ?

इस अनंत काले शासन का
वह जब उच्छृंखल इतिहास,
आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मृदु हास।

१. वार्षिक सरस्वती १९२८ मे प्रकाशित।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढी हुई किस टोने से।

किस दिगंत रेखा मे इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी
चली जा रही किसके पास।

विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।

घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ में लाती।

रजत कुसुम के नव पराग सी
उडा न दे तू इतनी धूल,
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली !
तू इसमें जावेगी भूल।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पडा तेरा अंचल;
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चचल।

फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?
या भूली सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग!

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या?
मन जिसमें सुख सोता था!

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना;
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना।

•

"कौन तुम ? संसृतिज-लनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

'मधुर विश्रांत और एकांत—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चचल मन का आलस्य !"

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद;

एक झिटका सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

---

१ पाण्डुलिपि मे—विधुर 'माधुरी' अगस्त १९२८ मे प्रकाशित अंशका अन्तिम छन्द।

[1]और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इद्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यो शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ सयुक्त।

मसृण गाँधार देश के, नील
रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कांत
बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घन श्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

---

१ माधुरी अगस्त १९२८ मे इन्द्रजाल शीर्षक से प्रकाशित।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी मे अश्रांत।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से हो दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड मे स्फूर्ति।

उषा की पहली लेखा कांत,
माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
[1]रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पडती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध!

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का सा जलता भ्रांत,
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नही सका जो कि हिम खंड
दौड़ कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड।

---

१ उठ खडा हो, परमाणु पराग गठित तन ले मधु का आधार (पाण्डुलिपि १ पूर्वरूप)।

"कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड में अति सुकुमार !
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मंद बयार।

नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कात—
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत !"

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
मिटाता उत्कठा सविशेष;
दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश —

"भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी संतान।

घूमने का मेरा अभ्यास
बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;
कूतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयतीत
आह कैसी है ? क्या है पीर ?

मधुरिमा में अपनी ही मौन
एक सोया सदेश महान,
सजग हो करता था सकेत;
चेतना मचल उठो अनजान।

बढ़ा मन और चले ये पैर
शैल मालओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुन्दर सम्भार।

श्रद्धा ॥४६१॥

एक दिन सहसा सिंधु अपार
लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न
भूत-हित-रत किसका यह दान!
इधर कोई है अभी सजीव,
हुआ ऐसा मन मे अनुमान।

तपस्वी! क्यो इतने हो क्लांत ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग!

हृदय में क्या है नही अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कही न त्याग
तुम्हे, मन में धर सुन्दर वेश!

दुख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान;
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

"दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमे सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओ का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल;

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"

लगे कहने मनु सहित विषाद:—
"मधुर मारुत से ये उच्छ्वास
अधिक उत्साह तरंग अबाध
उठाते मानस मे सविलास।

किंतु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नही संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगंतुक ने सस्नेह:—
"अरे, तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नही केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनंद
किये है परिवर्त्तन में टेक।

युगों की चट्टानो पर सृष्टि
डाल पद चिह्न चली गंभीर;
देव, गधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भू खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनंद।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार !
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नही आत्म विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कही अवलंब;
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
उऋण होऊँ मै बिना विलम्ब ?

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

"और यह क्या तुम सुनते नही
विधाता का मगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी वनो",
विश्व मे गूँज रहा जय गान।

"डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव-असफलताओं का ध्वस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज;
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन[1] का चेतन राज।

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्त्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बंद।

---

१. पाण्डुलिपि में—मनु।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबे-उतरायँ;
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का कोड़ामय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय!"

"मधुमय वसंत जीवन वन के,
बह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।

क्या तुम्हें देख कर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं!

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना;
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी? सच कहना।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलों के अंचल में;
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कल कल में।

निश्चित आह! वह था कितना
उल्लास, काकली के स्वर मे!
आनंद प्रतिध्वनि गूँज रही
जीवन दिगंत के अबर मे।

शिशु चित्रकार चचलता में
कितनी आशा चित्रित करते !
अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी
जीवन की आँखो में भरते।

लतिका घूँघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध सी मधु धारा,
प्लावित करती मन अजिर रही,
था तुच्छ विश्व वैभव सारा।

वे फूल और वह हँसी रही
वह सौरभ, वह निश्वास छना;
वह कलरव, वह सगीत अरे
वह कोलाहल एकात बना।"

कहते कहते कुछ सोच रहे
लेकर निश्वास निराशा की;
मनु अपने मन की बात, रुकी
फिर भी न प्रगति अभिलाषा की।

"ओ नील आवरण जगती के
दुर्बोध न तू ही है इतना;
अवगुठन होता आँखो का
आलोक रूप बनता जितना।[१]

चल-चक्र वरुण का ज्योति भरा
व्याकुल तू क्यों देता फेरी?
तारों के फूल बिखरते हैं
लुटती है असफलता तेरी।

नव नील कुज है झीम रहे,
कुसुमो की कथा न बंद हुई;
है अंतरिक्ष आमोद भरा
हिम कणिका ही मकरद हुई।

इस इदीवर से गध भरी
बुनती जाली मधु की धारा,
मन-मधुकर की अनुराग मयी
बन रही मोहिनी सी कारा।

अणुओं को है विश्राम कहाँ
यह कृति मय वेग भरा कितना;
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना!

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव स्मारक संग्रह मे आवरण शीर्षक से संवत् १९८५ मे सत्रहवे छन्दपर्यन्त प्रकाशित।

उन नृत्य शिथिल निश्वासो की,
कितनी है मोहमयी माया,
जिनसे समीर छनता छनता
बनता है प्राणों की छाया।

आकाश-रध्र है पूरित से
यह सृष्टि गहन सी होती है;
आलोक सभी मूर्च्छित सोते,
यह आँख थकी सी रोती है।

सौदर्य्यमयी चंचल कृतियाँ
बनकर रहस्य है नाच रही,
मेरी आँखो को रोक वही
आगे बढ़ने में जाँच रही।

मै देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?

मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें !

माधवी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा सी;
क्या हो सूने मरु-अंचल में
अंत:सलिला की धारा सी।

श्रुतियो में चुपके चुपके से
कोई मधु धारा घोल रहा;
इस नीरवता के परदे मे
जैसे कोई कुछ बोल रहा।

है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
सज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो ऑखे बन्द किये
तद्रा को पास बुलाता है।

वीड़ा है यह चचल कितनी
विभ्रम से घूँघट खीच रही,
छिपने पर स्वय मृदुल कर से
क्यो मेरी आँखे मीच रही!

उद्‌बुद्ध क्षितिज की श्याम छटा
इस उदित शुक्र की छाया मे;
ऊषा सा कौन रहस्य लिये
सोती किरनो की काया मे!

काम ॥ ४७७ ॥

उठती है किरनो के ऊपर
कोमल किसलय की छाजन सी,
स्वर का मधु निस्वन रध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंसी।

सब कहते है 'खोलो खोलो
छवि देखूँगा जीवन धन की',
आवरण स्वयं बनते जाते
है भीड लग रही दर्शन की।

चाँदनी सदृश खुल जाय कही
अवगुठन आज सँवरता सा;
जिसमे अनत कल्लोल भरा
लहरो मे मस्त विचरता सा—

अपना फेनिल फन पटक रहा,
मणियो का जाल लुटाता सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो
उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"

"जो कुछ हो, मै न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के;
आने दो कितनी आती है
बाधाये दम सयम बन के।

नक्षत्रो, तुम क्या देखोगे
इस ऊषा की लाली क्या है?
संकल्प भर रहा है उनमें
सदेहो की जाली क्या है?

कौशल यह कोमल कितना है
सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या?
चेतना इन्द्रियो की मेरी
मेरी ही हार बनेगी क्या?"

"पीता हूँ, हाँ मै पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गध भरा
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा।

तारा बनकर यह बिखर रहा
क्यों स्वप्नों का उन्माद अरे।
मादकता माती नींद लिये
सोऊँ मन में अवसाद भरे।''

चेतना शिथिल सी होती है
उन अंधकार की लहरों मे;
मनु डूब चले धीरे-धीरे
रजनी के पिछले पहरों में।

उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी
स्मृतियों की सचित छाया से;
इस मन को है विश्राम कहाँ
चचल यह अपनी माया से।

जागरण लोक था भूल चला
स्वप्नो का सुख सचार हुआ;
कौतुक सा बन मनु के मन का
वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ।

था व्यक्ति सोचता आलस मे
चेतना सजग रहती दुहरी,
कानो के कान खोल कर के
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

"प्यासा हूँ मै अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मै न हुआ;
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।

देवो की सृष्टि विलीन हुई
अनुशीलन मे अनुदिन मेरे;
मेरा अतिचार न बद हुआ
उन्मत्त रहा सबको घेरे।

मेरी उपासना करते वे
मेरा संकेत विधान बना;
विस्तृत जो मोह रहा मेरा
वह देव विलास वितान तना।

मै काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था;
हँसता था और हँसाता था
उनका मै कृतिमय जीवन था।

जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही,
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अंतर मे उसकी चाह रही।

हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्त्तन सा;
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्त्तन सा।

उस प्रकृति लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का,
मधु हास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

"वह मूल शक्ति उठ खडी हुई
अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

कुकुम का चूर्ण उडाते से
मिलने को गले ललकते से,
अतरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से।

वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया मे,
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया मे।

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
सश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था
मादक मरद की वृष्टि रही।

भुज-लता पडी सरिताओं की
शैलो के गले सनाथ हुए;
जलनिधि का अचल व्यजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुए।

कोरक अंकुर सा जन्म रहा,
हम दोनो साथी झूल चले;
उस नवल सर्ग के कानन मे
मृदु मलयानिल से फूल चले।

हम भूख प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा तृप्ति समन्वय मे;
रति-काम बने उस रचना मे
जो रही नित्य यौवन वय मे।"

"सुरबालाओ की सखी रही
उनकी हृत्तत्री की लय थी;
रति, उनके मन को सुलझाती
वह राग भरी थी, मधुमय थी।

मै तृष्णा था विकसित करता
वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
आनंद-समन्वय होता था
हम ले चलते पथ पर उनको।

वे अमर रहे न विनोद रहा,
चेतनता रही, अनंग हुआ;
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये
संचित का सरल प्रसंग हुआ।"

"यह नीड मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है;
है परंपरा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

वे कितने ऐसे होते है
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामों के
संबंध सूत्र से बुनते है।

ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अंबर में;
वह क्या है ? क्या तुम देख रहे
वर्णो के मेघाडंबर में ?

अंतर है दिन औ' रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है;
माया के नीले अंचल में
आलोक बिंदु सा झरता है।"

"आरभिक वात्या उद्‌गम मै
अब प्रगति बन रहा संसृति का;
मानव की शीतल छाया में
ऋण शोध करूँगा निज कृति का।

दोनों का समुचित प्रतिवर्त्तन
जीवन में शुद्ध विकास हुआ;
प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई
जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ।

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
उसका संदेश सुनाने को
ससृति मे आई वह अमला।[1]

---

१. उसका सन्देश लिये आई श्रद्धा संसृति मे अतिविमला—पाण्डुलिपि

हम दोनो की सतान वही,
कितनी सुन्दर भोली-भाली;
रगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलो की वह डाली।

जड़-चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल सुधारो की।
वह शीतलता है शातिमयी
जोवन के उष्ण विचारो की।

उसको पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो" कहती कहती,
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।

मनु आँख खोल कर पूछ रहे:—
"पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो
कैसे कोई नर पाता है?"

पर कौन वहाँ उत्तर देता!
वह स्वप्न अनोखा भग हुआ;
देखा तो सुन्दर प्राची में
अरुणोदय का रस रग हुआ।

काम ॥४८७॥

उस लता कुंज की झिल-मिल से
हेमाभरश्मि थी खेल रही;
देवो के सोम सुधा रस की
मनु के हाथों मे बेल रही।

•

वासना

चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रात;
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रांत।
एक गृह-पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार;
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।

एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम;
दूसरा रजित किरण से श्री कलित घनश्याम।

नदी तट के क्षितिज मे नव जलद, सायकाल,
खेलता ज्यों दो बिजलियो से मधुरिमा जाल।
लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश,
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस।

था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव,
थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सतत अटकाव।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल;
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल!

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष;
गूढ अतर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अत का आलोक;
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक।

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय;
घन पटल मे डूबता था किरण का समुदाय।
कर्ण का अवसाद दिन से कर रहा छल छद,
मधुकरी का सुरस सचय हो चला अब बद।

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन;
भेटता अंतिम अरुण आलोक वैभव हीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक;
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक।

मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान;
काम के सदेश से ही भर रहे थे कान।
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण अधिकार,
शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार।

नई इच्छा खीच लाती, अतिथि का सकेत—
चल रहा था सरल शासन युक्त सुरुचि समेत।
देखते थे अग्नि-शाला से कुतूहल युक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन मुक्त।

एक माया! आ रहा था पशु अतिथि के साथ!
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।
चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग;
स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह सग।

कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल;
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि जाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि बदन निहार;
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार;

वासना ॥४९३॥

और वह पुचकारने का स्नेह शवलित चाव;
मंजु ममता से मिला बन हृदय का सद्भाव।
देखते ही देखते दोनो पहुँच कर पास,
लगे करने सरल शोभन मधुर मुग्ध विलास।

वह विराग-विभूति ईर्षा पवन से हो व्यस्त;
बिखरती थी; और खुलते ज्वलन कण जो अस्त।
किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूँट, हिचकी आह !
कौन देता है हृदय में वेदना मय डाह ?

"आह यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह !
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह।
मै ? कहाँ मै ? ले लिया करते सभी निज भाग;
और देते फेक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग !

अरी नीच कृतघ्नते ! पिच्छल शिला संलग्न;
मलिन कोई सी करेगी हृदय कितने भग्न ?
हृदय का राजस्व अपहृत, कर अधम अपराध,
दस्यु मुझसे चाहते है सुख सदा निर्बाध।

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान् ;
सभी मेरी है, सभी करती रहे प्रतिदान।
यही तो, मै ज्वलित वाडव-वन्हि नित्य अशात,
सिन्धु लहरो सा करे शीतल मुझे सब शात।"

आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार;
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।
कहा "क्यो तुम अभी बैठे ही रहे धर ध्यान;
देखती है आँख कुछ, सुनते रहे कुछ कान—

मन कहीं, यह क्या हुआ है ? आज कैसा रंग ?"
नत हुआ फण दृप्त ईर्षा का विलीन उमंग।
और सहलाने लगा कर-कमल कोमल कांत;
देख कर वह रूप सुषमा मनु हुए कुछ शांत।

कहा "अतिथि ! कहाँ रहे तुम किधर थे अज्ञात;
और यह सहचर तुम्हारा कर रहा ज्यो बात—
किसी सुलभ भविष्य की, क्यो आज अधिक अधीर?
मिल रहा तुमसे चिरतन स्नेह सा गभीर?

[1]कौन हो तुम खीचते यो मुझे अपनी ओर
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर!
ज्योत्स्ना निर्झर! ठहरती ही नही यह आँख,
तुम्हे कुछ पहचानने की खो गयी सी साख।

कौन करुण रहस्य है तुममे छिपा छविमान?
लता वीरुध दिया करते जिसे छाया दान।
पशु कि हो पाषाण सब मे नृत्य का नव छद;
एक आलिगन बुलाता सभी को सानद।

राशि राशि बिखर पडा है शात सचित प्यार,
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार।
देखता हूँ चकित जैसे ललित लतिका-लास,
अरुण घन की सजल छाया मे दिनात निवास—

और उसमे हो चला जैसे सहज सविलास,
मदिर माधव यामिनी का धीर पद विन्यास।
आह यह जो रहा सूना पड़ा कोना दीन,
ध्वस्त मदिर का, बसाता जिसे कोई भी न—

---

१ 'कौन' शीर्षक से माधुरी श्रावण १९६८ संवत् मे बाइसवी पंक्ति पर्यंत प्रकाशित।

उसी मे विश्राम माया का अचल आवास;
अरे यह सुख नीद कैसी, हो रहा हिम ह्रास।
वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौंदर्य्य प्रतिमा। कौन तुम छवि धाम।

कामना की किरन का जिसमे मिला हो ओज;
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मदिर सी हँसी ज्यो खुली सुषमा बॉट,
क्यो न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट ?"

कहा हँसकर "अतिथि हूँ मै, और परिचय व्यर्थ;
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ।
चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज--
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खण्ड वाहन साज।

कलिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनंत मे बसने लगा अब लोक;
इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान,
देख कर सब भूल जाये दु:ख के अनुमान।

कहा मनु ने "तुम्हे देखा अतिथि ! कितनी बार;
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार !
पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत;
गूँजते जब मन्दिर घन में वासना के गीत।

भूल कर जिस दृश्य को मै बना आज अचेत,
वही कुछ सव्रीड, सस्मित कर रहा सकेत।
"मै तुम्हारा हो रहा हूँ" यही सुदृढ विचार,
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।

मधु बरसती विधु किरन है कॉपती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मथर, चल रहा मधु-भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों है प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?

आज क्यों सदेह होता रूठने का व्यर्थ,
क्यो मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ !
धमनियो मे वेदना सा रक्त का सचार,
हृदय मे है कॉपती धड़कन, लिये लघु भार !

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द,
मानती सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छंद !
अग्नि कीट समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमे दाह !

कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार !
हृदय जिसकी कांत छाया मे लिये निश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश ।"

श्याम नभ मे मधु किरन सा फिर वही मृदु हास,
सिंधु की हिलकोर दक्षिण का समीर विलास !
कुज मे गुजरित कोई मुकुल सा अव्यक्त,
लगा कहने अतिथि, मनु थे सुन रहे अनुरक्त—

"यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद,
सखे ! तुमुल तरग सा उच्छ्वासमय सवाद ।
मत कहो पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन,
विमल राका मूर्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन ।

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील,
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मगल खील,
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रात
बिखरती है, तामरस सुन्दर चरण के प्रांत ।"

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यो यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप;
बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमत ।

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रांत,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश,

कर पकड़ उन्मत्त से हो लगे कहने, "आज,
देखता हूँ दूसरा कुछ मधुरिमामय साज!
वही छवि! हाँ वही जैसे! किन्तु क्या यह भूल?
रही विस्मृति सिंधु मे स्मृति नाव विकल अकूल?

जन्म संगिनि एक थी जो काम बाला, नाम—
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम—
सतत मिलता था उसी से, अरे जिसको फूल,
दिया करते अर्घ मे मकरन्द, सुषमा मूल!

प्रलय में भी बच रहे हम फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद!
ज्योत्स्ना सी निकल आई! पार कर नीहार,
प्रणय विधु है खड़ा नभ में लिये तारक हार!

कुटिल कुंतल से बनाती काल माया जाल,
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल।
नीद सी दुर्भेद्य तम की, फेंकती यह दृष्टि,
स्वप्न सी है बिखर जाती हँसी की चल सृष्टि।

हुई केंद्रीभूत सी है साधना की स्फूर्त्ति,
दृढ सकल सुकुमारता में रम्य नारी मूर्त्ति।
दिवाकर दिन या परिश्रम का विकल विश्रांत,
मै पुरुष शिशु सा भटकता आज तक था भ्रांत।

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कात,
विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शांत।
पददलित सी थकी व्रज्या ज्यों सदा आक्रात,
शस्य श्यामल भूमि मे होती समाप्त अशांत।

आह ! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम,
पाँ रहा हूँ आज देकर तुम्हीं से निज काम।
आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान !"

धूम लतिका सी गगन तरु पर न चढती दीन,
दबी शिशिर निशीथ मे ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार,

और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
मधुर क्रीड़ा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्‌गद बोल।

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे देव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव!
आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान!"

●

लज्जा

"कोमल किसलय के चंचल में
नन्ही कलिका ज्यों छिपती सी;
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर मे दिपती सी।

मंजुल स्वप्नो की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों;
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों;

वैसी ही माया में लिपटी
अधरो पर उँगली धरे हुए।
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका सी
तुम कौन आ रही हो बढती ?
कोमल बाहें फैलाये सी
आलिंगन का जादू पढती !

किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु धार ढरे ?

पुलकित कदंब की माला सी
पहना देती हो अतर मे;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर मे।

वरदान सदृश हो डाल रही
नीली किरनों से बुना हुआ;
यह अचल कितना हलका सा
कितने सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं
कोमलता में बल खाती हूँ;
मै सिमिट रही सी अपने में
परिहास गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भर कर बाँकपना।
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपनो मे कलरव का
ससार आँख जब खोल रहा;
अनुराग समीरों पर तिरता
था इतराता सा ढोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को;
जीवन भर के बल वैभव से
सत्कृत करती दूरागत को।

किरनो का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलंबन ले चढती;
रस के निर्झर मे धँस कर मै
आनंद शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने में हिचक, देखने में
पलके आखो पर झुकती है;
कलरव परिहास भरी गूँजे
अधरो पर सहसा रुकती है।

संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौहो की काली
रेखा सी भ्रम मे पड़ी रही।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही;
स्वच्छंद सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही !"

सध्या की लाली मे हँसती,
उसका ही आश्रय लेती सी,
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी
श्रद्धा का उत्तर देती सी।

"इतना न चमत्कृत हो बाले।
अपने मन का उपकार करो;
मै एक पकड हूँ जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो।

अंबर-चुम्बी हिम शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमे उन्माद लिये।

मंगल कुकुम की श्री जिसमे
निखरी हो ऊषा की लाली;
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमे हरियाली।

हो नयनों का कल्याण बना
आनद सुमन सा विकसा हो,
वासती के वन-वैभव में
जिसका पचम स्वर पिक सा हो,

जो गूँज उठे फिर नस नस में
मूर्च्छना समान मचलता सा;
आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता सा;

नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस घन से छा जाती हो;
वह कौंध की जिससे अंतर की
शीतलता ठंढक पाती हो।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की सी ममता हो,
जागरण प्रात सा हँसता हो
जिसमे मध्यान्ह निखरता हो।

हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर से,
उस नवल चद्रिका से बिछले
जो मानस की लहरो पर से।

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनंदन में,
मकरंद मिलाती हों अपना
स्वागत के कुकुम चंदन में

कोमल किसलय मर्मर रव से
जिसका जय घोष सुनाते हो,
जिसमे दुख सुख मिलकर मन के
उत्सव आनंद मनाते हों।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौदर्य्य जिसे सब कहते है;
जिसमे अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते है।

मै उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूँ सिखलाती;
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।

मै देव सृष्टि की रति रानी
निज पंचाबण से वंचित हो,
बन आवर्जना मूर्ति दीना
अपनी अतृप्ति सी संचित हो।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में
अपनी अतीत असफलता सी;
लीला विलास की खेद भरी
अवसाद मयी श्रम दलिता सी।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मै शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुंदरता पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन सी लगती;
कुंचित अलकों सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।"

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है ?
इस निविड़ निशा मे संसृति की
आलोकमयी रेखा क्या है ?

यह आज समझ तो पायी हूँ
मै दुर्बलता मे नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मै सब से हारी हूँ।

पर मन भी क्यो इतना ढीला
अपने ही होता जाता है!
घनश्याम खड सी आँखो मे
क्यो सहसा जल भर आता है ?

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु छाया मे;
चुपचाप पड़ी रहने की क्यो
ममता जगती है माया मे ?

छाया पथ में तारक द्युति सी
झिलमिल करने की मधु लीला,
अभिनय करती क्यों इस मन मे
कोमल निरीहता श्रम शीला ?

निस्सबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में;
चाहती नही जागरण कभी
सपने की इस सुघराई मे।

नारी जीवन का चित्र यही
क्या ? विकल रग भर देती हो,
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला को देती हो।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच विचार न कर सकती,
पगली सी कोई अंतर मे
बैठी जैसे अनुदिन बकती।

मै जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ,
भुज लता फँसा कर नर तरु से
भूले सी झोके खाती हूँ।

इस अर्पण मे कुछ और नही
केवल उत्सर्ग छलकता है;
मै दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता।"

"क्या कहती हो ठहरो नारी!
सकल्प अश्रु जल से अपने;
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने से सपने।

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में।

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा;
संघर्ष सदा उर अंतर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा;
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह सन्धि पत्र लिखना होगा।"

कर्म

यज्ञ

कर्म-सूत्र संकेत सदृश थी सोम-लता तब मनु को
चढ़ी शिंजिनी सी खींचा उसने फिर जीवन धनु को

सर्ग का नाम पाण्डुलिपि मे यज्ञ है आदि संस्करण के मुद्रण काल मे परिवर्त्तन पूर्वक कर्म हुआ ।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को;
चढी शिंजिनी सी, खीचा फिर
उसने जीवन-धनु को !

हुए अग्रसर उसी मार्ग मे
छुटे तीर से फिर वे,
यज्ञ-यज्ञ की कटु पुकार से
रह न सके अब थिर वे।

भरा कान में कथन काम का
मन मे नव अलिभाषा,
लगे सोचने मनु अतिरंजित
उमड रही थी आशा।

ललक रही थी ललित लालसा
सोम-पान की प्यासी;
जीवन के उस दीन विभव में
जैसी बनी उदासी।

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खडी थी;
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पडी थी।

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर
काम प्रेरणा मिल के;
भ्रांत अर्थ बन आगे आये
बने ताड़ थे तिल के।

बन जाता सिद्धात प्रथम फिर
पुष्टि हुआ करती है;
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले
सदा भरा करती है।

मन जब निश्चित सा कर लेता
कोई मत है अपना;
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का
सतत निरखता सपना।

पवन वही हिलकोर उठाता
वही तरलता जल में।
वही प्रतिध्वनि अंतरतम की
छा जाती नभ तल में।

सदा समर्थन करती उसकी
तर्कशास्त्र की पीढ़ी;
"ठीक यही है सत्य! यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी।

और सत्य ! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है;
मेधा के क्रीडा-पजर का
पाला हुआ सुआ है।

सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता 'छुईमुई' है।

असुर पुरोहित उस विप्लव से
बच कर भटक रहे थे;
वे किलात आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।

देख देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती
उनकी आमिष लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।

'क्यों किलात ! खाते-खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मै देखूँ जीवित पशु
घूँट लहू का पीऊँ !

क्या कोई इसका उपाय ही
नही कि इसको खाऊँ ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ।'

आकुलि ने तब कहा, 'देखते
नही साथ मे उसके;
एक मृदुलता की, ममता की
छाया रहती हँस के।

अधकार को दूर भगाती
वह आलोक किरन सी;
मेरी माया बिंध जाती है
जिससे हलके घन सी।

तो भी चलो आज कुछ करके
तब मै स्वस्थ रहूँगा;
या जो भी आवेगे सुख दुख
उनको सहज सहूँगा।'

योंही दोनो कर विचार उस
कुज द्वार पर आए;
जहाँ सोचते थे मनु बैठे
मन से ध्यान लगाये।

"कर्म यज्ञ[१] से जीवन के
सपनो का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन मे मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।

किन्तु बनेगा कौन पुरोहित ?
अब यह प्रश्न नया है,
किस विधान से करूँ यज्ञ यह
पथ किस ओर गया है।

श्रद्धा! पुण्य-प्राप्य है मेरी
वह अनंत अभिलाषा,
फिर इस निर्जन मे खोजे
अब किसको मेरी आशा।"

कहा असुर मित्रों ने अपना
मुख गंभीर बनाये;
"जिनके लिए यज्ञ होगा हम
उनके भेजे आये।

यजन करोगे क्या तुम ? फिर यह
किसको खोज रहे हो;
अरे पुरोहित की आशा मे
कितने कष्ट सहे हो।

इस जगती के प्रतिनिधि जिनसे
प्रगट निशीथ सबेरा,
'मित्र वरुण' जिनकी छाया है
यह आलोक अँधेरा।

वे ही पथ दर्शक हों सब विधि
पूरी होगी मेरी;
चलो आज फिर से वेदी पर
हो ज्वाला की फेरी।"

---

१. पाण्डुलिपि में—यज्ञकर्म।

"परंपरागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लडियाँ;
जीवन साधन की उलझी हैं
जिनमें सुख की घड़ियाँ;

जिनमें हैं प्रेरणामयी सी
संचित कितनी कृतियाँ;
पुलक भरी सुख देने वाली
बन कर मादक स्मृतियाँ।

साधारण से कुछ अतिरंजित
गति में मधुर त्वरा सी;
उत्सव लीला, निर्जनता की
जिससे कटे उदासी;

एक विशेष प्रकार! कुतूहल
होगा श्रद्धा को भी।"
प्रसन्नता से नाच उठा मन
नूतनता का लोभी।

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी
धधक रही थी ज्वाला;
दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे
अस्थि खंड की माला!

वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी;
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।

सोम पात्र भी भरा, धरा था
पुरोडाश भी आगे,
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब
सुप्त भाव सब जागे।

"जिसका था उल्लास निरखना
वही अलग जा बैठी,
यह सब क्यों फिर ? दृप्त वासना
लगी गरजने ऐंठी।

जिसमें जीवन का संचित सुख
सुन्दर मूर्त्त बना है!
हृदय खोल कर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है?

वही प्रसन्न नही? रहस्य कुछ
इसमे सुनिहित होगा;
आज वही पशु मर कर भी क्या
सुख में बाधक होगा?

श्रद्धा रूठ गयी तो फिर क्या
उसे मनाना होगा;
या वह स्वयं मान जायेगी,
किस पथ जाना होगा?"

पुरोडाश के साथ सोम का
पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अंश को
मादकता से भरने।

संध्या की धूसर छाया में
शैल शृंग की रेखा;
अंकित थी दिगंत अंबर में
लिये मलिन शशि-लेखा।

श्रद्धा अपनी शयन गुहा मे
दुखी लौट कर आयी;
एक विरक्ति बोझ सी ढोती
मन ही मन बिलखायी !

सूखी काष्ठ सन्धि में पतली
अनल शिखा जलती थी;
उस धुँधले गृह में आभा से
तामस को छलती थी।

किंतु कभी बुझ जाती पाकर
शीत पवन के झोंके;
कभी उसी से जल उठती तब
कौन उसे फिर रोके।

कामायनी पड़ी थी अपना
कोमल चर्म बिछा के;
श्रम मानो विश्राम कर रहा
मृदु आलस को पाके।

धीरे धीरे जगत चल रहा
अपने उस ऋजु पथ में,
धीरे धीरे खिलते तारे
मृग जुतते विधु रथ मे।

अंचल लटकाती निशीथिनी
अपना ज्योत्स्ना-शाली,
जिसकी छाया मे सुख पावे
सृष्टि वेदना वाली।

उच्च शैल शिखरों पर हँसती
प्रकृति चंचला वाला,
धवल हँसी बिखराती अपनी
फैला मधुर उजाला।

जीवन की उद्दाम लालसा
उलझी जिससे व्रीडा,
एक तीव्र उन्माद और मन
मथने वाली पीड़ा;

मधुर विरक्ति भरी आकुलता,
घिरती हृदय गगन में;
अंतर्दाह स्नेह का तब भी
होता था उस मन में।

वे असहाय नयन थे खुलते—
मुँदते भीषणता में,
आज स्नेह का पात्र खड़ा था,
स्पष्ट कुटिल कटुता में।

"कितना दु:ख जिसे मै चाहूँ
वह कुछ और बना हो,
मेरा मानस चित्र खीचना
सुन्दर सा सपना हो।

जाग उठी है दारुण ज्वाला
इस अनंत मधुवन में;
कैसे बुझे कौन कह देगा
इस नीरव निर्जन में।

यह अनत अवकाश नीड़ सा
जिसका व्यथित बसेरा;
वही वेदना सजग पलक मे
भर कर अलस बेरा।

काँप रहे है चरण पवन के
विस्तृत नीरवता सी,
घुली जा रही है दिशि दिशि की
नभ में मलिन उदासी।

अंतरतम की प्यास, विकलता से
लिपटी बढ़ती है;
युग युग की असफलता का
अवलंबन ले चढ़ती है।

विश्व विपुल आतंक त्रस्त है
अपने ताप विषम से;
फैल रही है घनी नीलिमा
अंतर्दाह परम से।

[1]उद्वेलित है उदधि, लहरियाँ
लोट रही व्याकुल सी;
चक्रवाल की धुँधली रेखा
मानो जाती झुलसी।

सघन घूम कुण्डल में कैसी
नाच रही यह ज्वाला।
तिमिर फणी पहने हैं मानो
अपने मणि की माला!

जगतीतल का सारा क्रंदन
यह विषमयी विषमता,
चुभने वाला अंतरंग छल
अति दारुण निर्ममता।

---

१ माधुरी में विषपान शीर्षक से "श्रमकण से ये तारे" पर्यन्त प्रकाशित।

जीवन के वे निष्ठुर दर्शन
जिनकी आतुर पीड़ा;
कलुष चक्र सी नाच रही है
बन आँखो की क्रीड़ा।

स्खलन चेतना के कौशल का
भूल जिसे करते है,
एक विन्दु, जिसमे विषाद के
नद उमड़े रहते है।

आह वही अपराध, जगत की
दुर्बलता की माया;
धरणी की वर्जित मादकता,
सचित तम की छाया।

नील गरल से भरा हुआ
यह चद्र कपाल लिये हो,
इन्ही निमीलित ताराओं में
कितनी शांति पिये हो।

अखिल विश्व का विष पीते हो
सृष्टि जियेगी फिर से,
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हे किधर से?

अचल अनंत नील लहरों पर
बैठे आसन मारे,
देव ! कौन तुम झरते तन से
श्रमकण से ये तारे !

इन चरणो मे कर्म कुसुम की
अजलि वे दे सकते,
चले आ रहे छायापथ मे
लोक पथिक जो थकते ।

किन्तु कहाँ वह दुर्लभ उनको
स्वीकृति मिली तुम्हारी !
लौटाये जाते वे असफल
जैसे नित्य भिखारी ।

[1]प्रखर विनाशशील नर्त्तन में
विपुल विश्व की माया,
क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना
बन कर उसकी काया ।

सदा पूर्णता पाने को सब
भूल किया करते क्या ?
जीवन में यौवन लाने को
जी जी कर मरते क्या ?

---

१. विजय मे प्रकाशित ।

यह व्यापार महा गतिशाली
कहीं नहीं बसता क्या !
क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल
चुपके से हँसता क्या !

यह विराग संबंध हृदय का
कैसी यह मानवता !
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता !

जीवन का संतोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों ?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर सा कसता क्यों ?

दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा,
कौन उपाय ! गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा !”

जाग उठी थी तरल वासना
मिली रही मादकता;
मनु को कौन वहाँ आने से
भला रोक अब सकता !

खुले मसृण भुज-मूलो से
वह आमत्रण था मिलता;
उन्नत वक्षो मे आलिंगन
सुख लहरो सा तिरता।

नीचा हो उठता जो धीमे
धीमे निश्वासो में;
जीवन का ज्यो ज्वार उठ रहा
हिमकर के हासों मे।

जागृत था सौंदर्य्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी,
रूप चंद्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा सी नारी।

वे मांसल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते,
अलकों की डोरी मे जीवन
कण कण उलझे जाते।

प्रिय को ठुकरा कर भी मन की
माया उलझा लेती,
प्रणय शिला प्रत्यावर्त्तन में
उसको लौटा देती।

जलदागम मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली;
श्रद्धा की, धीरे से मनु ने
अपने कर मे ले ली।

अनुनय वाणी में, आँखो में
उपालंभ की छाया;
कहने लगे "अरे यह कैसी
मानवती की माया!

स्वर्ग बनाया है जो मैने
उसे न विफल बनाओ,
अरी अप्सरे! उस अतीत के
नूतन गान सुनाओ।

इस निर्जन में ज्योत्स्ना पुलकित
विधुयुत नभ के नीचे,
केवल हम तुम और कौन है?
रहो न आँखे मीचे।

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा;
जीवन के दोनों कूलो मे
बहे वासना धारा।

श्रम की, इस अभाव की जगती
उसकी सब आकुलता;
जिस क्षण भूल सकें हम अपनी
यह भीषण चेतनता।

वही स्वर्ग की बन अनंतता
मुसक्याता रहता है;
दो बूँदो मे जीवन का रस
लो बरबस बहता है।

देवों को अर्पित मधु मिश्रित
सोम अधर से छू लो,
मादकता दोला पर प्रेयसि !
आओ मिलकर झूलो।"

श्रद्धा जाग रही थी तब भी
छाई थी मादकता
मधुर भाव उसके तन मन मे
अपना ही रस छकता।

बोली एक सहज मुद्रा से
"यह तुम क्या कहते हो,
आज अभी तो किसी भाव की
धारा मे बहते हो।

कल ही यदि परिवर्त्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा,
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा!

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते,
कितना धोखा! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।

ये प्राणी जो बचे हुए है
इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नही
क्या वे सब ही है फीके!

मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमे सब कुछ ले लेना हो
हंत ! बची क्या शवता !"

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।

इंद्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे;
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर-मधुर कुछ गावे।

रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना मे
मृदु मुसक्यान खिले तो,
आशाओ पर श्वास निछावर
होकर गले मिले तो।

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो;
वह अपना सुख स्वर्ग नही है।
यह तुम क्या कहती हो?

जिसे खोजता फिरता मै इस
हिमगिरि के अचल मे;
वही अभाव स्वर्ग बन हँसता
इस जीवन चंचल में।

वर्त्तमान जीवन के सुख से
योग जहाँ होता है;
छली अदृष्ट अभाव बना क्यो
वही प्रकट होता है।

किन्तु सफल कृतियो की
अपनी सीमा है हमही तो,
पूरी हो कामना हमारी,
विफल प्रयास नही तो!"

कर्म ॥५४१॥

एक अचेतनता लाती सी
सविनय श्रद्धा बोली,
"बचा जान यह भाव सृष्टि ने
फिर से आँखे खोली !

भेद बुद्धि निर्मम ममता की
समझ, बची ही होगी;
प्रलय पयोनिधि की लहरे भी
लौट गयी ही होगी।

अपने मे सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकात स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।

रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है !

सुख को सीमित्त कर अपने में
केवल दुख छोडोगे,
इत्तर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें;
सरस न हो मकरंद बिदु से
खुल कर तो ये मर लें।

सूखें, झड़े, और तब कुचले
सौरभ को पाओगे;
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे!

सुख अपने संतोष के लिए
संग्रह मूल नही है;
उसमे एक प्रदर्शन जिसको
देखे अन्य, वही है।

निर्जन में क्या एक अकेले,
तुम्हे प्रमोद मिलेगा?
नही इसी से अन्य हृदय का
कोई सुमन खिलेगा।

सुख समीर पाकर, चाहे हो
वह एकात तुम्हारा,
बढती है सीमा संसृति की
बन मानवता धारा।"

हृदय हो रहा था उत्तेजित
बातें कहते कहते,
श्रद्धा के थे अधर सूखते
मन की ज्वाला सहते।

उधर सोम का पात्र लिये मनु
समय देखकर बोले—
"श्रद्धे! पी लो इसे बुद्धि के
बंधन को जो खोले।

वही करूँगा जो कहती हो
सत्य, अकेला सुख क्या!"
यह मनुहार! रुकेगा प्याला
पीने से फिर मुख क्या?

आँखें प्रिय आँखो में, डूबे
अरुण अधर थे रस में
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
चेतनता नस नस में।

छल वाणी की वह प्रवचना
हृदयो की शिशुता को;
खेल खिलाती, भुलवाती जो
उस निर्मल विभुता को।

जीवन का उद्देश्य लक्ष्य की
प्रगति दिशा को पल में
अपने एक मधुर इगित से
बदल सके जो छल मे।

वही शक्ति अवलंब मनोहर
निज मनु को थी देती;
जो अपने अभिनय से मन को
सुख में उलझा लेती।

"श्रद्धे, होगी चन्द्रशालिनी
यह भव रजनी भीमा;
तुम बन जाओ इस जीवन के
मेरे सुख की सीमा।

लज्जा का आवरण प्राण को
ढँक लेता है तम से;
उसे अकिंचन कर देता है
अलगाता 'हम तुम' से।

कुचल उठा आनन्द, यही है
बाधा, दूर हटाओ;
अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।"

और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा तृप्ति के मिस से।

दो काठों की संधि बीच उस
निभृत गुफा में अपने;
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख सपने।

●

ईर्ष्या

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार !
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अंधकार !

मनु को अब मृगया छोड नही
रह गया और था अधिक काम,
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा-सुख लाली से ललाम !

हिंसा ही नही और भी कुछ
वह खोज रहा था मन अधीर।
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा
जो बढती हो अवसाद चीर।

जो कुछ मनु के करतलगत था
उसमें न रहा कुछ भी नवीन,
श्रद्धा का सरल विनोद नही
रुचता अब था बन रहा दीन।

उठती अंतस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कांत;
वह इन्द्रचाप सी झिलमिल हो
दब जाती अपने आप शांत।

"निज उद्‌गम का मुख बंद किये
कब तक सोयेंगे अलस प्राण;
जीवन की चिर चंचल पुकार
रोये कब तक, है कहाँ त्राण!

श्रद्धा का प्रणय और उसकी
आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति;
जिसमें व्याकुल आलिंगन का
अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति।

भावना मयी वह स्फूर्ति नही
नव नव स्मित रेखा में विलीन;
अनुरोध न तो उल्लास, नही
कुसुमोद्‌गम सा कुछ भी नवीन।

आती है वाणी में न कभी
वह चाव भरी लीला हिलोर,
जिसमें नूतनता नृत्य मयी
इठलाती हो चंचल मरोर।

जब देखो बैठी हुई वहीं
शालियाँ बीन कर नहीं श्रांत !
या अन्न इकट्ठे करती है
होती न तनिक सी कभी क्लांत ।

बीजो का संग्रह और उधर
चलती है तकली भरी गीत;
सब कुछ लेकर बैठी है वह
मेरा अस्तित्व हुआ अतीत !"

लौटे थे मृगया से थक कर
दिखलाई पड़ता गुफा द्वार;
पर और न आगे बढने की
इच्छा होती, करते विचार !

मृग डाल दिया, फिर धनु को भी
मनु बैठ गये शिथिलित शरीर,
बिखरे थे सब उपकरण वहीं
आयुध, प्रत्यंचा, शृंग, तीर ।

"पश्चिम की रागमयी संध्या
अब काली थी हो चली, किन्तु
अब तक आये न अहेरी वे
क्या दूर ले गया चपल जंतु !"

यों सोच रही मन में अपने
हाथो मे तकली रही घूम,
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी चली
अलकें लेती थी गुल्फ चूम।

केतकी गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह !

मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

सोने की सिकता में मानो
कालिंदी बहती भर उसास;
स्वर्गंगा में इंदीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास !

कटि में लिपटा था नवल वसन
वैसा ही हलका बुना नील;
दुर्भर थी गर्भ मधुर पीडा
झेलती जिसे जननी सलील।

श्रम विंदु बना सा झलक रहा
भावी जननी का सरस गर्व;
बन कुसुम बिखरते थे भू पर
आया समीप था महा पर्व।

मनु ने देखा जब श्रद्धा का
वह सहज खेद से भरा रूप,
अपनी इच्छा का दृढ विरोध
जिसमें वह भाव नही अनूप।

वे कुछ भी बोले नहीं; रहे
चुपचाप देखते साधिकार,
श्रद्धा कुछ कुछ मुस्कुरा उठी
ज्यो जान गई उनका विचार।

'दिन भर थे कहाँ भटकते तुम'
बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
"यह हिंसा इतनी है प्यारी
जो भुलवाती है देह-गेह !

मैं यहाँ अकेली देख रही
पथ, सुनती सी पद-ध्वनि नितांत;
कानन में जब तुम दौड रहे
मृग के पीछे बन कर अशांत !

ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण बन रहे घूम;
देखो नीड़ो में विहग युगल
अपने शिशुओ को रहे चूम !

उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार !
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार ?"

"श्रद्धे तुमको कुछ कभी नही
पर मै तो देख रहा अभाव,
भूली सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल घाव।

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह।
गति हीन पगु सा पडा-पडा
ढह कर जैसे बन रहा डीह।

जब जड़ बंधन सा एक मोह
कसता प्राणो का मृदु शरीर,
आकुलता और जकडने की
तब ग्रथि तोड़ती हो अधीर।

हँस कर बोले, बोलते हुए
निकले मधु निर्झर ललित गान,
गानो मे हो उल्लास भरा
झूमे जिसमे बन मधुर प्रान।

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल।
आशा के कोमल तंतु सदृश
तुम तकली मे हो रही झूल।

यह क्यों क्या मिलते नही तुम्हे
शावक के सुंदर मृदुल चर्म ?
तुम बीज बीनती क्यो ? मेरा
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।

तिस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद ?
यह किसके लिए बताओ तो
क्या इसमें है छिप रहा भेद ?"

"अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कही अस्त्र,
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मै
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।

पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने मे समर्थ;
वे क्यों न जिये, उपयोगी बन
इसका मै समझ सकी न अर्थ !

चमडे उनके आवरण रहें
ऊनो से मेरा चले काम;
वे जीवित हो मासल बन कर
हम अमृत दुहे, वे दुग्ध धाम।

वे द्रोह न करने के स्थल है
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे है
तो भव जलनिधि में बने सेतु।"

मै यह तो मान नही सकता
सुख सहज लब्ध यों छूट जायँ,
जीवन का जो संघर्ष चले
वह विफल रहे हम छले जायँ।

काली आँखों की तारा में,
मै देखूँ अपना चित्र धन्य,
मेरा मानस का मुकुर रहे,
प्रतिबिम्बित तुम से ही अनन्य।

ईर्ष्या ॥ ५५७ ॥

श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल;
मै उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल सा रहा डोल !

देखा क्या तुमने कभी नही
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?
फिर नाश और चिर निद्रा है
तब इतना क्यों विश्वास सत्य ?

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग ?
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग ?

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।

मेरा सुदर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक;
जिसमें बहती हो मधु धारा
लहरें उठती हों एक-एक।

"मैने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर,"
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड
मनु को ले चली वही अधीर।

उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी सी शांति-पुंज;
कोमल लतिकाओं की डाले
मिल सघन बनाती जहाँ कुज,

थे वातायन भी कटे हुये
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवे क्षण भर तो चले जॉय
रुक जाँय कही न समीर, अभ्र।

उसमें था झूला पडा हुआ
वेतसी लता का सुरुचि पूर्ण;
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनो का कोमल सुरभि चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषायें
उसमे चुपके से रही घूम !
कितने मगल के मधुर गान
उसके कोनो को रहे चूम !

मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान !
पर कुछ अच्छा सा नही लगा
'यह क्यो ? किसका सुख साभिमान ?'

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड़;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ;
मै उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मै बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।'

जीवन का कोमल तंतु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान;
चिर नग्न प्राण उनमे लिपटे
सुंदरता का कुछ बढे मान।

किरनो सी तू बुन दे उज्ज्वल
मेरे मधु जीवन का प्रभात।
जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल
ढँक ले प्रकाश से नवल गात।

वासना भरी उन आखों पर
आवरण डाल दे कांतिमान;
जिसमे सौदर्य्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल कुसुम समान।

अब वह आगंतुक गुफा बीच
पशु सा न रहे निर्वसन नग्न;
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी मग्न।

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मै उसके लिये बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।

झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी बदन चूम।
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी मे लेगा सहज घूम।

वह आवेगा मृदु मलयज सा
लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरो से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति लतिका-प्रवाल।

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर बोल;
मेरी पीडा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।

मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध;
उन निर्विकार नयनों मे जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध !"

"तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभत रंग;
मै सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।

यह जलन नही सह सकता मै
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मै रमण करूँ बन एक तत्व।

यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार!
भिक्षुक मै? ना, यह कभी नही
मैं लौटा लूँगा निज विचार।

तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न विंदु,
इस सुख नभ में मै विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इंदु।

भूले से कभी निहारोगी
कर आकर्षण मय हास एक,
मायाविनि! मै न उसे लूँगा
वरदान समझ कर, जानु टेक!

इस दीन अनुग्रह का मुझ पर
तुम बोझ डालने में समर्थ;
अपने को मत समझो श्रद्धे !
होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ ।

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र;
'मन की परवशता महा दु:ख'
मै यही जपूँगा महा-मंत्र ।

लो चला आज मै छोड़ यही
सचित संवेदन भार पुंज;
मुझको काँटे ही मिले धन्य !
हो सफल तुम्हे ही कुसुम-कुज ।"

कह, ज्वलन-शील अंतर लेकर
मनु चले गये, था शून्य प्रांत;
"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !"
वह कहती रही अधीर श्रांत !

●

इड़ा

"किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना मे विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश मे दिखलाता अपनी क्षमता
संघर्ष कर रहा सा जब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर ?"

देखे मैने वे शैल शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग
समाधि में रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबोध
स्वेद बिंदु उसके लेकर वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध
मुक्ति, प्रतिष्ठा मै वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
घूम चला जाता अग जग प्रति पग में कंपन की तरंग
वह ज्वलन शील गतिमय पतंग।

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश

जब छोड चला आया सुदर प्रारंभिक जीवन का निवास
वन, गुहा, कुज मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास
पागल मै, किस पर सदय रहा ? क्या मैने ममता ली न तोड़ ?
किस पर उदारता से रीझा ? किससे न लगा दी कड़ी होड ?
इस विजन प्रांत में विलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
लू सा झुलसाता दौड रहा कब मुझसे कोई फूल खिला
मै स्वप्न देखता हूँ उजडा कल्पना लोक मे कर निवास
देखा कब मैने कुसुम हास।

इस दुख मय जीवन का प्रकाश

नभ नील लता की डालों मे उलझा अपने सुख से हताश
कलियाँ जिनको मै समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास
कितना बीहड़ पथ चला और पड़ रहा कही थक कर नितांत
उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मै निर्वासित अशात
इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाँच रही
खोखली शून्यता मे प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी मे जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मै निराश
उन ज्योति कणो का कर विनाश !

जीवन निशीथ के अंधकार !

तू नील तुहिन जल-निधि बन कर फैला है कितना वार पार
कितनी चेतनता की किरने है डूब रही ये निर्विकार
कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका मे अभग
तू मूर्तिमान हो छिप जाता प्रतिपल के परिवर्त्तन अनग
ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमें ज्योति कला
जैसे सुहागिनी की ऊर्मिल अलको मे कुकुम चूर्ण भला
रे चिर-निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार ।

जीवन-निशीथ के अंधकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन शिशु की क्रीड़ा नौकायें बस दौड़ लगाती है अनन्त
कुहुकिनि अपलक दृग के अजन ! हँसती तुझमे सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओ से सजीव चंचल चित्रो की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छायी पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार ।

यह उजड़ा सूना नगर प्रांत
जिसमें सुख दुख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प सी हो नितात
निज विकृत वक्र रेखाओं से, प्राणी का भाग्य बनी अशात
कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बन कर मँडराती विकीर्ण
इन ढेरो मे दुखभरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
आती दुलार को हिचकी सी सूने कोनो में कसक भरी
इस सूखे तरु पर मनोवृत्ति आकाश-बेलि सी रही हरी
जीवन समाधि के खडहर पर जो जल उठते दीपक अशांत
फिर बुझ जाते वे स्वयं शांत।'

यों सोच रहे मनु पडे श्रांत
श्रद्धा का सुख साधन निवास जब छोड चले आये प्रशांत
पथ पथ में भटक अटकते वे आये इस ऊजड़ नगर प्रांत
बहती सरस्वती वेग भरी निस्तब्ध हो रही निशा श्याम
नक्षत्र निरखते निर्निमेष वसुधा की वह गति विकल वाम
वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
देवेश इंद्र की विजय कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
वह पावन सारस्वत प्रदेश दु:स्वप्न देखता पड़ा क्लांत
फैला था चारों ओर ध्वांत।

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्म विश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार—
'मै स्वय सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर
उल्लास शील मै शक्ति केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा"
प्राणो के सुख साधन मे ही, सलग्न असुर करते सुधार
नियमो में बँधते दुर्निवार।

था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता मे अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनो ही थे विश्वास हीन
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करे क्यो हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमें ममत्व मय आत्म मोह स्वातंत्र्य मयी उच्छृंखलता
हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्त्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
सचमुच मै हूँ श्रद्धा विहीन।"

"मनु ! तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूण आत्म विश्वासमयी को उडा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल
जो क्षण बीते सुख साधन मे उनको ही वास्तव लिया मान
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह मे कुछ सत्ता है नारी की
सम रसता है संबध बनी अधिकार और अधिकारी की।"
जब गूँजी यह वाणी तीखी कपित करती अम्बर अकूल
मनु को जैसा चुभ गया शूल।

"यह कौन ? अरे फिर वही काम !
जिसने इस भ्रम मे है डाला छीना जीवन का सुख विराम ?
प्रत्यक्ष लगा होने अतीत जिन घडियो का अब शेष नाम
वरदान आज उस गत युग का कंपित करता है अंतरंग
अभिशाप ताप की ज्वाला से जल रहा आज मन और अग।"
बोले मनु "क्या मै भ्रान्त साधना में ही अब तक लगा रहा
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नही सस्नेह कहा ?
पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत धाम
फिर क्यो न हुआ मै पूर्ण काम ?"

"मनु ! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमे जीवन का भरा मान
जिसमे चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुंदर जड़ देह मात्र
सौदर्य्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
'कुछ मेरा हो' यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।

हाँ अब तुम बनने को स्वतंत्र
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र
डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुये जिसको चाहे ले रहे बीन
तुमने तो प्राण मयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्त्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यंत्र
हो शाप भरा तव प्रजातंत्र।

इड़ा ॥ ५७२ ॥

वह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थो से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत
सारी ससृति हो विरह भरी, गाते ही बीते करुण गीत
आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
तुम राग विराग करो सबसे अपने को कर शतश· विभक्त
मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नही
वह चलने को जब कहे कही तब हृदय विकल चल जाय कहीं
रोकर बीतें सब वर्त्तमान क्षण सुदर सपना हो अतीत
पेगो में झूले हार जीत।

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधा मय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूर्ण अहंता मे हो रागमयी सी महासक्ति[1]
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बद
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छद
कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

---

१ आदिसस्करण एवं पाण्डुलिपि उभय मे इस स्थल पर यही है, महाशक्ति नही जैसा कतिपय पिछले पुनर्मुद्रणो मे त्रुटिवश छपता आया है।

जीवन सारा बन जाय युद्ध
उस रक्त अग्नि की वर्षा मे बह जायँ सभी जो भाव शुद्ध
अपनी शकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध
अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दभ स्तूप
श्रद्धा इस संसृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी
सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुम से ही तो वह छली गयी
हो वर्त्तमान से वचित तुम अपने भविष्य मे रहो रुद्ध
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध ।

तुम जरा मरण में चिर अशांत
जिसको अब तक समझे थे सब जीवन मे परिवर्त्तन अनंत
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अंत
दुखमय चिर चिंतन के प्रतीक ! श्रद्धा वचक बनकर अधीर
मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर
'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वचना से भर जा
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रांत
वह चलता रहे सदैव श्रांत !"

अभिशाप प्रतिध्वनि हुई लीन

नभ सागर के अतस्तल मे जैसे छिप जाता महा मीन
मृदु मरुत लहर मे फेनोपम तारागण झिलमिल हुए दीन
निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तंद्रालस था वह विजन प्रांत
रजनी तम पुंजीभूत सदृश मनु श्वास ले रहे थे अशांत
वे सोच रहे थे "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
लिख दिया आज उसने भविष्य ! यातना चलेगी अतहीन
अब तो अवशिष्ट उपाय भी न ।"

करती सरस्वती मधुर नाद

बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव सी अप्रमाद
सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद
वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमे था केवल मधुर गान
थी कर्म निरंतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान
हिम शीतल लहरों का रह रह कूलो से टकराते जाना
आलोक अरुण किरणो का उन पर अपनी छाया बिखराना
अद्भुत था ! निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद
कहता जाता कुछ सुसवाद ।

प्राची में फैला मधुर राग

जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल मे आदोलन अमंद
करता, प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद
उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुषमा का मंडल सुस्मित सा बिखराता ससृति पर सुराग
सोया जीवन का तम विराग।

बिखरीं अलकें ज्यो तर्क जाल

वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे ससृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ मे कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारो के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणो में थी गति भरी ताल।

नीरव थी प्राणो की पुकार
मूर्च्छित जीवन सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार
पीमा मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूँदे मधुर मौन
निस्वन दिगत मे रहे रुद्ध सहसा बोले मनु "अरे कौन
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया"
तंद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
वीचियाँ नाचती बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली "मै हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल।"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल
"मनु मेरा नाम सुनो बाले! मै विश्व पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"

❀ ❀ ❀

"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
भव के भविष्य का द्वार खोल।

"इस विश्व कुहर में इंद्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत माल
सागर की भीषण तम तरंग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यो समझे है सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपत्ति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी
सुख नीड़ो को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल ?

शनि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतत्रता मे सहाय
क्या बन सकता है ? नियत्ति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय।"

× × ×

"कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे
अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गतव्य मार्ग पर पैर धरे
मत कर पसार निज पैरो चल, चलने की जिसको रहे झोक
उसको कब कोई सके रोक।

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार सस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कही विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।"

हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन मरण शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक
ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज
हँस पडी उषा प्राची नभ में देखे नर अपना राज काज
चल पड़ी देखने वह कौतुक चचल मलयाचल की बाला
लख लाली प्रकृति कपोलो मे गिरता तारा दल मतवाला
उन्निद्र कमल कानन में होती थी मधुपों की नोक झोंक
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

"जीवन निशीथ का अंधकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पड़े मेरे ये मनोभाव सोये विहंग
हँसती प्रसन्नता चाव भरी बन कर किरनों की सी तरंग
अवलम्ब छोड़ कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मै बढा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बने, जीवन हो कर्मो की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

•

स्वप्न

संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती !
क्षितिज भाल का कुकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियो पर मँडराती।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पडी, न वह मकरद रहा,
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमे है रग कहाँ !
वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नही जहाँ।

जहाँ तामरस इंदीवर या सित शतदल है मुरझाये,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर काल[1] की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल मे जम जाये।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही;
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नही।

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका सी किरनें,
स्वप्न लोक को चली थकी सी नीद सेज पर जा गिरने;
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं,
बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने।

---

१. आदिसंस्करण मे कला है किन्तु पाण्डुलिपि मे काल है, जो युक्त है।

संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल घाटियो के अंचल को वे धीरे से भरते थे;
तृण-गुल्मो से रोमाचित नग सुनते उस दुख की गाथा;
श्रद्धा की सूनी सॉसो से मिल कर जो स्वर भरते थे:—

"जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्‌बुद्‌ है गिन दोगी ?
प्रतिविम्बित हैं तारा तुम में, सिधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिविम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी !

इस अवकाश पटी पर जितने चित्र विगडते बनते हैं,
उनमें कितने रंग भरे जो सुरधनु पट से छनते हैं;
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते है।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ !
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नही तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !

आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सध्या,
कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले।

विरल डालियो के निकुज सब ले दुख के निश्वास रहे;
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन कथा फिर कौन रहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणो को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे !

अरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ !
जब निस्संबल होकर कोई जोड रहा बिखरी कड़ियाँ;
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कही, तब कैसे सुलझे उलझी सुख दुख की लडियाँ !

विस्मृत हों वे बीती बाते, अब जिनमें कुछ सार नही,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नही !
सब अतीत मे लीन हो चली, आशा, मधु अभिलाषाये,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नही !

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा !
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैने, ऐसा अब अनुमान रहा !

विनिमय प्राणों का यह कितना भयसंकुल व्यापार अरे!
देना हो जितना दे-दे तू, लेना! कोई यह न करे।
परिवर्त्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,
संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे!

वे कुछ दिन जो हँसते आये अंतरिक्ष अरुणाचल से,
फूलो की भरमार स्वरो का कूजन लिये कुहक बल से,
फैल गयी जब स्मिति की माया, किरन कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवाह मे चले गये वे आने को कह कर छल से।

जब शिरीष की मधुर गंध से मान भरी मधु ऋतु रातें,
रूठ चली जाती रक्तिम-मुख, न सह जारण की घातें,
दिवस मधुर आलाप कथा सा कहता छा जाता नभ मे,
वे जगते सपने अपने तब तारा बन कर मुसक्याते।"

वन बालाओं के निकुज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से;
किंतु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन विंदु कण-कण बरसे।

मानस का स्मृति शतदल खिलता, झरते विंदु मरंद घने,
मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने!
आँसू सरल तरल विद्युत्कण, नयनालोक विरह तम में,
प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना-जग रचने।

अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के बिंदु भरे,
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छिवि कितनी साथ लिये बिखरे!
वह अनुराग हँसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगुनू डरे डरे।

सूने गिरि-पथ में गुञ्जारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
आकांक्षा लहरी दुख-तटिनी पुलिन अंक में थी ढलती;
जले दीप नभ के, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
भरा रह गया आँखो में जल बुझी न वह ज्वाला जलती।

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाँहे आकर लिपट गयी,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

"कहाँ रहा नटखट! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना!
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख दुख तो दिया घना;
चंचल तू, बनचर मृग बन कर भरता है चौकड़ी कही,
मै डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना!"

स्वप्न ॥ ५८९ ॥

"मै रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मै सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मै आज नही;
पके फलो से पेट भरा है नीद नही खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

जल उठते है लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर मे छाले बन कर जा झलके;
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कही,
करुण वही स्वर फिर उस ससृति मे बह जाता है गल के।

प्रणय किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता!
मधुर चाँदनी सी तंद्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमे अपना चित्र बना जाता!

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा की पुकार बन नभ मे खिचती रेख रही!

इड़ा अग्नि-ज्वाला सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद-नदी मे बनी तरी;
उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृ ग सी, श्रांति नही,
तीव्र प्रेरणा की धारा सी बही वही उत्साह भरी।

वह सुन्दर आलोक किरन सी हृदय भेदिनी दृष्टि लिये;
जिधर देखती, खुल जाते है तम ने जो पथ बद किये!
मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी,
आश्रय की भूखी जनता ने निज श्रम के उपहार दिये!

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी है सभी बने,
दृढ प्राचीरो में मंदिर के द्वार दिखाई पड़े घने;
वर्षा धूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुये,
खेतों मे है कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम-स्वेद सने।

उधर धातु गलते, बनते हैं आभूषण औ' अस्त्र नये,
कही साहसी ले आते हैं मृगया के उपहार नये,
पुष्पावलियाँ चुनती है वन-कुसुमो की अध-विकच कली,
गंध चूर्ण था लोध्र कुसुम रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।

घन के आघातो से होती जो प्रचड ध्वनि रोष भरी,
तो रमणी के मधुर कण्ठ से हृदय मूर्च्छना उधर ढरी;
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ,
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।

देश काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से है,
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके संबल मे है;
बढे ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में,
नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल में है।

सृष्टि बीज अंकुरित प्रफुल्लित सफल हो रहा हरा-भरा।
प्रलय बीच भी रक्षित मनु से वह फैला उत्साह भरा;
आज स्वचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनाये करके,
स्वावलम्ब की दृढ धरणी पर खड़ा, नही अब रहा डरा।

श्रद्धा उस आश्चर्य-लोक में मलय-बालिका सी चलती,
सिंहद्वार के भीतर पहुँची, खड़े प्रहरियों को छलती,
ऊँचे स्तंभो पर वलभीयुत बने रम्य प्रासाद वहाँ,
धूप धूम सुरभित गृह, जिनमें थी आलोक-शिखा जलती।

स्वर्ण कलश शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने,
ऋजु-प्रशस्त पथ बीच-बीच में, कही लता के कुञ्ज घने,
जिनमे दम्पति समुद विहरते, प्यार भरे दे गलबाही,
गूँज रहे थे मधुप रसीले, मदिरा-मोद पराग सने।

देवदारु के वे प्रलम्ब भुज, जिनमें उलझी वायु-तरंग,
मुखरित आभूषण से कलरव करते सुन्दर बाल विहंग;
आश्रय देता वेणु वनो से निकली स्वर लहरी ध्वनि को,
नाग केसरों की क्यारी में अन्य सुमन भी थे बहुरंग।

नव मंडप में सिंहासन सम्मुख कितने ही मंच तहाँ,
एक ओर रक्खे है सुन्दर मढे चर्म से सुखद वहाँ;
आती है शैलेय अगुरु की धूम-गंध आमोद भरी,
श्रद्धा सोच रही सपने में 'यह लो मै आ गयी कहाँ?'

और सामने देखा उसने निज दृढ कर में चषक लिये,
मनु, वह क्रतुमय पुरुष ! वही मुख सन्ध्या की लालिमा पिये।
मादक भाव सामने, सुन्दर एक चित्र सा कौन यहाँ,
जिसे देखने को यह जीवन मर-मर कर सौ बार जिये ?

इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नही,
तृषित कंठ को, पी-पी कर भी, जिसमें है विश्वास नही;
वह वैश्वानर की ज्वाला सी, मंच वेदिका पर बैठी,
सौमनस्य बिखराती शीतल, जड़ता का कुछ भास नही।

मनु ने पूछा "और अभी कुछ करने को है शेष यहाँ?"
बोली इड़ा "सफल इतने में अभी कर्म सविशेष कहाँ!
क्या सब साधन स्ववश हो चुके?" "नही अभी मै रिक्त रहा—
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।

सुन्दर मुख, आँखों की आशा, किन्तु हुए ये किसके हैं;
एक बाँकपन प्रतिपद शशि का, भरे भाव कुछ रिस के है,
कुछ अनुरोध मान-मोचन का करता आँखो मे संकेत,
बोल अरी मेरी चेतनते ! तू किसकी, ये किसके है ?"

"प्रजा तुम्हारी, तुम्हे प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मै,
यह सन्देह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मै,"
"प्रजा नही, तुम मेरी रानी मुझे न अब भ्रम मे डालो,
मधुर मराली ! कहो 'प्रणय के मोती अब चुनती हूँ मै।'

मेरा भाग्य गगन धुँधला सा, प्राची पट सी तुम उसमें,
खुल कर स्वयं अचानक कितनी प्रभापूर्ण हो छवि यश में !
मै अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके ! बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरो के रस मे ?

ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया,
स्वर संचरित दिशाएँ, मन है उन्मद और शिथिल काया,
तब तुम प्रजा बनो मत रानी !" नर पशु कर हुँकार उठा,
उधर फैलती मदिर घटा सी अंधकार की घन माया।

आलिंगन ! फिर भय का क्रंदन ! वसुधा जैसे काँप उठी !
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी !
अंतरिक्ष मे हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी ।

उधर गगन मे क्षुब्ध हुईं सब देव-शक्तियाँ। क्रोध भरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी,
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहे !
नहीं; इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी !

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य-विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना !
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर-थर कँपना !

काँप रहे थे प्रलयमयी क्रीड़ा से सब आशंकित जंतु,
अपनी-अपनी पड़ी सभी को, छिन्न स्नेह का कोमल तंतु;
आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये,
इड़ा क्रोध लज्जा से भर कर बाहर निकल चली थी किंतु ।

देखा उसने, जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं;
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय !
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही !

कोलाहल में घिर, छिप बैठे मनु, कुछ सोच विचार भरे,
द्वार बद लख प्रजा त्रस्त सी, कैसे मन फिर धैर्य्य धरे !
शक्ति तरंगो में आदोलन, रुद्र क्रोध भीषणतम था,
महानील-लोहित-ज्वाला का नृत्य सभी से उधर परे।

वह विज्ञान मयी अभिलाषा, पंख लगा कर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की,
अधिकारो की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाँईं बन फैली कभी नही जो जुडने की !

असफल मनु कुछ क्षुब्ध हो उठे, आकस्मिक बाधा कैसी !
समझ न पाये कि यह हुआ क्या, प्रजा जुटी क्यो आ ऐसी !
परित्राण प्रार्थना विकल थी देव क्रोध से बन विद्रोह,
इड़ा रही जब वहाँ। स्पष्ट ही वह घटना कुचक्र जैसी।

"द्वार बंद कर दो इनको तो अब न यहाँ आने देना,
प्रकृति आज उत्पात कर रही मुझको बस सोने देना;"
कह कर यो मनु प्रगट क्रोध में, किंतु डरे से थे मन में,
शयन कक्ष में चले सोचते जीवन का लेना-देना।

श्रद्धा काँप उठी सपने में, सहसा उसकी आँख खुली,
यह क्या देखा मैने ? कैसे वह इतना हो गया छली ?
स्वजन स्नेह मे भय की कितनी आशंकाएँ उठ आती,
अब क्या होगा, इसी सोच में व्याकुल रजनी बीत चली।

●

संघर्ष

३६६

[illegible]
इसे संकुचित उदर पूर्ण में क्षेम बनाया

सर्ग का नाम पाण्डुलिपि मे युद्ध है आदिसंस्करण के मुद्रण काल मे परिवर्त्तन पूर्वक संघर्ष हुआ ।

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था,
इड़ा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ घना था।

भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये,
राज शरण में त्राण प्राप्त करने को आये।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था,
मनस्ताप से सब के भीतर रोष भरा था।

क्षुब्ध निरखते बदन इड़ा का पीला पीला,
उधर प्रकृति की रुकी नही थी तांडव लीला।

प्रांगण में थी भीड बढ रही सब जुड आये,
प्रहरी गण कर द्वार बंद थे ध्यान लगाये।

रात्रि घनी कालिमा पटी में दबी-लुकी सी,
रह रह होती प्रगट मेघ की ज्योति झुकी सो।

मनु चिन्तित से पड़े शयन पर सोच रहे थे,
क्रोध और शंका के श्वापद नोच रहे थे।

"मै यह प्रजा बना कर कितना तुष्ट हुआ था,
किंतु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था।

कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया,
अलग अलग ये एक हुई पर इनकी छाया।

मै नियमन के लिए बुद्धि वल से प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर।

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मै,
तनिक न मै स्वच्छंद, स्वर्ण सा सदा गलूँ मै।

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मै,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मै ?

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मै,
प्रतिपल बढता हुआ भला कब वहाँ रुका मै।

इड़ा नियम-परतत्र चाहती मुझे बनाना,
निर्वाधित अधिकार उसी ने एक न माना।

विश्व एक बंधन विहीन परिवर्त्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो है :—

रूप बदलते रहते बसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।

तरल अग्नि की दौड़ लगी है सब के भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर।

यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता।
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता ?

कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महा विवर में,
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में।

उठती है पवनों के स्तर में लहरें कितनी,
यह असंख्य चीत्कार और परवशता इतनी।

यह नर्त्तन उन्मुक्त विश्व का स्पंदन द्रुततर,
गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।

कभी कभी हम वही देखते पुनरावर्त्तन,
उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन।

रुदन हास बन किंतु पलक में छलक रहे हैं,
शत शत प्राण विमुक्ति खोजते ललक रहे हैं।

जीवन में अभिशाप शाप मे ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि कुंज हो रहा हरा है।

'विश्व बँधा है एक नियम से' यह पुकार सी;
फैल गयी है इनके मन में दृढ प्रचार सी।

नियम इन्होंने परखा फिर सुख साधन जाना,
वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ प्रण।

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।"

प्रगतिशील मन रुका एक क्षण करवट लेकर,
देखा अविचल इड़ा खड़ी फिर सब कुछ देकर!

और कह रही "किन्तु नियामक नियम न माने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।"

"ऐं तुम फिर भी यहाँ आज कैसे चल आयी,
क्या कुछ और उपद्रव की है बात समायी—

मन में, यह सब आज हुआ है जो कुछ इतना!
क्या न हुई है तुष्टि? बच रहा है अब कितना?"

"मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहे,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहे!

आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा,
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?"

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों मे है निर्मित।

चिति केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है,
द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है।—

वे विस्मृत पहचान रहे से एक एक को,
होते सतत समोप मिलाते है अनेक को।

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरे वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करे शुभ मार्ग बतावें।

व्यक्ति चेतना इसीलिए परतंत्र बनी सी,
रागपूर्ण, पर द्वेष पक मे सतत सनी सी;

नियत मार्ग में पद पद पर है ठोकर खाती,
अपने लक्ष्य समीप श्रांत हो चलती जाती।

यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि साधना,
अपना जिनमें श्रेय यही सुख की अ'राधना।

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया मे,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में।

देश कल्पना काल परिधि मे होती लय है,
काल खोजता महा चेतना में निज क्षय है।

वह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से,
तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति में।

क्षितिज पटी को उठा बढो ब्रह्मांड विवर में,
गुंजारित घन नाद सुनो इस विश्व कुहर मे।

ताल-ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।"

"अच्छा ! यह तो फिर न तुम्हे समझाना है अब,
तुम कितनी प्रेरणामयी हो जान चुका सब।

किन्तु आज ही अभी लौट कर फिर हो आयी,
कैसे यह साहस की मन मे बात समायी !

आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या ?

मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या ?
कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूँ क्या ?

तुमने भी प्रतिदान किया कुछ कह सकती हो ?
मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो !

जो मै हूँ चाहता वही जब मिला नही है;
तब लौटा लो व्यर्थ बात जो अभी कही है।"

× × ×

"इड़े ! मुझे वह वस्तु चाहिए जो मै चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।

तुम्हे देख कर सब बंधन ही टूट रहा अब,
शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।

देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन !
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन !

इस कठोर ने प्रलय खेल है हँस कर खेला !
किन्तु आज कितना कोमल हो रहा अकेला ?

तुम कहती हो विश्व एक लय है, मै उसमें,
लीन हो चलूँ ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमें।

क्रदन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर !
फिर झंझा हो वज्र प्रगति से भीतर बाहर !

फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे !
रवि शशि तारा सावधान हो चौके जागें !

किंतु पास ही रहो बालिके ! मेरी हो तुम,
मै हूँ कुछ खिलवाड नही जो अब खेलो तुम ?"

"आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बाते,
तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते।

प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खडी है,
प्रकृति सतत आतंक विकंपित घडी घडी है।

सावधान ! मै शुभाकांक्षिणी और कहूँ क्या ?
कहना था कह चुकी और अब यहाँ रहूँ क्या ?"

"मायाविनि ! बस पाली तुमने ऐसे छुट्टी,
लडके जैसे खेलो मे कर लेते खुट्टी।

मूर्तिमती अभिशाप बनी सी सम्मुख आयी,
तुमने ही संघर्ष भूमिका मुझे दिखायी।

रुधिर भरी वेदियाँ भयकरी उनमें ज्वाला!
विनयन का उपचार तुम्ही से सीख निकाला।

चार वर्ण बन गये बँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यंत्र बन चले, न देखा जिनका सपना।

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
प्रकृति संग सघर्ष निरतर अब कैसा डर?

बाधा नियमों की न पास मे अब आने दो,
इस हताश जीवन मे क्षण सुख मिल जाने दो।

राष्ट्र स्वामिनी। यह लो सब कुछ वैभव अपना,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना।

यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वंस हुआ सा।
समझो, तुम हो अग्नि और यह सभी धुआँ सा?"

"मैंने जो मनु! किया उसे मत यों कह भूलो!
तुमको जितना मिला उसी में यो मत फूलो!

प्रकृति संग सघर्ष सिखाया तुमको मैने,
तुमको केन्द्र बनाकर अनहित किया न मैने।

मैने इस बिखरी विभूति पर तुमको स्वामी,
सहज बनाया, तुम अब जिसके अंतर्यामी।

किंतु आज अपराध हमारा अलग खडा है,
हाँ में हाँ न मिलाऊँ तो अपराध बडा है।

मनु! देखो यह भ्रात निशा अब बीत रही है,
प्राची मे नव उषा तमस को जीत रही है।

अभी समय है मुझ पर कुछ विश्वास करो तो,
बनती है सब बात तनिक तुम धैर्य्य घरो तो।"

और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर से आया,
इधर इडा ने द्वार ओर निज पैर बढ़ाया।

किंतु रोक ली गयो भुजाओ से मनु की वह,
निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह।

"यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी।
मुझको अपना अस्त्र बना करती मनमानी।

यह छल चलने मे अब पगु हुआ सा समझो,
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो।

शासन की यह प्रगति सहज ही अभी रुकेगी,
क्यों कि दासता मुझसे अब तो हो न सकेगी।

मै शासक, मै चिर स्वतत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

छिन्न भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल मे,
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में।

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कपन,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रंदन।

किंतु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में," फिर सब डूबा आहों मे।

सिंह द्वार अरराया जनता भीतर आयी,
"मेरी रानी" उसने जो चीत्कार मचायी।

अपनी दुर्बलता में मनु तब हाँफ रहे थे,
स्खलन विकपित पद वे अब भी काँप रहे थे।

सजग हुए मनु वज्र खचित ले राज दड तब,
और पुकारा "तो सुन लो जो कहता हूँ अब—

"तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साघन सकल बताया,
मैने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाया।

अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं,
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते है!

आज न पशु है हम, या गूँगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी!"

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से!

तुमने योगक्षेम से अधिक सचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार सकट मे डाला।

हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख!

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी!
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी!

और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है?
इसीलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है?

आज बंदिनी मेरी रानी इडा यहाँ है?
ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है?"

"तो फिर मै हूँ आज अकेला जीवन रण में,
प्रकृति और उसके पुतलो के दल भीषण मे।

आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें,
राजदड को वज्र बना सा सचमुच देखें।"

यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्हाला,
देव 'आग' ने उगली त्यो ही अपनी ज्वाला।

छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले!

अधड था बढ रहा, प्रजा दल सा झुँझलाता,
रण वर्षा में शस्त्रो सा बिजली चमकाता।

किंतु क्रूर मनु वारण करते उन बाणो को।
बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणो को।

तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षण मयी, त्रास से सब व्याकुल थे।

मनु फिर रहे अलात-चक्र से उस घन तम में,
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में।

उठा तुमुल रण नाद, भयानक हुई अवस्था।
बढ़ा विपक्ष समूह मौन पददलित व्यवस्था।

आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।

बहते विकट अधीर विषम उचास बात थे,
मरण पर्व था, नेता आकुलि औ' किलात थे।

ललकारा, 'बस अब इसको मत जाने देना'
किंतु सजग मनु पहुँच गये कह 'लेना लेना'।

"कायर! तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।

तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात औ' आकुलि !"

और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण,
इड़ा अभी कहती जाती थी "बस रोको रण :—

भीषण जन संहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यो जीवन खोता है।

क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले !
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

किंतु सुन रहा कौन ! धधकती वेदी ज्वाला,
सामूहिक बलि का निकला था पंथ निराला।

रक्तोन्मद मनु का न हाथ अब भी रुकता था,
प्रजा पक्ष का भी न किंतु साहस झुकता था।

वहीं घर्षिता खड़ी इड़ा सारस्वत रानी,
वे प्रतिशोध अधीर रक्त बहता बन पानी।

वंह सारस्वत नगर पड़ा था
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का
विष विषाद आवरण तना।

उल्का धारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है
अणु अणु क्यों है मचल रहे?

जीवन में जागरण सत्य है
या सुषुप्ति ही सीमा है,
आती है रह रह पुकार सी
'यह भव रजनी भीमा है।'

निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सर्राटे,
सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सन्नाटे।

अभी घायलों की सिसकी में
जाग रही थी मर्म व्यथा,
पुर लक्ष्मी खगरव के मिस कुछ
कह उठती थी करुण कथा।

कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके
दीपो से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक रुक कर
खिन्न भरा अवसाद रहा।

भय मय मौन निरीक्षक सा था
सजग सतत चुपचाप खड़ा,
अंधकार का नील आवरण
दृश्य जगत से रहा बड़ा।

मंडप के सोपान पड़े थे
सूने, कोई अन्य नहीं,
स्वयं इडा उस पर बैठी थी
अग्नि शिखा थी धधक रही।

"उसने स्नेह किया था मुझसे
हाँ अनन्य वह रहा नहीं!
सहज लब्ध थी वह अनन्यता
पडी रह सके जहाँ कही।

बाधाओं का अतिक्रमण कर
जो अबाध हो दौड़ चले,
वही स्नेह अपराध हो उठा
जो सब सीमा तोड चले।

"हाँ अपराध किन्तु वह कितना
एक अकेले भीम बना,
जीवन के कोने से उठ कर
इतना आज असीम बना।

और प्रचुर उपकार सभी वे
सहृदयता की सब माया,
शून्य शून्य था ? केवल उसमें
खेल रही थी छल छाया ?

"कितना दुखी एक परदेशी
बन, उस दिन जो आया था,
जिसके नीचे धरा नही थी
शून्य चतुर्दिक छाया था।

वह शासन का सूत्रधार था
नियमन का आधार बना,
अपने निर्मित नव विधान से
स्वयं दंड साकार बना।

"सागर की लहरों से उठ कर
शैल शृंग पर सहज चढा,
अप्रतिहत गति, संस्थानों से
रहता था जो सदा बढ़ा।

आज पडा है वह मुमूर्षु सा
वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुये पराये
सबका ही जो अपना था।

"किन्तु, वही मेरा अपराधी
जिसका वह उपकारी था,
प्रकट उसी से दोष हुआ है
जो सब को गुणकारी था।

अरे सर्ग-अकुर के दोनो
पल्लव है ये भले बुरे,
एक दूसरे की सीमा है
क्यो न युगल को प्यार करे ?

"अपना हो या औरों का सुख
बढ़ा कि बस दुख बना वही,
कौन बिन्दु है रुक जाने का
यह जैसे कुछ ज्ञात नही।

प्राणी निज भविष्य चिन्ता में
वर्त्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है बिखराता सा
अपने ही पथ मे रोड़े।

"इसे दंड देने मै बैठी
या करती रखवाली मै,
यह कैसी है विकट पहेली
कितनी उलझन वाली मै?

एक कल्पना है मीठी यह
इमसे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि, वास्तविकता से अच्छी
सत्य इसी को वर देगा।"

चौक उठी अपने विचार से
कुछ दूरागत ध्वनि सुनती,
इस निस्तब्ध निशा मे कोई
चली आ रही है कहती—

"अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा?
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मै फेरा।

निर्वेद ॥ ६२१ ॥

रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मै,
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किसको मै।

यही भूल अब शूल सदृश हो
साल रही उर में मेरे,
कैसे पाऊँगी उसको मैं
कोई आकर कह दे रे।"

इड़ा उठी, दिख पड़ा राजपथ
धुँधली सी छाया चलती,
वाणी में थी करुण वेदना
वह पुकार जैसे जलती।

शिथिल शरीर वसन विशृंखल
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्नपत्र मकरन्द लुटी सी
ज्यों मुरझायी हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य्य सा
अपनी माता को जकडे।

थके हुए थे दुखी बटोही
वे दोनों ही माँ बेटे,
खो रहे थे भूले मनु को
जो घायल हो कर लेटे।

इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही
दुखियो को देखा उसने,
पहुँची पास और फिर पूछा
"तुमको बिसराया किसने ?

इस रजनी मे कहाँ भटकती
जाओगी तुम बोलो तो,
बैठो आज अधिक चंचल हूँ
व्यथा गाँठ निज खोलो तो।

जीवन की लंबी यात्रा में
खोये भी हैं मिल जाते,
जीवन है तो कभी मिलन है
कट जातीं दुख की रातें।"

श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था
मिलता है विश्राम यहीं,
चली इडा के साथ जहाँ पर
वन्हि शिखा प्रज्वलित रही।

सहसा धधकी वेदी ज्वाला
मंडप आलोकित करती,
कामायनी देख पायी कुछ
पहुँची उस तक डग भरती।

और वही मनु! घायल सचमुच
तो क्या सच्चा स्वप्न रहा?
"आह प्राण प्रिय! यह क्या? तुम यों!"
घुला हृदय बन नीर बहा।

इड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी
वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था
व्यथा भला क्यो रह जाती ?

उस मूर्च्छित नीरवता में कुछ
हलके से स्पन्दन आये,
आँखे खुली चार कोनों मे
चार विन्दु आकर छाये।

उधर कुमार देखता ऊँचे
मन्दिर, मंडप, वेदी को,
यह सब क्या है नया मनोहर
कैसे ये लगते जी को ?

माँ ने कहा 'अरे आ तू भी
देख पिता है पड़े हुए,'
'पिता ! आ गया लो' यह कहते
उसके रोएँ खड़े हुए।

'माँ जल दे, कुछ प्यासे होंगे
क्या बैठी कर रही यहाँ?
मुखर हो गया सूना मंडप
यह सजीवता रही कहाँ?

आत्मीयता घुली उस घर में
छोटा सा परिवार बना,
छाया एक मधुर स्वर उस पर
श्रद्धा का संगीत बना।

तुमुल कोलाहल कलह में
मै हृदय की बात रे मन!

विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नीद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मै मलय की वात रे मन!

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मै उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्ही जीवन घाटियों की,
मै सरस बरसात रे मन!

पवन की प्राचीर मे रुक,
जला जीवन जी रहा झुक;
इस झुलझते विश्व दिन की,
मै कुसुम ऋतु रात रे मन!

चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर मे;
मधुप मुखर मरंद मुकुलित,
मै सजल जलजात रे मन!

उस स्वर लहरी के अक्षर सब
सजीवन रस से बने घुले,
उधर प्रभात हुआ प्राची में
मनु के मुद्रित नयन खुले।

श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर
कृतज्ञता से हृदय भरे,
मनु उठ बैठे गद्‌गद होकर
बोले कुछ अनुराग भरे।

"श्रद्धा! तू आ गयी भला तो
पर क्या मै था यही पड़ा!
वही भवन, वे स्तम्भ, वेदिका!
बिखरी चारो ओर घृणा।

आँख बन्द कर लिया क्षोभ से
"दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अंधकार मे
खो दूँ कही न फिर तुझको।

हाथ पकड ले चल सकता हूँ
हाँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन ! परे हट, श्रद्धे !
आ कि हृदय का कुसुम खिले।"

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
आँखों में विश्वास भरे
मानो कहती 'तुम मेरे हो
अब क्यों कोई वृथा डरे?"

जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से
लगे बहुत धीरे कहने,
"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।

मुक्त नील नभ के नीचे या
कही गुहा मे रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेगे।"

"ठहरो कुछ तो बल आने दो
लिवा चलूँगी तुरत तुम्हें,
इतने क्षण तक" श्रद्धा बोली
"रहने देगी क्या न हमें?"

इडा संकुचित उधर खड़ी थी
यह अधिकार न छीन सकी,
श्रद्धा अविचल, मनु अब बोले
उनकी वाणी नही रुकी।

"जब जीवन में साध भरी थी
उच्छृङ्खल अनुरोध भरा,
अभिलाषाएँ भरी हृदय में
अपनेपन का बोध भरा।

मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह
सघन सुनहली छाया थी;
मलयानिल की लहर उठ रही
उल्लासों की माया थी!

उषा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे,
मेरा यौवन पीता सुख से
अलसाई आँखें मींचे।

ले मकरन्द नया चू पडती
शरद प्रात की शेफाली,
बिखराती सुख ही, संध्या की
सुन्दर अलके घुँघराली।

सहसा अंधकार की आँधी
उठी क्षितिज से वेग भरी;
हलचल से विक्षुब्ध विश्व, थी
उद्वेलित मानस लहरी।

व्यथित हृदय उस नीले नभ में
छायापथ सा खुला तभी,
अपनी मंगलमयी मधुर स्मिति
कर दी तुमने देवि! जभी।

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि
लगी खेलने रंग रली,
नवल हेम लेखा सी मेरे
हृदय निकष पर खिंची भली।

अरुणाचल मन मंदिर की वह
मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा,
लगी सिखाने स्नेह-मयी सी
सुन्दरता की मृदु महिमा।

उस दिन तो हम जान सके थे
सुन्दर किसको हैं कहते!
तब पहचान सके, किसके हित
प्राणी यह दुख सुख सहते।

जीवन कहता यौवन से 'कुछ
देखा तू ने मतवाले'
यौवन कहता 'साँस लिये चल
कुछ अपना सम्बल पाले!'

हृदय बन रहा था सीपी सा
तुम स्वाती की बूँद बनी,
मानस शतदल झूम उठा जब
तुम उसमें मकरन्द बनी।

तुमने इस सूखे पतझड में
भर दी हरियाली कितनी,
मैने समझा मादकता है
तृप्ति बन गयी वह इतनी!

विश्व, कि जिसमे दुख की आँधी
पीडा की लहरी उठती,
जिसमें जीवन मरण वना था
बुदबुद की माया नचती।

वही शान्त उज्ज्वल मङ्गल सा
दिखता था विश्वास भरा,
वर्षा के कदम्ब कानन सा
सृष्टि विभव हो उठा हरा।

भगवति ! वह पावन मधु धारा !
देख अमृत भी ललचाये,
बही, रम्य सौदर्य्य शैल से
जिसमें जीवन धुल जाये।

संध्या अब ले जाती मुझसे
ताराओ की अकथ कथा,
नीद सहज ही ले लेती थी
सारे श्रम की विकल व्यथा।

सफल कुतूहल और कल्पना
उन चरणों से उलझ पड़ी,
कुसुम प्रमन्न हुए हँसते से
जीवन की वह धन्य घडी।

स्मिति मधुराका थी, श्वासों से
पारिजात कानन खिलता,
गति मरन्द-मन्थर मलयज सी
स्वर में वेणु कहाँ मिलता !

श्वास पवन पर चढ कर मेरे
दूरागत वंशी रव सी,
गूँज उठी तुम, विश्व कुहर में
दिव्य रागिनी अभिनव सा!

जीवन जलनिधि के तल से जो
मुक्ता थे वे निकल पड़े,
जग-मगल सगीत तुम्हारा
गाते मेरे रोम खड़े!

आशा की आलोक किरन से
कुछ मानस से ले मेरे,
लघु जलधर का सृजन हुआ था
जिसको शशिलेखा घेरे—

उस पर बिजली की माला सी
झूम पड़ी तुम प्रभा भरी,
और जलद वह रिमझिम बरसा
मन वनस्थली हुई हरी।

तुमने हँस हँस मुझे सिखाया
विश्व खेल है खेल चलो,
तुमने मिलकर मुझे बताया
सबसे करते मेल चलो।

यह भी अपनी बिजली के से
विभ्रम से सकेत किया,
अपना मन है, जिसको चाहा
तब इसको दे दान दिया।

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
तुम उसमें संतोष बनी।

कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदन मय हृदय हुआ।

किन्तु अधम मै समझ न पाया
उस मगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष शोक की छाया को।

मेरा सब कुछ क्रोध मोह के
उपादान से गठित हुआ,
ऐसी ही अनुभव होता है
किरनो ने अब तक न छुआ।

शापित सा मै जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखले पन में जैसे
कुछ खोजता अटकता हूँ।

अंध-तमस है किन्तु प्रकृति का
आकर्षण है खीच रहा,
सब पर, हाँ अपने पर भी मै
झुँझलाता हूँ खीझ रहा।

नही पा सका हूँ मै जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमे कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।

सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मै कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अंश, कल्याण कला!
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।

सुखी रहे, सब सुखी रहें बस
छोड़ो मुझ अपराधी को,"
श्रद्धा देख रही चुप मनु के
भीतर उठती आँधी को।

दिन बीता रजनी भी आयी
तंद्रा निद्रा संग लिए,
इड़ा कुमार समीप पड़ी थी
मन की दबी उमग लिये।

श्रद्धा भी कुछ खिन्न थकी सी
हाथों को उपधान किए,
पड़ी सोचती मन ही मन कुछ;
मनु चुप सब अभिशाप पिये—

सोच रहे थे, "जीवन सुख है?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है?

यह प्रभात की स्वर्ण किरन सी
झिलमिल चंचल सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख या कलुषित काया।

और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर
इनका क्या विश्वास करूँ,
प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर
मन ही मन चुपचाप मरूँ।

श्रद्धा के रहते यह संभव
नही कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शाति मिलेगी मुझको
जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

जगे सभी जब नव प्रभात में
देखें तो मनु वहाँ नहीं,
'पिता कहाँ' कह खोज रहा सा
वह कुमार अब शांत नहीं।

इड़ा आज अपने को सबसे
अपराधी है समझ रही,
कामायनीं मौन बैठी सी
अपने में ही उलझ रही।

दर्शन

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात;

उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल,
धारा बह जाती बिम्ब अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल;

चुपचाप खडी थी वृक्ष पाँत;
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

धूमिल छायाएँ रही घूम
लहरी पैरों को रही चूम;

"माँ! तू चल आयी दूर इधर,
संध्या कब की चल गयी उधर;
इस निर्जन में अब क्या सुन्दर—
तू देख रही, हाँ बस चल घर

उसमें से उठता गंध धूम"
श्रद्धा ने वह मुख लिया चूम।

"माँ ! क्यों तू है इतनी उदास,
क्या मै हूँ तेरे नही पास;

तू कई दिनों से यों चुप रह,
क्या सोच रही है ? कुछ तो कह;
यह कैसा तेरा दु:ख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह;

लेती ढीली सी भरी साँस,
जैसे होती जाती हताश।"

वह बोली "नील गगन अपार,
जिसमे अवनत घन सजल भार;

आते जाते, सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगुनू अविरल,

यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।

यह लोचन गोचर सकल लोक,
संसृति के कल्पित हर्ष शोक;

भावोदधि से किरनों के मग;
स्वाती कन से बन भरते जग,
उत्थान पतन मय सतत सजग
झरने झरते आलिंगित नग;

उलझन की मीठी रोक-टोंक,
यह सब उसकी है नोंक-झोंक।

जग, जगता आँखे किये लाल;
सोता ओढ़े तम नींद जाल;

सुरधनु सा अपना रग बदल,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल;
अपनी सुषमा मे यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल;

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल।

इसके स्तर-स्तर में मौन शान्ति,
शीतल अगाध है, ताप भ्रान्ति;

परिवर्तन मय यह चिर मङ्गल,
मुसक्याते इसमे भाव सकल,
हँसता है इसमे कोलाहल,
उल्लास भरा सा अन्तस्तल,

मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति।"

"अम्बे फिर क्यों इतना विराग;
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग?"

पीछे मुड श्रद्धा ने देखा,
वह इड़ा मलिन छबि की रेखा;
ज्यों राहुग्रस्त सी शशि लेखा;
जिस पर विषाद की विष रेखा;

कुछ ग्रहण कर रहा दीन त्याग,
सोया जिसका है भाग्य, जागे।

बोली "तुमसे कैसे विरक्ति,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति;

मुझसे बिछुडे को अवलम्बन,
देकर, तुमने रक्खा जीवन;
तुम आशामयि! चिर आकर्षण;
तुम मादकता की अवनत घन;

मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति,
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।

मै क्या दे सकती तुम्हें मोल,
यह हृदय! अरे दो मधुर बोल;

मै हँसती हूँ रो लेती हूँ,
मै पाती हूँ खो देती हूँ;
इमसे ले उसको देती हूँ,
मै दुख को सुख कर लेती हूँ;

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल,
चिर विस्मृत सी हूँ रही डोल।

यह प्रभा पूर्ण तव मुख निहार,
मनु हत चेतन थे एक बार;

नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल;
फिर कौन क्षमा कर दे निश्छल,
जिससे यह धन्य बने भूतल;

'तुम क्षमा करोगी' यह विचार,
मै छोड़ूँ कैसे साधिकार।"

"अब मैं रह सकती नही मौन,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन ?

सुख दुख जीवन में सब सहते,
पर केवल सुख अपना कहते;
अधिकार न नीमा में रहते,
पावस निर्झर से वे बहते;

रोके फिर उनको भला कौन ?
सब को वे कहते—'शत्रु हो न !'

अग्रसर हो रही यहाँ फूट,
सीमाएँ कृत्रिम रही टूट;

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हे,
अपने बल का है गर्व उन्हे;
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनो वृष्टि उन्हे;

सब पिये मत्त लालसा घूँट,
मेरा साहस अब गया छूट।

मै जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध,
अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध;

मेरे सुविभाजन हुए विषम,
टूटते, नित्य बन रहे नियम;
नाना केंद्रो में जलधर सम,
घिर हट, बरसे ये उपलोपम;

यह ज्वाला इतनी है समिद्ध,
आहुति बस चाह रही समृद्ध।

तो क्या मै भ्रम में थी नितान्त,
संहार-बध्य असहाय दान्त;

प्राणी विनाश मुख में अविरल,
चुपचाप चले होकर निर्बल!
संघर्ष कर्म का मिथ्या बल,
ये शक्ति चिन्ह, ये यज्ञ विफल;

भय की उपासना ! प्रणति भ्रान्त !
अनुशासन की छाया अशान्त!

तिस पर मैने छीना सुहाग,
हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग;

मै आज अकिंचन पाती हूँ;
अपने को नही सुहाती हूँ;
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ,
वह स्वयं नही सुन पाती हूँ;

दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोयी चेतनता उठे जाग!"

"है रुद्र रोष अब तक अशान्त,
श्रद्धा बोली, बन विषम ध्वान्त।

सिर चढी रही! पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय;
अपनापन चेतन का सुखमय,
खो गया, नही आलोक उदय।

सब अपने पथ पर चले श्रान्त,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;

ओ तर्कमयी! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक रुक देखे आठ पहर,
वह जडता की स्थिति भूल न कर;

सुख दुख का मधुमय धूप छाँह,
तू ने छोड़ी यह सरल राह।

चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग;

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत;
कण विरह मिलन मय नृत्य निरत;
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत;

तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग जाग !'

मैं लोक अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त;

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही;
तो ले ले जो निधि पास रही,
मुझको बस अपनी राह रही,

रह सौम्य ! यहीं; हो सुखद प्रान्त,
विनिमय कर दे कर कर्म कान्त।

तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति,

मै अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुंज गली;
वह भोला इतना नही छली!
मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली;

तब देखूँ कैसी चली रीति,
मानव! तेरी हो सुयश गीति।"

बोला बालक "ममता न तोड,
जननी! मुझसे मुँह यों न मोड;

तेरी आज्ञा का कर पालन,
वह स्नेह सदा करता लालन—
मै मरूँ जिऊँ पर छुटे न प्रन,
वरदान बने मेरा जीवन!

जो मुझको तू यों चली छोड,
तो मुझे मिले फिर यही क्रोड!"

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार,

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ का पुकार।"

"अति मधुर वचन विश्वास मूल;
मुझको न कभी ये जायँ भूल;

हे देवि ! तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय-उद्गम अविरल;
आकर्षण घन सा वितरे जल;
निर्वासित हों संताप सकल;

कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल,
पकड़ा कुमार कर मृदुल फूल।

वे तीनों ही क्षण एक मौन,
विस्मृत से थे, हम कहाँ, कौन ।

विच्छेद बाह्य, था आलिंगन—
वह हृदयो का, अति मधुर मिलन;
मिलते आहत होकर जलकन;
लहरो का यह परिणत जीवन;

दो लौट चले पुर ओर मौन,
जब दूर हुए तब रहे दो न;

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त ।
वह था असीम का चित्र कान्त ।

कुछ शून्य विन्दु उर के ऊपर,
व्यथिता रजनी के श्रम सीकर;
झलके कब से पर पड़े न झर,
गंभीर मलिन छाया भू पर;

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त,
केवल विखेरता दीन ध्वान्त ।

शत शत तारा मंडित अनन्त,
कुसुमों का स्तवक खिला बसन्त,

हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर,
बहती माया सरिता ऊपर,
उठती किरणों की लोल लहर;

निचले स्तर पर छाया दुरन्त,
आती चुपके, जाती तुरन्त।

सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल;

धीरे धीरे लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल;
छप छप का होता शब्द विरल,
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल;

संसृति अपने में रही भूल,
वह गन्ध विधुर अम्लान फूल।

तब सरस्वती सा फेंक साँस,
श्रद्धा ने देखा आस पास;

थे चमक रहे दो खुले नयन,
ज्यो शिलालग्न अनगढे रतन;
यह क्या तम में करता सनसन ?
धारा का ही क्या यह निस्वन !

ना, गुहा लतावृत एक पास,
कोई जीवित ले रहा साँस !

वह निर्जन तट था एक चित्र,
कितना सुन्दर, कितना पवित्र ?

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर,
फिर ऊँचा श्रद्धा का सिर;
वह लोक अग्नि में तप गल कर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर;

मनु ने देखा कितना विचित्र !
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र ।

बोले "रमणी तुम नही आह !
जिसके मन मे हो भरी चाह;

तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते ! जिसे पाया रोकर;
मै भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सब को देकर;

निर्दय मन क्या न उठा कराह !
अद्भुत है तव मन का प्रवाह !

ये श्वापद से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बाल वीर;

सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल ?
कैसा कठोर है तव हृत्तल ?
वह इड़ा कर गयी फिर भी छल;

तुम बनी रही हो अभी धीर,
छुट गया हाथ से आह तीर,"

"प्रिय! अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नही रंक,

यह विनिमय है या परिवर्तन,
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन;
अपराध तुम्हारा वह बंधन—
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन—

निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक ?
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।"

"तुम देवि! आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार;

हे सर्वमंगले! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती;

मै भूला हूँ तुमको निहार—
नारी सा ही! वह लघु विचार।

मै इस निर्जन तट में अधीर,
सह भूख व्यथा तीखा समीर;

हाँ भाव चक्र में पिस पिस कर,
चलता ही आया हूँ बढ कर;
इनके विकार सा ही बन कर,
मै शून्य बना सत्ता खोकर;

लघुता मत देखो वक्ष चीर,
जिसमे अनुशय बन घुसा तीर।"

"प्रियतम! यह नत निस्तब्ध रात,
है स्मरण कराती विगत बात;

वह प्रलय शान्ति वह कोलाहल,
जब अर्पित कर जोवन सबल;
मै हुई तुम्हारी थी निश्छल,
क्या भूलूँ मै, इतनी दुर्बल;

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात,
मै नित्य, तुम्हारी सत्य बात।

इस देव द्वन्द्व का वह प्रतीक—
मानव ! कर ले सब भूल ठीक,

यह विष जो फैला महा विषम,
निज कर्मोन्नति से करते सम;
सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम;

गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती है पड़ी लीक।"

वह शून्य असत या अंधकार,
अवकाश पटल का वार-पार;

बाहर भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन;

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके परे पार।

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,

तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष! मगल चेतन!

केवल प्रकाश का था कलोलो,
मधु किरनों की थी लहर लोल।

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित;

स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

लीला का स्पन्दित आल्हाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद,

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरतै थे उज्ज्वल श्रम सीकर;
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर;

संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर,
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर;

यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्त्तन का पट रहा खोल।

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप पाप का कर विनाश—

नर्तन मे निरत, प्रकृति गल कर,
उस कान्ति सिन्धु मे घुल मिलकर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर,

हीरक गिरि पर विद्युत विलास,
उल्लसित महा हिम धवल हास।

देखा मनु ने नर्त्तित नटेश,
हत चेत पुकार उठे विशेष;

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते है निर्मल,

मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश!"

रहस्य

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर - धनु माला पहने;
कुञ्जर - कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।

प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे।
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधु धाराएँ जैसे।

हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्रपटी से लगते;
प्रतिकृतियो के वाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते।

लघुतम वे सब जो बसुधा पर
ऊपर महाशून्य का घेरा
ऊँचे चढने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सबेरा।

"कहाँ ले चली हे अब मुझको
श्रद्धे । मै थक चला अधिक हूँ;
साहस छूट गया है मेरा
निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा।

मेरे, हाँ वे सब मेरे थे
जिनसे रूठ चला आया हूँ;
वे नीचे छूटे सुदूर, पर
भूल नही उनको पाया हूँ।"

वह विश्वास भरी स्मिति निश्छल
श्रद्धामुख पर झलक उठी थी;
सेवा कर-पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी।

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली,
"हम बढ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली।

दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनंत सा कुछ ऊपर है,
अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर है ?

निराधार है, किन्तु ठहरना
हम दोनो को आज यही है;
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नही है।

झाँई लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती;
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती।

श्रांत पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहे
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहे।

घबराओ मत ! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये।"
मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।

ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे;
दिवा रात्रि के संधि काल में
ये सब कोई नहीं व्यस्त थे।

ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू - मंडल रेखा विलीन सी;
निराधार उस महादेश में
उदित सचेतनता नवीन सी।

त्रिदिक् विश्व, आलोक विन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे,
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किंतु सजग थे।

मनु ने पूछा, "कौन नये ग्रह
ये है, श्रद्धे ! मुझे बताओ;
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इंद्रजाल से मुझे बचाओ।"

"इस त्रिकोण के मध्य विन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमतावाले ये;
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कंदुक सा सुंदर;
छायामय कमनीय कलेवर
भाव - मयी प्रतिमा का मंदिर।

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यो
रूपवती रंगीन तितलियाँ!

इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में;
इठलातीं सोती जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में!

वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती;
मादकता की लहर उठा कर
अपना अंबर तर कर देती।

आलिंगन सी मधुर प्रेरणा
छू लेती फिर, सिहरन बनती;
नव अलम्बुषा की व्रीडा सी
खुल जाती है, फिर जा मुँदती।

यह जीवन की मध्यभूमि है
रस धारा से सिंचित होती;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती।

जिसके तट पर विद्युत कण से
मनोहारिणी आकृति वाले;
छायामय सुषमा में विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले।

सुमन संकुलित भूमि रंध्र से
मधुर गंध उठती रस भीनी;
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें
छूट रहे, रस बूँदें झीनी।

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों सी संसृति छाया,
जिस आलोक विन्दु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया।

भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती;
नव रस भरी अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमती।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना,
माया राज्य! यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फाँसना।

ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध मे फूले;
इन अप्सरियो की तानों के
मचल रहे है सुदर झूले।

भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की।

नियममयी उलझन लतिका का
भाव विटपि से आकार मिलना;
जीवन वन की बनी समस्या
आशा नभकुसुमो का खिलना।

चिर-वसंत का यह उद्गम है;
पतझर होता एक ओर है,
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते, एक डोर है।"

"सुन्दर यह तुमने दिखलाया
किन्तु कौन वह श्याम देश है ?
कामायनी ! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है।"

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा।

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नही है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

भाव राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख मे बदल रहे हे;
हिंसा सर्वोन्नत हारो मे
ये अकडे अणु टहल रहे है।

ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते;
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने है, सब कराहते।

करते है सन्तोष नही है
जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रति क्षण करते ही जाते है
भीति विवश ये सब कपित से।

नियति चलाती कर्म चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणि-पादमय पंचभूत की
यहाँ हो रही है उपासना।

यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अन्धकार मे दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मो की भीषण परिणति है;
आकाक्षा की तीव्र पिपासा!
ममता की यह निर्मम गति है।

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयो की हुंकार सुनाती;
यहाँ भूल से विकल दलित को
पदतल मे फिर फिर गिरवाती।

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले;
जला जला कर फूट पड़ रहे
ढुल कर बहने वाले छाले।

यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब
मरीचिका से दीख पड़ रहे,
भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
वे विलीन, ये पुन. गड़ रहे।

बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती;
अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता मे करते निज गिनती।

प्राण तत्व की सघन साधना
जल, हिम उपल यहाँ है बनता;
प्यासे घायल हो जल जाते
मर मर कर जीते ही बनता।

यहाँ नील लोहित ज्वाला कुछ
जला गला कर नित्य ढालती;
चोट सहन कर रुकने वाली
धातु, न जिसको मृत्यु सालती।

वर्षा के घन नाद कर रहे
तट कूलों को सहज गिराती;
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य प्राप्ति सरिता बह जाती।"

"बस ! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है;
श्रद्धे ! वह उज्ज्वल कैसा है
जैसे पुञ्जीभूत रजत है।"

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमे न दीनता।

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्सग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नही कर भेद बाँटती;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

न्याय, तपस, ऐश्वर्य मे पगे
ये प्राणी चमकीले लगते!
इस निदाघ मरु मे सूखे से
स्रोतो के तट जैसे जगते।

मनोभाव से कार्य-कर्म का
सम-तोलन में दत्त चित्त से;
ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से।

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्झर से;
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर से।

यहाँ विभाजन धर्म तुला का
अधिकारो की व्याख्या करता,
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही
अपनी ढीली साँसे भरता।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर सा देखो,
जीवन - मधु एकत्र कर रही
उन ममाखियों सा बस लेखो।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती;
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती।

देखो वे सब सौम्य बने है
किन्तु सशंकित है दोषों से;
वे संकेत दभ के चलते
भ्रू चालन मिस परितोषो से।

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा ! मृषा, वंचित होने दो।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते है;
मूल स्वत्व कुछ और वताते
इच्छाओ को झुठलाते है।

स्वयं व्यस्त पर शांत बने से
शस्त्र शास्त्र रक्षा में पलते;
ये विज्ञान भरे अनुश'सन
क्षण क्षण परिवर्त्तन में ढलते।

वही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन विन्दु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख सुख में
भिन्न हुए है ये सब कितने।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमे।

नीचे ऊपर लचकीली वह
विषय वायु में धधक रही सी,
महाशून्य में ज्वाल सुनहली,
सब को कहती 'नहीं नही' सो।

शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा सा;
शृङ्ग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व मे बिखर उठा सा।

चितिमय चिता धधकती अविरल
महाकाल का विषम नृत्य था;
विश्व रंध्र ज्वाला से भर कर
करता अपना विषम कृत्य था।

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

•

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियों का दल;
सरिता के रम्य पुलिन मे
गिरि पथ से, ले निज संबल।

था सोम लता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
घंटा बजता तालों मे
उसकी थी मथर गति विधि।

वृष रज्जु वाम कर में था
दक्षिण त्रिशूल से शोभित,
मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित।

केहरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्तुटित हुए थे;
यौवन गम्भीर हुआ था
जिसमे कुछ भाव नये थे।

चल रही इडा भी वृष के
दूसरे पार्श्व मे नीरव;
गैरिक वसना संध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।

उल्लास रहा युवकों का
शिशु गण का था मृदु कलकल;
महिला मंगल गानों से
मुखरित था वह यात्री दल।

चमरो पर बोझ लदे थे
वे चलते थे मिल अविरल;
कुछ शिशु भी बैठ उन्ही पर
अपने ही बने कुतूहल।

माताएँ पकड़े उनको
बातें थी करती जाती;
'हम कहाँ चल रहे' यह सब
उनको विधिवत समझाती।

कह रहा एक था 'तू तो
कब से ही सुना रही है—
अब आ पहुँची लो देखो
आगे वह भूमि यही है।

पर बढ़ती ही चलती है
रुकने का नाम नही है;
वह तीर्थ कहाँ हे कह तो
जिसके हित दौड़ रही है।''

"वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन;
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन ?

हाँ इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम;
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावनतम।"

वह इडा समीप पहुँच कर
बोला उसको रुकने को;
बालक था, मचल गया था
कुछ और कथा सुनने को।

वह अपलक लोचन अपने
पदाग्र विलोकन करती।
पथ प्रदर्शिका सी चलती
धीरे धीरे डग भरती।

बोली, "हम जहाँ चले है
वह है जगती का पावन;
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शांत तपोवन।"

"कैसा ? क्यो शांत तपोवन ?
विस्तृत क्यों नहीं बताती,"
बालक ने कहा इड़ा से
वह बोली कुछ सकुचाती।

"सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया;
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि अंचल में फिर;
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन बन आस्थिर

थी अर्धांगिनी उसी की
जो उसे खोजती आयी;
यह दशा देख, करुणा की—
वर्षा दृग में भर लायी।

वरदान बने फिर उसके
आँसू करते जग मंगल;
सब ताप शांत होकर, वन
हो गया हरित सुख शीतल।

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली;
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली।

वे युगल वहीं अब बैठे
संसृति की सेवा करते;
संतोष और देकर
सब की दुख ज्वाला हरते।

है वहाँ महाह्रद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता,
मानस उसको कहते है
सुख पाता जो है जाता।"

"तो यह वृष क्यों तू यो ही
वैसे ही चला रही है;
क्यों बैठ न जाती इस पर
अपने को थका रही है।"

सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने;
यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
पीयूष सलिल से भरने।

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर।
चिर मुक्त रहे यह निर्भय
स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।"

सब सम्हल गये थे आगे
थी कुछ नीची उतरायी;
जिस समतल घाटी में वह
थी हरियाली से छायी।

श्रम, ताप और पथ पीड़ा
क्षण भर में थे अंतर्हित;
सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तृण वीरुध वाली;
नव कुंज, गुहा गृह सुन्दर
हृद से भर रही निराली।

वह मंजरियो का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली;
प्रतिपर्व सुमन सकुल थे
छिप गई उन्ही मे डाली।

यात्री दल ने रुक देखा
मानस का दृश्य निराला;
खग मृग को अति सुखदायक
छोटा सा जगत उजाला।

मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी;
छोटा सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका रानी।

दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढ़ा गगन में;
कैलास प्रदोष प्रभा में
स्थिर बैठा किसी लगन मे।

संध्या समीप आयी थी
उस सर के, वल्कल वसना;
तारों से अलक गुँथी थी
पहने कदब की रशना।

खग कुल किलकार रहे थे
कलहंस कर रहे कलरव;
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थी तानें अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निर्मल मानस तट में;
सुमनों की अंजलि भर कर
श्रद्धा थी खडी निकट में।

श्रद्धा ने सुमन बिखेरा
शत शत मधुपों का गुजन;
भर उठा मनोहर नभ में
मनु तन्मय बैठे उन्मन।

पहचान लिया था सब ने
फिर कैसे अब वे रुकते;
वह देव-द्वन्द्व द्युतिमय था
फिर क्यों न प्रणति में झुकते।

तब वृषभ सोमवाही भी
अपनी घटा-ध्वनि करता;
बढ़ चला इड़ा के पीछे
मानव भी था डग भरता।

हाँ इड़ा आज भूली थी
पर क्षमा न चाह रही थी;
वह दृश्य देखने को निज
दृग युगल सराह रही थी।

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद-अंबु-निधि शोभन।

भर रहा अंक श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर;
वह पुलक भरी गद्गद स्वर—

बोली—"मैं धन्य हुई हूँ
जो यहाँ भूल कर आयी;
हे देवि! तुम्हारी ममता
बस मुझे खींचती लायी।

भगवति, समझी मै ! सचमुच
कुछ भी न समझ थी मुझको;
सब को ही भुला रही थी
अभ्यास यही था मुझको।

हम एक कुटुम्ब बना कर
यात्रा करने है आये;
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अघ छुट जाये।"

मनु ने कुछ कुछ मुसक्याकर
कैलास ओर दिखलाया;
बोले "देखो कि यहाँ पर
कोई भी नही पराया।

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक [1]हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नही कमी है।

---

१. पाण्डुलिपि में हमी।

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पडा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद् सा रूप बनाये;
नक्षत्र दिखायी देते
अपनी आभा चमकाये।

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम हैं;
सब में घुल मिल कर रस मय
रहता यह भाव चरम है।

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।

सब की सेवा न परायी
वह अपनी सुख ससृति है;
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।

जग ले ऊषा के दृग में
सो ले निशि की पलकों में
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलकों में—

चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा।

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे। 'यह मैं हूँ'
वह विश्व नीड़ बन जाता।"

श्रद्धा के मधु अधरों की
छोटी छोटी रेखाएँ;
रागारुण किरण कला सी
विकसी बन स्मिति लेखाएँ।

वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली;
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की वन बेली!

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा;
जैसे गंभीर महाह्रद
हो भरा विमल जल महिमा।

जिस मुरली के निस्वन से
यह शून्य रागमय होता;
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता।

क्षण भर में सब परिवर्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के
पिंगल पराग से मचले
आनंद सुधा रस छलके।

अति मधुर गंधवह बहता
परिमल बूँदों से सिंचित;
सुख स्पर्श कमल केसर का
कर आया रज से रंजित।

जैसे असंख्य मुकुलों का
मादन विकास कर आया;
उनके अछूत अधरों का
कितना चुंबन भर लाया।

रुक रुक कर कुछ इठलाता
जैसे कुछ हो वह भूला;
नव कनक - कुसुम - रज धूसर
मकरंद जलद सा फूला।

जैसे वनलक्ष्मी ने ही
बिखराया हो केसर रज;
या हेमकूट हिम जल में
झलकाता परछाई निज।

संसृति के मधुर मिलन के
उच्छ्वास बना कर निज दल;
चल पड़े गगन आँगन में
कुछ गाते अभिनव मंगल।

वल्लरियाँ नृत्य निरत थी
बिखरी सुगंध की लहरें;
फिर वेणु रंध्र से उठ कर
मूर्छना कहाँ अब ठहरे।

गूंजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर,
वाणी की वीणा ध्वनि सी
भर उठी शून्य मे झिल कर।

उन्मद माधव मलयानिल
दौडे सब गिरते पड़ते;
परिमल से चली नहा कर
काकली, सुमन थे झड़ते।

सिकुड़न कौशेय वसन की
थी विश्व सुन्दरी तन पर;
या मादन मृदुतम कंपन
छायी सम्पूर्ण सृजन पर।

सुख सहचर दुःख विदूषक
परिहास पूर्ण कर अभिनय;
सब की विस्मृति के पट मे
छिप बैठा था अब निर्भय।

थें डाल डाल में मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर से;
रस भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे धीरे से बरसे।

हिम खंड रश्मि मंडित हो
मणि दीप प्रकाश दिखाता;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता।

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की,
संकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की।

रश्मिया बनी अप्सरियाँ
अंतरिक्ष मे नचती थीं।
परिमल का कन कन लेकर
निज रंगमंच रचती थी।

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास रास मे विह्वल
थी हंसती सी कल्याणी।

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी
लहरो का कोमल नर्त्तन।

प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से;
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।

समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।